कालिदास-काव्यावलोकन –
क्या मौलिक एवं क्या नवीन?

वसन्तकुमार म. भट्ट

संस्कृत साहित्य अकादमी
गांधीनगर

Kalidasa's Kavyavalokan (Critical observations of the poetry of Kalidasa)
Authored by Vasantkumar M. Bhatt
Published by Gujarat Sahitya Academy, Gandhinagar-382017

ISBN : 978-93-88197-36-6

प्रथम आवृत्ति : २०१९

प्रत : ३००

पृष्ठांक : १० + २४३ = २५३

मूल्य : १८० रूप्यकाणि

प्रकाशक :
डॉ. अजयसिंह चौहाण
महामात्र,
संस्कृत साहित्य अकादमी,
अभिलेखागार भवन, सेक्टर-१७,
गांधीनगर - ३८२०१७
दूरभाष : २३२-५६७९७, २३२-५६७९८

आवरण : **केतन राज्यगुरु**, गुरु डिझाइन शोप, वल्लभ विद्यानगर

मुद्रक :
क्रिष्णा ग्राफिक्स
९६६, नारणपुरा गाँव,
नारणपुरा, अहमदाबाद-३८००१३
मो. ९८९८६५९९०२

प्रकाशकीय निवेदन

डॉ. वसन्तभाई भट्ट गुजरात के सुख्यात संस्कृत साहित्य और भाषा के विद्वान् है । कवि कुलगुरु कालिदास की प्रथितयश रचनाओं के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है, और आनेवाले भविष्य में भी लिखा जायेगा । विद्वद् व्यक्तित्व का प्रभाव उनके जीवन और कवन के विशद चिंतन, संशोधन और प्रस्तुति पर शतकों तक रहता है । अनेक दृष्टिकोण से उनके बारे में लेखन का सातत्य रहता है । कवि कुलगुरु की साहित्यसाधना पर वसन्तकुमारजी के लेख भी ऐसी ही परिणति है । संस्कृत साहित्य अकादमी इस पुस्तक का प्रकाशन कर रही है ।

विष्णु पंड्या
अध्यक्ष

प्रकाशकीय निवेदन

हमारे देश की संस्कृति की जड़े अनादि काल से चली आ रही संस्कृत भाषा में लिखे गये शास्त्रग्रन्थ एवं काव्य, नाटकादि के विपुल साहित्य में सुनिहित है। एवञ्च इस भाषा ने ही आधुनिक भारत देश की प्रायः सभी भाषाओं को जन्म दिया है। तथा, उस भाषा में वर्तमान युग में विज्ञान एवं टॅकनॉलोजी के उपकरणादि को यथार्थतया वाचिक अभिव्यक्ति देने की भी सार्वकालिक क्षमता संनिहित है। अतः कहा जाता है कि संस्कृत भाषा की रक्षा से भारतीय संस्कृति की रक्षा भी अपने आप में हो जायेगी। गुजरात संस्कृत साहित्य अकादमी (गांधीनगर) इसी दृढ विश्वास के साथ कृतनिश्चयी बन कर निरन्तर कार्य करती रही है।

आज हर्ष का विषय है कि संस्कृत साहित्य अकादमी ''कालिदास-काव्यावलोकन : क्या मौलिक एवं क्या नवीन ?'' इस शीर्षक से एक शोधमूलक पुस्तक का प्रकाशन कर रही है। संस्कृत साहित्य में कविकुलगुरु कालिदास का स्थान कनिष्ठिका अङ्गुलि पर सर्वप्रथम निश्चित हो जाता है और उनकी तुलना में बैठ सके ऐसा कोई दूसरा कवि अद्यावधि हुआ ही नहीं है– अतः दूसरी अङ्गुलि अनामिका बन कर रह कर गई ! पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितः कालिदासः। अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव ॥ यह हकीकत है, जो सभी साहित्यरसिकों ने स्वीकारी है। किन्तु दो हजार वर्ष पहले हुए इस महाकवि की कृतियाँ अपने मौलिक रूप में हम तक

पहुँची है कि नहीं ? यह सोचना चाहिए। क्योंकि प्राचीन भारत में यान्त्रिक मुद्रणकला का आविष्कार नहीं हुआ था। एवमेव, पश्चिमी जगत् में भी मुद्रणकला का आविष्कार दो सो वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। जिसके कारण बाईबल हो, होमर के काव्य हो या शेक्सपियर के नाटक हो – इन के मूल पाठ का सर्वसम्मत निर्णय लेना आज भी सम्भव नहीं है। कालिदास के काव्य भी इस समस्या से मुक्त नहीं है।अतः प्रॉफेसर भट्ट ने इस पुस्तक में बहुविध ''उपक्रम'' प्रस्तुत किये हैं, जिनसे कालिदास के काव्यों एवं नाटकों का प्राचीनतम एवं सर्वाधिक श्रद्धेय पाठ प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त हो रहा है। एक ओर प्राचीन साहित्य की मौलिकता परखने की समस्या है, तो दूसरी ओर सामान्य व्यक्तियों के मन में ऐसा भी सवाल उठता है कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरादि महामनीषीओं ने कालिदास पर बहुत कुछ लिख दिया है- तो अब नवीन क्या कहा जा सकता है ? प्रॉ. वसन्तकुमार म. भट्ट ने इन दोनों प्रश्नों का समाधान खोजने का यथामति प्रयास किया है। इन उपक्रमों के साथ साथ, उन्होंने नयी पीढी के संस्कृत छात्रों को मार्गदर्शन देने के आशय से, पुस्तक के अन्त में संस्कृत शोध-प्रविधि एवं पाण्डुलिपियों में संचरित हुए परम्परागत ग्रन्थों की पाठालोचना करने की प्रक्रिया भी बताई है। आशा है कि यह पुस्तक, कालिदास के काव्यों का आस्वादन करने से पहले, हमारी क्या इतिकर्तव्यता है उसकी ओर अंगुलिनिर्देश करेगी। एक अभिनव दृष्टि से लिखे गये प्रॉ. भट्ट के पुस्तक का प्रकाशन करते हुए मैं पाठकों को उसके वाचन, मनन एवं परीक्षण के लिए निमन्त्रित करता हूँ ॥

अकादेमी उनकी आभारी है।

डॉ. अजयसिंह चौहान
महामात्र
गुजरात संस्कृत साहित्य अकादमी

मामकीनं निवेदनम्...

कालिदासानुरागियों के करकमलों में ''कालिदास-काव्यावलोकन : क्या मौलिक एवं क्या नवीन?'' नामका ग्रन्थ प्रस्तुत करते हुए मुझे परम हर्ष हो रहा है। महाकवि कालिदास के काव्यों का परिशीलन अनेक विद्वानों ने किया है। संस्कृत साहित्य के शिरोमणि कविकुलगुरु कालिदास के काव्यों का अनुसन्धान, अध्ययन, अनुवाद एवं रसास्वादादि दो सो, ढाई सो वर्षों से समग्र विश्व में निरन्तर होता रहा है। डॉ. सत्यपाल नारंग की कालिदास बिल्लीओग्राफी (१९७५) देखने से उसकी व्यापकता का चित्र स्पष्ट हो जायेगा। एवमेव, काशी के विद्वान् प्रॉफे. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी जी की कालिदास ग्रन्थावली एवं कालिदास-शब्दानुक्रम-कोशः (१९७६ से २०१७) इत्यादि को देखकर भी, सीधा प्रश्न उठाया जा सकता है कि कालिदास के काव्यों पर अब क्या लिखना अवशिष्ट रहा होगा ?। प्रथम दृष्टि में यह बात सही लगती है। लेकिन यह सर्वथा सही नहीं है। इस विषय पर दो विशेष बिन्दुओं को ध्यान में रखना जरूरी है :- (क) प्रशिष्ट संस्कृत-साहित्य में वाल्मीकि, व्यास एवं कालिदासादि ऐसे दिग्-गज कवि हैं कि जिनके काव्य अजर एवं अमर हैं। अतः वे प्रत्येक युग के एवं प्रत्येक भूगोल के प्रत्येक व्यक्ति को हर बार नया अर्थबोध, नया रसबोध कराने में सफल सिद्ध होते हैं। अतः उनके काव्यों का अध्ययन कदापि रुकेगा नहीं। (ख) वर्तमान युग में, कालिदास के जो काव्य प्रकाशित स्वरूप में हमारे हाथों में हैं उनकी तुलना जब उन्हीं काव्यों की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में मिल रहे पाठों के साथ की जाती है, तब उन दोनों के पाठ में भारी अन्तर

दिखता है। जिसके कारण कालिदास के उन काव्यों के ''मौलिक (कविप्रणीत) पाठ'' की गवेषणा करना अतीव आवश्यक एवं प्राथमिक कर्तव्य बन जाता है। भारत में जब यान्त्रिक मुद्रणकला का प्रवेश हुआ तब हमारे पुरोगामी संस्कृतज्ञों ने अपने नजदीक के गाँव-शहरों में से जिस किसी ग्रन्थ की कतिपय पाण्डुलिपियाँ मिल गई, उन्हीं के आधार पर, वे ग्रन्थ प्रकाशित कर दिये हैं। प्रारम्भ काल के प्रायः सभी सम्पादकों ने सारे देश का प्रतिनिधित्व करनेवाली (एवं विदेशों में चली गई) बहुत सारी पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन किये बिना ही कालिदास के काव्यों का प्रकाशन कर दिया है। अतः कालिदास के काव्यों का मौलिक या प्राचीनतम एवं श्रद्धेय पाठ कौन सा है ? वह मुद्दा आज भी अनुपेक्ष्य एवं चर्चास्पद है। क्योंकि बहुविध लिपियों में लिखी गई अनेक पाण्डुलिपियों का तौलनिक अभ्यास करके, तर्कपूत सिद्धान्तों के आधार पर प्राचीन से प्राचीनतर पाठ को खोज कर, बनाई जानेवाली ''समीक्षित आवृत्ति'' के अभाव में, जो भी कृति का साहित्यशास्त्रीय मूल्यांकन या रसास्वाद करवाया जायेगा, वह चिरस्थायी एवं सर्वसम्मत नहीं बन सकता है। अतः संस्कृत की सभी कृतियों की साहित्यालोचना की अपेक्षा से, पाठालोचना के कार्य को ही पुरोगामी बनाना चाहिए। मेरा यह दृढ अभिमत है, जिसको कार्यान्वित करने के लिए मैं कहीं वर्षों से लिखता रहा हूँ। मेरा अनुसन्धान कहता है कि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की पाँचों वाचनाओं के पाठ केवल काश्मीरी रंगावृत्ति की वंशज रंगावृत्तियाँ हैं, और कालिदास के श्रव्यकाव्यों में जो सार्थक पाठान्तर दिखाई रहे हैं - उनके पीछे जिम्मेवार काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में की गई काव्यदोषविमर्श की चर्चाएँ हैं। इस अनुसन्धान को अग्रेसारित करने से हम कालिदास के काव्यों के मौलिक पाठ के नजदीक पहुँच पायेंगे ऐसा मेरा विश्वास है। इति दिक् ॥

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जयिनी के द्वारा प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाले ''अखिल भारतीय कालिदास समारोह'' में मैंने पच्चीस से अधिक वर्षों से निरन्तर उपस्थित रह कर, विभिन्न शोध-आलेख प्रस्तुत किये थे। जिनका राष्ट्रिय कक्षा की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशन हुआ था। (जैसे कि, शोधप्रभा (दिल्ली), द जर्नल ऑफ संस्कृत अकादेमी, हैदराबाद, संबोधि (अहमदाबाद), द जर्नल ऑफ गंगानाथ झा केम्पस, प्रयाग, सागरिका, संस्कृत विमर्श, राष्ट्रिय

संस्कृत संस्थान, दिल्ली इत्यादि । मैं उन सब का आभारी हूँ ।) उनमें से चुने हुए लेखों का यह संग्रह है । यद्यपि मैं ने इन लेखो में व्यापक संमार्जनादि नहीं किया है, किन्तु कुछ विशेष ज्ञातव्य बिन्दु की ओर ईशारा जरूरी किया है । कालिदास-काव्यावलोकन के दौरान क्या मौलिक एवं क्या नवीन ? यह सोचने, समझने के लिए यह लेखसमूह मार्गदर्शक बने यही कामना है ॥

मैं इन आलेखों को लिखने का मौका देनेवाले मेरे सुहृद एवं विक्रम विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति प्रोफेसर डॉ. श्री बालकृष्ण शर्मा जी का इस क्षण हार्दिक अभिनन्दन एवं अभिवादन करता हूँ । एवं कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, नागपुर के कुलपति प्रोफे. डॉ. श्री श्रीनिवास वरखेड़ीजी का भी मैं आभारी हूँ। क्योंकि उन्होंने मुझे ''कालिदास संस्कृत-व्रती'' का पुरस्कार देकर, मेरे शोधकार्य को नवपल्लवित किया है ! मेरे प्रिय श्रीमती वृन्दा का तो मैं सदैव ऋणी हूँ, क्योंकि उनका साथ नहीं होता तो कालिदास-सपर्यासत्र में निरन्तर आना-जाना भी सम्भव नहीं था। मेरा छात्रवृन्द जो कालिदास समारोह में मेरे साथ आता था और उन सब को प्रोत्साहित करने का अवसर मिलता था उनको भी मैं याद करता हूँ। तथैव इस ग्रन्थ को गुजरात संस्कृत साहित्य अकादमी, गांधीनगर की ओर से प्रकाशित करनेवाले महामात्र डॉ. श्री अजयसिंह चौहान का भी मैं आभारी हूँ। इन सब का सर्वविध मंगल हो ऐसी भगवान् महाकालेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥

॥ सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् ॥

वसन्तकुमार म. भट्ट

ए-2, सुरभि एपार्टमेन्ट,
सुभाष सोसायटी, विजय क्रोस रोड,
नवरंगपुरा, अहमदाबाद-380 009
Email : v.k.bhatt53@gmail.com
मो. 9427700064

उपक्रमानुक्रम

उपक्रम-1

रघुवंश में अव्युत्पत्तिकृत दोषयुक्त ६-४९ श्लोक के पाठान्तर की समीक्षा

महाकवि कालिदास-विरचित 'रघुवंश' महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती-स्वयंवर प्रसंग का निरूपण है । अयोध्यापति रघु के पुत्र अज और विभिन्न देशों से आये हुए राजाओं विदर्भनरेश क्रथकैशिक की सभा में उपस्थित हैं । प्रतिहाररक्षी सुनन्दा के द्वारा इन्दुमती को इन राजाओं का क्रमशः परिचय दिया जा रहा है । सुनन्दा शू(सु)रसेनाधिपति सुषेण का निरूपण कर रही है कि - राजा सुषेण के गुणमहिमा से प्राणिओं ने पारस्परिक नैसर्गिक विरोध भी छोड़ दिया है, और उनके प्रासाद में चन्द्रिका जैसी नयनाभिरामकान्ति चमक रही है । इस राजा की रानियाँ जब जलविहार करती है, तब इनके स्तनचंदन यमुना के जल में संमिश्रित होते है । अतः मथुरा तक ही गई हुई यमुना में भी मानों कि (श्वेत) गंगाजल मिला हो, ऐसा आभास होता है ।[१] (६. ४८)

इस सुषेण राजा के वक्षःस्थल पर एक सुन्दर मणि चमक रहा है, जिसके कारण, गरूड से रक्षित किये गये एवं यमुना में निवास करने वाले कालिय नाग के द्वारा दिये गये कौस्तुभमणि को धारण करने वाले विष्णु

---

* कालिदास समारोह (१९-२५ Nov. 1999) उज्जयिनी में प्रस्तुत

१. यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद् वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मधुरां गतापि गंगोर्म्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ रघुवंश (६.४८) सं. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, १९९३ (पृ. १८५)

(पाठान्तर-कृष्ण) भी लज्जा का अनुभव कर रहे है ।[२] (६.४९) अतः हे सुन्दरि ! इस युवान राजा को भर्ता के रूप में पसंद करके तुम (स्वर्गलोक के) चैत्ररथ नामक उपवन से तनिक भी न्यून नहीं ऐसे उनके वृन्दावन में यौवनश्री का उपभोग करले ।[३] (६.५०) तथैव उन (वृन्दावन) के पास में गोवर्धन पर्वत की कन्दराओं में वर्षाकाल में मयूरों के नर्तन भी देखो ।[४] (६.५१)

०.१ टीकाकार मल्लिनाथ द्वारा व्याख्यात रघु. ६.४९ श्लोक के चतुर्थ चरण में 'सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्' ऐसा पाठ मिलता है । परंतु रघुवंश की अन्य आवृत्तियों में 'विष्णुम्' ऐसा भी पाठ दिखाई देता है । साहित्य अकादेमी, दिल्ली ने १९९३ ई.स. में रघुवंश की समीक्षित आवृत्ति प्रकाशित की है, जिसका पाठसम्पादन कालिदास के धुरन्धर पाठालोचक डो. रेवाप्रसाद द्विवेदी जी (काशी) के समर्थ हाथों से हुआ है । इस समीक्षितावृत्ति में पं. रेवाप्रसाद जी ने 'कृष्णम्' शब्द को, पाठान्तर के रूप में, टिप्पणी में दिया है, और 'विष्णुम्' शब्द को मूल पाठ के रूप में स्वीकारा है । प्रस्तुत लेख में, 'कृष्णम्' एवं 'विष्णुम्' जैसे द्विविध पाठों में से कौन सा पाठ मौलिक हो सकता है उसकी चर्चा करना अभीष्ट है । बहुसङ्ख्य पाण्डुलिपियों का साक्ष्य, टीकाकारों द्वारा समादृत पाठ, कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना और कवि की निरूपण शैली जैसे चतुर्विध दृष्टिकोण से इस प्रश्न की चर्चा की जायेगी ।

१.०. आनन्दवर्धन ने प्रसिद्ध इतिवृत्त में से रसनिष्पति के लिए जो प्रतिकूल परिस्थितियाँ हो उसका त्याग करके, आवश्यकतानुसार अभीष्ट रसोचित कथांश की उत्प्रेक्षा करके वस्तुगुम्फन करना चाहिए ऐसी सूचना दी है ।[५] इस पर अभिनवगुप्त ने कहा है कि इतिहास तो कथा के आश्रयस्थान होते हैं और ऐसी ऐतिहासिक कथा के साथ स्वेच्छाचार नहीं करना चाहिए । कदाचित् स्वेच्छा से कोई योजना की जाय तो वह प्रसिद्ध रस के विरुद्ध नहीं होनी

---

२. त्रातेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः । वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव विष्णुम् (६-४९)

३. संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवलोत्तरपुष्पशय्ये । वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्दिश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः (६-५०)

४. अध्यास्य चाम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयनद्धानि शिलातलानि । कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्तं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु (६-५१)

५. इतिवृत्तशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम् । उत्प्रेक्ष्योप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः । ध्वन्यालोकः (३-११)

चाहिए ।[६]

आनन्दवर्धन ने, अन्यत्र एक परिकर श्लोक को उद्धृत करके कहा है कि यदि कवि के द्वारा अव्युत्पतिकृत दोष हो जाता है, तो वह प्रतिभा से संवृत्त हो जाता है । किन्तु प्रतिभा की न्यूनता के कारण यदि कोई दोष होता है तो वह तुरंत ही रसिकजनों को दिखाई देता है ।[७]

इस पर 'लोचन' में लिखा है कि – (काव्यरचना में) उपयुक्त होने वाली समस्त कथावस्तु में पौर्वापर्य का परामर्शन करने का जो कौशल, उसी को ''व्युत्पत्ति'' कहते है ।[८] अर्थात् ऐतिहासिक कथा अपने निश्चित क्रम में निरूपित होती है या नहीं–? इस विषय में कवि की जो सतर्कता है उसी को ''व्युत्पत्ति'' कहते है ॥

१.२. अब 'रघुवंश' में ऐतिहासिक वस्तु के निरूपण में महाकवि कालिदास की कलम किस तरह प्रवर्तित हुई है उसका परीक्षण किया जाता है **:** रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में रघुदिग्विजय का वर्णन है । उस में वङ्ग (४.३६), कलिङ्ग (४.४०), केरल (४.५४), पारसीक (४.६०) और हूण (४.६८), इत्यादि देशों एवं राजाओं को पराजित करने का उल्लेख है । स्वाभाविक रूप से यहाँ प्रश्न होता है कि पारसीक या हूण जैसे अर्वाचीन राजा या प्रजा का निर्देश राम के प्रपितामह रघु के जीवनकाल में कैसे किया जा सकता है ? (यद्यपि विद्वान् लोग हूण प्रजा के इस उल्लेख के आधार पर कालिदास का समय निश्चित करने का प्रयास करते हैं ।) अतः कवि ने यहाँ जो इतिहास प्रसिद्ध इतिवृत्त में कालव्युत्क्रम करके, अतीत के रघुदिग्विजय प्रसंग में जो अर्वाचीन राजाओं का निर्देश किया है उसमें, आनन्दवर्धन के शब्दों में, अव्युत्पत्तिकृत दोष हो रहा है – ऐसा कहा जा सकता है । किन्तु यहाँ पर महाकवि की प्रतिभा से उस दोष का संवरण हो जाता है, इसलिए ही इस

६. कथानामाश्रया इतिहासाः, तैरितिहासार्थैः सह स्वेच्छा न योज्या । कथञ्चिद्वा यदि योज्यते तत्तत्प्रसिद्धरसविरुद्धा न योज्या । –ध्वन्यालोकः (पृ. २३२)

७. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झटित्येवाव–भासते ॥–ध्वन्यालोकः । (पृ. २२०) सं. तपस्वी नान्दी, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, १९९७

८. व्युत्पत्तिस्तदुपयोगिसमस्तवस्तुपौर्वापर्यपरामर्शकौशलम् ॥–ध्वन्यालोकः (३) पृ. २२०

दोष की ओर किसी का भी ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ है ।

इसी तरह इन्दुमती – स्वयंवर वर्णन में भी कवि ने षष्ठ सर्ग में, सुषेण राजा की परिचयविधि में जो मथुरा, कृष्ण, वृन्दावन और गोवर्धन का उल्लेख किया है उसमें स्पष्टरूप से कालव्युत्क्रम किया है । यहाँ जो प्रसिद्ध पौराणिक कालानुक्रम है, तदनुसार पहले त्रेतायुग में रामावतार हुआ था और बाद में द्वापरयुग में कृष्णावतार हुआ था । अतः जब राम के पितामह अज के स्वयंवराभिगमन की बात चल रही हो वहाँ पर, उत्तरवर्ती काल में होने वाले कृष्ण का (उपमान के रूप में) उपयोग कैसे किया जा सकता है ? यद्यपि कवि की प्रतिभा से इस अव्युत्पत्तिकृत दोष का संवरण हो जाता है, तथापि रामावतार और कृष्णावतार का (पुराणप्रसिद्ध) पौर्वापर्य यदि हमें मान्य है, तो यह अव्युत्पत्तिकृत दोष अन्यथासिद्ध नहीं हो सकता ।

अब, महाकवि कालिदास कुत्रचित् कालव्युत्क्रम करके भी कथा निरूपण करते हैं, इस सिद्ध हकीकत को स्मरणपट में रखकर, 'रघुवंश' ६.४९ श्लोक में 'कृष्णम्' एवं 'विष्णुम्' जैसे द्विविध पाठ में से कौन सा पाठ मौलिक हो सकता है ? उसकी चर्चा की जायेगी ।

२.० किसी काव्यपंक्ति के एक–दो शब्द में एकाधिक पाठान्तर मिलते हो, तब पाठालोचन की प्रक्रिया में निम्नोक्त दो में से एक मार्ग का अनुसरण किया जाता है **:**–

(१) उपलब्ध पाण्डुलिपियों (मातृकाओं) में से प्राचीनतम पाण्डुलिपि में कौन सा पाठ मिलता है, उसको स्वीकारा जाय ।

अथवा

(२) उपलब्ध पाण्डुलिपिओं में से बहुसंख्य पाण्डुलिपियों में जो पाठ मिलता हो, उसको मौलिक पाठ मानकर, उसकी स्थापना की जाय ॥

अतः रघुवंश ६–४९ में कृष्णम् एवं विष्णुम् जैसे द्विविध पाठान्तरों में से, पाण्डुलिपियों का साक्ष्य कौन से पाठ की ओर पक्षपाती है – इसी बात का पर्यालोचन करना चाहिए, यही हमारा प्राथमिक कर्तव्य है ॥

२.१ पं. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित रघुवंश (प्रका. साहित्य अकादमी, दिल्ही, १९९३) की सर्वोत्कृष्ट समीक्षित आवृत्ति में प्रस्तुत

६.४९ श्लोक इस तरह का दिया है –

त्रातेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।

वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव विष्णुम् ॥

(क) यहाँ 'विष्णुम्' पाठ का समर्थन करने वाली पाण्डुलिपियाँ इस प्रकार की है :-

(१). ला. द. पुरातत्त्व विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में संगृहीत

(1) MS. No. 18010

(2) MS. No. 11907

(3) MS. No. 18034

(4) MS. No. 22555

(२) हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानामन्दिर, पाटण (उत्तर गुजरात) में संगृहीत एक प्रति (जिसका क्रमांक नहीं दिया है)

(३) एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में सुरक्षित

(6) MS. No. G. 3444

(7) MS. No. G. 9352

(ख) तथैव जिन प्राचीन टीकाकारों ने 'विष्णुम्' पाठ स्वीकारा है, वह इसका प्रकार है :-

(1) V- वल्लभदेव

(2) HM- हेमाद्रि

(3) SU- सुमतिविजय (नन्दर्गीकर की आवृत्ति में)

(4) DM- दिनकर (नन्दर्गीकर की आवृत्ति में)

(5) VIJ- विजयगणि (नन्दर्गीकर की आवृत्ति में)

(6) VIJA- विजयानन्द सूरि के शिष्य (नन्दर्गीकर की आवृत्ति में)

इन सात पाण्डुलिपियों और षट् टीकाकारों के साक्ष्य के सामने केवल दो ही पाण्डुलिपि और दो ही टीकाकार ऐसे है जिन्होंने 'विष्णुम्' के स्थान पर 'कृष्णम्' पाठ माना है । वह इस तरह है :-

(ग) १. भारत कला भवन, बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी वाराणसी में संगृहीत पाण्डुलिपि MS. NO. 3863

२. एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में संगृहीत MS. NO. G. 6073

इन दोनों के साथ, सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ[९] एवं जिनसमुद्र[१०] ने ''कृष्णम्'' पाठ का समादर करके ६.४९ श्लोक की व्याख्या की है ।

इस तरह, उपलब्ध नव पाण्डुलिपियों में से सात पाण्डुलिपियाँ और आठ टीकाकारों में से छः टीकाकार 'विष्णुम्' पाठ को स्वीकार करते हैं । तथा कालानुक्रम की दृष्टि से देखें तो मल्लिनाथ (इ.स. १४००) की अपेक्षा से प्राचीनतर टीकाकार वल्लभदेव (इ.स. १२००) है, और वल्लभदेव ने भी 'विष्णुम्' पाठ ही स्वीकारा है ।[११]

यहाँ पर पाण्डुलिपियों का संख्याबाहुल्य और प्राचीनतर टीकाकार का अनुमोदन – इन दो कारणों को देखते हुए कोई भी पाठसंपादक 'कृष्णम्' और विष्णुम् जैसे द्विविध पाठान्तर में से 'विष्णुम्' पाठ को ही मौलिक पाठ मान ले यह स्वाभाविक है । परन्तु पाठालोचन की प्रक्रिया में उपर्युक्त दो कारण ही अंतिम निर्णायक नहीं हो सकते । विभिन्न पाठान्तरों में से कौन सा पाठ अनुलेखनीय सम्भावना युक्त है, और आंतरिक सम्भावना युक्त है ? – यह भी समीक्षणीय होता है ।

३.० पाठालोचन की प्रक्रिया में एकाधिक सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है तब उनके बीच बलाबल भाव का भी विचार करना चाहिए । इस दृष्टि से देखें तो – बहुसंख्य पाण्डुलिपियों का पक्षपात और प्राचीनतर टीकाकार का साक्ष्य जो भी कहता हो, लेकिन कृति के कथाप्रवाह, विचार-प्रवाह में पूर्वापर संदर्भ के साथ जो पाठ ज्यादा सुसंगत दिखाई देता हो, और आनुषंगिक तथा कवि की विदित शैली के अनुरूप हो ऐसा पाठ ही मौलिक पाठ होने

---

९. The Raghuvaṃśa of Kalidasa (With Mallinatha); Ed. G.R. Nandargikar, Motilal Banarasidass, Delhi, 1982 (P. 175)

१०. Jinasamudra's Commentary on The Raghuvaṃśa of Kalidasa, Ed. T.S. Nandi, Pub. Gujarat Sahitya Akadamy, Gandhinagar, 1989, (P. 79)

११. वल्लभदेवकृत ''रघुवंश पज्जिका'' टीका का समीक्षित पाठसम्पादन – डॉ. अर्पिता पटेल, Ph.D. Thesis Unpublished, Gujarat University, 1998 (P. 179)

का दावा बलवत्तर रूप से कर सकता है । इस दृष्टि से रघुवंश ६.४९ में 'कृष्णम्' और 'विष्णुम्' इन दो पाठान्तरों का विचार करना आवश्यक है ।

३.१ सकौस्तुभं ह्रेपयतीव विष्णुम् । (६.४९) पंक्ति में 'विष्णुम्' के स्थान पर 'कृष्णम्' पाठ ही मौलिक प्रतीत होता है । क्योंकि यही पाठ आंतरिक संभावना पूर्ण लगता है । एवं कवि कि विदित निरूपणाशैली में से अवतरित हुआ दिखाई देता है । अतः समीक्षित आवृत्ति में कृष्णम् पाठ की ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए ।

यद्यपि 'सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्' इस पंक्ति में, कौस्तुभ मणि का जो उल्लेख है उसके साहचर्य में तो 'विष्णुम्' पाठ ही सुसंगत लगता है । लेकिन समग्र कथा-प्रवाह का पूर्वापर संदर्भ हम देखें तो - धात्री सुनन्दा इन्दुमती को एक एक करके सभी राजाओं का परिचय दे रही है । उसी सिलसिले में मथुरा के अधिपति सुषेण का ऐश्वर्य, ६.४८ से ५१ श्लोकों में, बताया जा रहा है :- जिसमें -

(१) कलिन्दकन्या **मथुरां** गतापि ----- (६-४८ C),

(२) सकौस्तुभं ह्रेपयतीव **कृष्णम्** । ----- (६-४९ D),

(३) **वृन्दावने** चैत्ररथादनूने ----- । (६-५० C), और

(४) कान्तासु **गोवर्ध**नकन्दरासु ----- । (६-५१ D),

इस प्रकार के आनुक्रमिक सन्दर्भो को देखने पर ६-४९ में 'विष्णुम्' के स्थान पर, 'कृष्णम्' ऐसा पाठ ही मौलिक होने की आंतरिक सम्भावना प्रबल हो जाती है ।

३.२. विशेष में ६.४९ श्लोक की प्रथम की पंक्तियाँ भी ध्यानास्पद है :

त्रातेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव विष्णुम् ॥

(यहाँ पर 'त्रातेन' के स्थान पर त्रस्तेन, और विष्णुम् के स्थान पर कृष्णम् ऐसा पाठान्तर मिलता है।) इस श्लोक में यदि **कालिय** नाग का उल्लेख न होता तो, समुद्रमंथन से प्राप्त कौस्तुभमणि का 'विष्णुम्' पद के साथ सम्बन्ध

जोडा जा सकता था । परंतु जब श्लोक के पूर्वार्ध में **कालिय** नाग का ही उल्लेख है तब तो कृष्णम् ऐसे पाठान्तर के साथ ही संगति ज्यादा दिखाई देती है ।

संक्षेप में कहे तो ६-४८ से ५१ के श्लोक-समुदाय और ६-४९ की प्रारंभिक दो पंक्तियाँ का पूर्वापर सन्दर्भ देखने पर, 'विष्णुम् के स्थान पर 'कृष्णम्' पाठ होने की आंतरिक सम्भावना दृढ हो जाती है ॥

३.३. महाकवि कालिदास ने रघुवंश में दो स्थान पर (चतुर्थ एवं षष्ठ सर्ग में) ऐतिहासिक कथांशो में काल-व्युत्क्रम करके, अर्वाचीन सामग्री का विनियोग किया है यह निर्विवाद है । रघुवंश के वर्णन के दौरान जब रामावतार भी नहीं हुआ है, वहाँ पर कृष्णावतार के मथुरा, कालियनाग (कृष्ण) वृंदावन और गोवर्धनपर्वत जैसे सन्दर्भ अज इन्दुमतीस्वयंवर प्रसंग में कैसे प्रयुक्त हो सकते हैं ? इसी को ध्वन्यालोक में अव्युत्पत्तिकृत दोष कहा गया है । अब, कवि की निरूपण शैली इस तरह विदित हुई है तो, उसकी पृष्ठभूमि में देखा जाय तो 'विष्णुम्' के स्थान 'कृष्णम्' पाठ मौलिक होने की सम्भावना दृढ़तर बनती है ॥

४.०. महाकवि कालिदास के निरूपण में कुत्रचित् (एव) अव्युत्पत्तिकृत दोष हुआ है, इसकी ओर भूतकाल के साहित्यरसिकों में से किसी का भी ध्यान आकृष्ट न हुआ हो ऐसा तो सम्भव नहीं है । कतिपय टीकाकार अवश्य है जिनका इसकी ओर ध्यान गया है । लेकिन यह बात उनके असम्प्रज्ञात मन में उद्भुत हुई है, और ''स्थितस्य गतिनिश्चिन्तनीया'' वाली भारतीय संस्कारिता ने उनके पास (पाठान्तरों की उद्भावना रूप) रूपान्तर ढूंढने का प्रयास करवाया है ।

४.१. कलिन्दकन्या मथुरां गतापि. । ६-४८ पर हेमाद्रि लिखते है कि -- कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यत इति वक्ष्यति (१५-२८ पद्ये) तत्कथमधुना मथुरासम्भव इति चिन्त्यम् । मथुरा मधुरा पुरीति शब्दभेदप्रकाशे ।[१२]

---

१२. रघुवंशदर्पणः । सं. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका. काशीप्रसाद जयस्वाल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पटना, १९७३ (पृ. १४२)

अर्थात् शत्रुघ्न ने लवणासुर को मार कर मथुरा (या मधुरा) नगरी का निर्माण करवाया था ऐसा कवि रघु. १५-२८ श्लोक में कहने वाले है। इस स्थिति में ६.४८ के अंदर जब इन्दुमती स्वयंवर प्रसंग चल रहा है वहाँ 'मथुरा' का उल्लेख साहित्यरसिक को बाधा उत्पन्न करने वाला है । परंतु ''स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'' वाली भारतीय परम्परा ने 'मथुरा' एवं मधुरा यह दोनों ही नगरियाँ भिन्न है ऐसा कह कर, कवि के अव्युत्पत्तिकृत दोष को संगोपित करने का प्रयास किया है ।

४.२. ''सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्'' में भी जिस टीकाकार एवं पाण्डुलिपि का प्रतिलिपीकरण करनेवाले लेखक के असम्प्रज्ञात मन में, रामावतार से पूर्व, अज स्वयंवर प्रसंग में, कृष्ण का उपमान के रूप में प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? ऐसा प्रश्न उद्भूत हुआ होगा, उसी व्यक्ति ने 'त्रस्तेन' के स्थान पर 'त्रातेन' तथा 'कृष्णम्' के स्थान पर 'विष्णुम्' जैसे पाठान्तर को जन्म दिया होगा । अनुलेखन के द्वारा पाठ-संक्रमण के इतिहास में, किस निश्चित समयबिन्दु पर पाठान्तरों का जन्म हुआ होगा यह कहना सम्भव नहीं है । परंतु कवि की निरूपण शैली में जो अव्युत्पत्तिकृत दोष प्रतिबिम्बित हो रहा है, उसी को निर्मूल करने के लिए ऐसे पाठान्तर उद्भावित किये गये है यह निःसंशय है । (अथवा केवल 'सकौस्तुभं' शब्द की ओर ध्यान केन्द्रित हो जाने से 'कृष्णम्' के स्थान पर 'विष्णुम्' की कल्पना की गई होगी !) और जिन टीकाकार ने, उदा. मल्लिनाथ ने 'कृष्णम्' ऐसे मौलिक पाठ को परिवर्तित करना उचित नहीं समझा है, उसने कृष्णम् का विष्णुम् ऐसा शब्दान्तर देकर अपनी व्याख्या को आगे बढ़ा दी है । यहाँ पर श्री नन्दर्गीकर का मल्लिनाथ के लिए जो अभिप्राय है कि ''मल्लिनाथ मौलिक पाठ को सुरक्षित रखने की प्रामाणिकता विशेष रूप से बताते है'' वह स्मरणीय है ।[१३]

४.३ पं. रेवाप्रसाद द्विवेदी जी द्वारा संपादित कालिदास ग्रन्थावली (द्वितीयावृत्ति १९८६) में. पृ. १९२-१९३ पर लिखा है कि ''सूच्यम अ.ना.

१३. I think Mallinātha is the only commentator who shows a strong inclination to preserve as far as he could and appreciate the oldest and therefore most probably the original readings of the poet himself -The Raghuvansha of Kalidasa, ed. by Gopal R. Nandargikar. Motilal Banarasidas, Delhi, 1982 (Fifht Edition) (Critical Notice. p. 39)

पदमिदं न पठतः ॥ ''अर्थात् अरुणगिरिनाथ एवं नारायण पण्डित जैसे दो टीकाकार ने तो --- सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् (६-४९) वाला श्लोक उद्धृत ही नहीं किया है । यह बात भी अतीव सूचक एवं ध्यानास्पद है । सम्भव है कि कवि का अव्युत्पत्तिकृत दोष इन टीकाकारों को अक्षम्य लगा हो, अतः उन्होंने ''यह श्लोक कालिदास की रचना ही नहीं है'' ऐसा मानना उचित माना होगा । यद्यपि उन्होंने मथुरा (६.४८) वृन्दावन (६.५०) और गोवर्धन ६.५१) के सन्दर्भवाले श्लोक की ओर ध्यान दिया होता तो इन दो टीकाकारों ने भी ६.४९ को कवि की ही रचना मानकर स्वीकार किया होता।

५.०. उपर्युक्त समग्र चर्चा से हम जो निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह इस प्रकार है :- रघुवंश की बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों का साक्ष्य और प्रायः सभी टीकाकारों के द्वारा समादृत पाठ भले ही 'विष्णुम्' हो, परंतु कृतिनिष्ठ आंतरिक सम्भावना वाला पाठ तो 'कृष्णम्' ही प्रतीत होता है । तथा आनुषंगिक रूप से यह भी उल्लेखनीय है कि 'रघुवंश' में, कवि ने, दो स्थानों पर अव्युत्पतिकृत दोष करके प्रसंग वर्णन किया है - उस विहित निरूपण शैली को देखते हुए भी 'कृष्णम्' ऐसा पाठ ही मौलिक पाठ हो सकता है ऐसा कहना ही पड़ेगा ॥

* * *

विशेष ज्ञातव्य: - पं. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने अपने ''कालिदास : अपनी बात'' (२००४) ग्रन्थ के (पृ. ६८ पर) मेरे उपर्युक्त मत का अस्वीकार किया था । किन्तु उन्होंने कुछ अन्य तर्क से प्रेरित हो कर 'कालिदासग्रन्थावली' (हिन्दी अनुवादसहित, उज्जयिनी, २००८) में ''कृष्णम्'' पाठान्तर को ही मौलिक पाठ के रूप में स्वीकार लिया है ।

उपक्रम-2

काव्यदोष-विमर्श के आलोक में कालिदासीय काव्यों में पाठान्तर और क्रमभेदादि की विचारणा

ईसा पूर्व ३०० शती के भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथादि सभी अलंकारशास्त्रीयों ने अपनी अपनी दृष्टि से दोष-विमर्श किया है। इस संदर्भ में, यह तथ्य भी ध्यानास्पद है कि भामह से आरंभ करके सभी आलंकारिकों ने दोष-विमर्श के अनुसन्धान में उदाहरण प्रस्तुत करते समय कालिदास के काव्यों का भी विनियोग किया है। अथवा कहो कि - कविचक्रचूडामणि कालिदास के काव्यों को भी दोषमुक्त नहीं देखा है।

काव्यों में, वह भी महाकवि के काव्यों में दोष-दर्शन करने के अनिवार्य उत्साह का कारण यही था कि उन मनीषियों ने सौन्दर्य को ही अलंकार माना था, या रस निष्पत्ति को ही काव्य का चरम लक्ष्य माना था। अतः काव्यास्वाद की क्षण में जो जो सौन्दर्य-विघातक या रसापकर्षक तत्त्व थे इन सब को काव्यदोष के रूप में पहेचान लिये गये। और महाकवि कालिदास जैसे सिद्धहस्त कवि के काव्यों में भी अज्ञात स्वरूप से कहीं कहीं पर अनवधानप्रयुक्त दोष अन्तर्निहित हो सकते हैं - यह दिखला कर कविशिक्षा के रूप में यह सूचित किया गया कि इनसे बचना चाहिये। महिम भट्ट कहते है कि जो नये कविवर्त्मारुरुक्षु है उसके लिये मेरा यह दोष-विमर्श एक प्रकार के अनुशासन के रूप में सिद्ध होगा ॥

प्रस्तुत आलेख में, भरत-भामहादि अलंकारशास्त्रीयों ने दोष-विमर्श के दौरान कालिदास के काव्यों में कहाँ कहाँ, कैसे कैसे दोष दिखलाये हैं - उसका

निरूपण करना अभीष्ट नहीं है। क्योंकि अलंकारशास्त्र के अभ्यासीयों के लिये तो वह चर्वितचर्वण ही सिद्ध होगा। परंतु जो अलंकारशास्त्र के अभ्यासी हो या न भी हो, लेकिन कम से कम जो कालिदाससाहित्य के अनुरागी भी है और उसके काव्यों के पाठ की दुर्दशा से चिंतित है उनके लिये एक ध्यानाकर्षक विचार प्रस्तुत करने का यहाँ उपक्रम रखा है ॥

(१) यद्यपि दोष-विमर्श की चर्चा का आरंभ तो भरत मुनि से हुआ था तथापि उपर्युक्त भूमिका के उपलक्ष्य में महिम भट्ट के विचारों से इस विषय में प्रवेश करना उचित होगा। आनन्दवर्धन के अभिव्यक्तिवाद का खंडन करने के लिए और अपना अनुमितिवाद प्रस्थापित करने के लिए, आचार्य महिम भट्ट ने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में पाँच प्रकार के दोष गिनाये हैं और इन पाँचों दोषों के उदाहरण कालिदास के काव्यों में से ढूँढ कर दिखलाए हैं। १. प्रथम दोष विधेयाविमर्श नाम का है। किसी भी वाक्य में कोई एक अंश उद्देश्य होता है और दूसरा अंश विधेय होता है। परंतु कदाचित् कोई वाक्य में विधेय क्या है यही बात समझ में नहीं आती है। यथा -

प्रजानाम् एव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिम् अग्रहीत् ।
सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः ॥ रघुवंशम् -१ ।१८

अर्थात् - ''प्रजा की भूति कि लिए उसने (दिलीप ने) उन(प्रजा)से बलि-ग्रहण किया।''- इस श्लोक में बलि-ग्रहण की बात मुख्य रूप से प्रतीति का विषय बनती है, जो कवि का कथयित्व नहीं था। कवि जो कहना चाहते थे वह तो यह है कि दिलीप ने बलि का ग्रहण, प्रजा की भूति के लिए किया। यहाँ (प्रजा की) भूति विधेय रूप होनी चाहिए, लेकिन कवि ने उसका स्पर्श ही नहीं किया है। अतः यहाँ विधेयाविमर्श नामक दोष प्रविष्ट होता है।

ऐसी स्थिति में महिम भट्ट ने कालिदास के इस दुषित पद्य को निर्दुष्ट करने के लिए एक नया पाठान्तर सूचित किया है - बलिं प्रजाभ्यो जग्राह, स तासामेव भूतये। (व्यक्तिविवेकः २, पृ. २१५) उस (दिलीप)ने प्रजा से बल-ग्रहण किया, लेकिन उनकी भूति के लिये ही ॥

***

महिम भट्ट ने जो दोष-विमर्श प्रस्तुत किया था उससे बहुत कुछ सिख कर मम्मटाचार्य ने भी बड़े विस्तार से दोष-विर्मश किया है। उन्हों ने बताया

है कि – समास करने से कदाचित् विधेयांश गौण हो जाता है, उसे अविमृष्टविधेयांश दोष कहते है । यथा – कुमारसम्भव के निम्नोक्त दो पद्यों में हुआ है :-

वपुर्विरूपाक्षम्, अलक्ष्यजन्मता, दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥

कु. ५।७२

यहाँ पर जन्म का अलक्षित होना वह विधेय है, परंतु अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि करने से अर्थात् अलक्ष्यम् अज्ञातं जन्म यस्य सः – अलक्ष्यजन्मा, तस्य भावस्तत्ता, इति अलक्ष्यजन्मता– इस रूप में तद्धित प्रत्ययार्थ की प्रधानता बनाना उचित नहीं है । अतः यहाँ वपुः और वसु के साथ अलक्ष्यता जनिः – ऐसा पाठभेद करने से ही वह दोष निर्मूल हो सकेगा ॥ उसी तरह से –

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥

(कु. ३।५५)

अर्थात् – ''केसर की माला नितम्ब से बार बार खिसकती जाती थी और उसे वह पकडे हुये थी । वह काञ्ची ऐसी लगती थी कि काम के धनुष की प्रत्यञ्चा हो और उसे उसने धरोहर के रूप में रख दिया हो उचित स्थान समझ ॥'' यहाँ पर ''द्वितीयमौर्वीम्'' ऐसा समास करने से भी अविमृष्टविधेयांश दोष हुआ है । इस की निवृत्ति करने के लिए ''मौर्वीम् द्वितीयाम्'' – ऐसा पाठभेद करना आवश्यक है । यहाँ मौर्वी के विशेषण रूप में ''द्वितीया'' का विधेय दल में पृथक् उपादान अपेक्षित है । अतः आचार्य मम्मट ने पूर्वोक्त नवीन पाठ सूचित करके, इस दोष को निर्मूल करने का सुझाव दिया है ॥

(२) महिम भट्ट ने प्रक्रमभेद नामक जो दूसरा दोष बताया है वह भी वाक्यगत होता है और वह अनंत प्रकार से आकारित होता है । उसका उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल से प्रस्तुत किया है:-

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदम् अयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु ।
विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥

(शाकु. ३।३)

यहाँ पर कवि ने प्रथम पाद में उद्देश्य का क्रम १. कामदेव का कुसुमबाण और २. इन्दु शीतरश्मित्व रखा है । परंतु प्रतिनिर्देश्य के रूप में श्लोक की तीसरी – चौथी पंक्ति में ३. इन्दु के किरण और ४. कुसुम के बाण – ऐसा क्रम रखा है, जो स्पष्ट रूप से प्रक्रमभङ्ग दोष कहा जायेगा । इस दोष की निवृत्ति के लिये शाकुन्तल के टीकाकार राघव भट्ट ने कहा है कि – तीसरे–चौथे चरणों में प्रतिनिर्देश्य का क्रम बदल के नयी तरह से पढ़ना चाहिये–

त्वमिह कुसुमबाणान् वज्रसारान् विधत्से,
विसृजति स च वह्निं शीतगर्भैर्मयूखैः ॥ – इति वा पाठः ।

ऐसा करने से प्रथम पंक्ति में आये दो उद्देश्यों के क्रम में दो प्रतिनिर्देश्य आ जायेंगे । राघव भट्ट ने यह भी कहा है कि – अत्र च पाठे शीतपदोपादानाद् उद्देश्य – प्रतिनिर्देश्ययोर् एकपदोपादान–लक्षणो गुणः ॥ (राघवभट्टस्य टीका– पृ. ८६) अर्थात् प्रथम पंक्ति में शीतरश्मि कहने के बाद चतुर्थ पंक्ति में भी शीतगर्भैः (मयूखैः) –ऐसा पद रखने से दोनों पंक्तिओ में समत्व का एक विशेष गुण भी आ जायेगा ।

(३) महिम भट्ट ने तृतीय दोष के रूप में क्रमभेद को प्रदर्शित किया है । यद्यपि यह दोष प्राथमिक दृष्टि से पदार्थ–दोष के रूप में प्रतीत होता है, किन्तु महिम भट्ट कहते है कि यह भी वक्ता के अभिप्राय के साथ जूडा होने से अन्तरङ्ग वाक्यार्थ दोष की पंक्ति में गिनाया है ।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां, समागम-प्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

(कुमार. ५/७१)

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में जो दूसरा चकार आया है उसमें भिन्नक्रमत्व का दोष है, जो त्वम् पद के बाद आना चाहिये । अर्थात् – कला च सा कान्तिमती कलावतस् त्वं चास्य लोकस्य नेत्रकौमुदी । ऐसा पाठ होने पर दो चकारों का क्रम उचित प्रतीत होता है ॥

(४) व्यक्तिविवेक में चौथा दोष पौनरुक्त्य नाम का बताया गया है। महिम भट्ट उसको आर्थ ही कहना पसंद करते है । (अर्थात् अर्थभेद होने पर

केवल शब्द की पुनरुक्ति में कोई दोष नहीं होता है ।) महाकवि कालिदास के काव्य में यह दोष भी कुत्रचित् पाया जाता है ।

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा, यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥
(रघु. ३।२३)

अर्थात् - जिस प्रकार पार्वती और शिव कार्तिकेय से, इन्द्राणी और इन्द्र जयन्त से, उसी प्रकार उनके समान राजा (दिलीप) और मागधी (रानी सुदक्षिणा) उनके समान उस पुत्र से प्रसन्न हुए ॥ यहाँ पर - यथा, यथा के साथ तीसरा जो सदृशेन शब्द आया है उसमें पुनरुक्ति दोष है ॥ अतः इस दोष को हटाने के लिये - महिम ने सुजन्मना तेन सुतेन तावुभौ ननन्दतुः सा च विशांपतिश्च सः ॥ ऐसा पाठान्तर करने का सूचन किया है ॥

(५) महिम भट्ट ने पाँचवाँ वाच्यावचन नामक दोष कालिदास के निम्नोक्त पद्य में प्रदर्शित किया है :-

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ (रघुवंशम् १।१२)

यहाँ (तीसरे चरण में) श्लेष के स्थान पर रूपक दिया गया है । और अंत में उपमानुरागी कवि ने उपमा ही मढ दी । किन्तु राजेन्दु शब्द से जो अवश्यवचनीय श्लेष था, उसका कथन अवशिष्ट ही रह गया - इस लिए यहाँ वाच्यावचन दोष होता है ।

* * *

(६) महिम भट्ट का जो दोष-विमर्श है उसका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने सूचित किये नवीन पाठान्तर से, कैसे इन दोषों को हटाया जा सकता है वह भी उन्होंने दिखलाया है । क्योंकि अपनी ओर से बिना कोई नये सुझाव का दोष-दर्शन करवाना उचित नहीं है ।

अतः महिम भट्ट ने दोष दिखाने के उपरांत, प्रायः सर्वत्र निर्दुष्ट हो ऐसे नये पाठ की प्रकट रूप से उपस्थापना भी की है । ऐसी पाठालोचना कालिदास के लिये किसी भी तरह से हानिकारक नहीं थी । क्योंकि महिम भट्ट ने जो किया है वह अपने नाम से किया है, उसमें कुछ छिपाने की बात नहीं थी या भविष्य के पाठक को गुमराह करने की कोई प्रवृत्ति नहीं थी ।

लेकिन महिम भट्ट के पुरोगामी आचार्यों ने भी जो दोष-विचारणा की थी, उससे भी हमारा संस्कृत साहित्य अछुता नहीं रह पाया है । कहने का तात्पर्य यही है कि भरत-भामहादि से शूरु हुई इस दोष विषयक चर्चा में से प्रेरणा लेकर अनेक अज्ञातनाम साहित्यरसिकों ने भी, बिना कोई रोक-टोक संस्कृत काव्य-ग्रंथो में जहाँ भी अपनी मति से कोई दोष पाया तो उसे परिवर्तित करने की अनधिकृत चेष्टा की है । अर्थात् जिस पद्य में दोष देखा गया, उसको हटाने के लिए, वहाँ पर ''पाठान्तर'' को प्रस्तुत करने लगे ! काव्यग्रन्थो के साथ यह एक तरह का खिलवाड ही था । और इस प्रकार की (पाठान्तर दाखिल करने की) अज्ञातकर्तृक प्रवृत्ति से कालिदास के काव्य भी मुक्त नहीं रह पाये हैं । यद्यपि महाकवि कालिदास की पाठ-परम्परा में निरंतर दूषण पैदा होने में बहुविध कारण जिम्मेदार है, किन्तु इनमें से एक अनुल्लिखित कारण, साहित्यशास्त्र की यह दोष विषयक विचारणा भी है - ऐसा कहने में कोई गलत अनुमान नहीं है ।

(७) कतिपय उदाहरण ले कर, उपर्युक्त अनुमान का पहेले समर्थन करना जरूरी है । बहुविध दोषों की श्रेणी में भामह (ईसा की ६०० शती) ने श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट आदि दोषों को गिनाये है -

श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि ।
श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥ (काव्यालङ्कारः, १।४७)

इन में से असभ्यवस्तुविषया प्रतीति को उत्पन्न करनेवाले शब्द-प्रयोग को दोष कहा है । इस से प्रेरणा प्राप्त करके वामन (ईसा की ८०० शती)ने जो पदार्थ दोष गिनाये हैं, उनमें एक अश्लील नामक दोष की पहेचान दी है। जिस अनेकार्थक शब्द से असभ्य अर्थान्तर निकलता हो, या जो असभ्यार्थ का स्मरणहेतु बनता हो वह अश्लील कहा जाता है । शब्दों द्वारा प्रकट होनेवाली यह अश्लीलता तीन प्रकार की होती है । तत्त्रैविध्यं व्रीडा -जुगुप्सा- मङ्गलातङ्कदायिभेदात् । (काव्यलङ्कारसूत्रवृत्तिः, १/१९) उदाहरणार्थ-हिरण्यरेताः, कपर्दकः, संस्थितः जैसे शब्द दिये जाते हैं । यहाँ संस्थित शब्द से मृत व्यक्ति का बोध होता है, जो अमंगलकारी है और मानसिक आतंक को भी पैदा करता है । यह अमंगलातङ्क-दायि प्रकार का अश्लील शब्दप्रयोग कहा जाता है । यद्यपि भामह या वामनादि किसी साहित्यशास्त्री ने कालिदासीय काव्यों में

अश्लील दोष प्रकट रूप से बताया हो ऐसा विदित नहीं है। किन्तु किसी शास्त्राभ्यासी अज्ञात व्यक्ति ने महाकवि के कुमारसम्भव में अश्लील शब्द प्रयोग ढूँढ निकाला है – ऐसा एक उदाहरण निम्नोक्त है :-

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

(कुमार. ५/७१)

यहाँ पर कपाल शब्द से मृत-व्यक्ति की खोपडी का बोध होता है। और ऐसी खोपडियों की माला को धारण करनेवाले शंकर कपालिन् कहलाते है। अतः ऐसे शब्द को अमंगलातंक प्रदायी प्रकार का अश्लील शब्द माना जायेगा। परिणाम स्वरूप, किसी अज्ञात कालिदासप्रेमी ने यहाँ अश्लील शब्दप्रयोग के दोष से कवि को बचाने के लिये कपालिन् शब्द को हटाकर, उसके स्थान पर पिनाकिन् शब्द का एक पाठान्तर रख दिया है। और मल्लिनाथ जैसे समर्थ टीकाकार ने उसी पिनाकिन् शब्द को बडी चुप्पी के साथ स्वीकार भी कर लिया है। क्योंकि – पिनाकिन् के साथ साथ कोई दूसरा कपालिन् शब्द का भी पाठ था या नहीं – ऐसी कोई सूचना मल्लिनाथ नहीं देते हैं। मल्लिनाथ ने पिनाकिन् शब्द का जो अर्थ 'ईश्वरस्य' ऐसा दिया है, वह अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में किसी भी तरह से उपकारक सिद्ध नहीं होता है। टीकाकार वल्लभदेव ने भी पिनाकिन् ऐसे पाठान्तर को ही स्वीकार लिया है। परंतु अर्थसंगति बिठाने के लिए उन्हों ने भी पिनाकिन् शब्द का अर्थ पशुपति कर दिया है। तीसरे टीकाकार चारित्रवर्धन ने स्वीकारा तो वही शब्द, जो मूल में था – कपालिन्। परंतु उसका अर्थ सीधा दे दिया – 'शम्भोः'। क्योंकि वे भी कपालिन् शब्द से प्राप्त होनेवाली अमंगलातंक प्रदायी अर्थच्छाया से श्रोता को दूर रखना चाहते होंगे।

यहाँ कपालिन् के स्थान पर पिनाकिन् ऐसे पाठान्तर की जो कल्पना की गई है, उसके मूल में निश्चित रूप से कपालिन् शब्द में अश्लीलता का जो दोष सोचा गया होगा वही है। यहाँ पर, महाकवि के काव्यों में अमुक पाठान्तरों की कल्पना में, उसमें जो दोष-दर्शन किया गया है वह जिम्मेदार लगता है। क्योंकि कपालिन् के स्थान पर पिनाकिन् जैसा पाठभेद कोई लिपिकार के अनवधान-प्रयुक्त दोष का परिणाम नहीं हो सकता है॥

वामन ने शब्दप्रयोग के संदर्भ में एक ऐसा भी सूत्र दिया है कि – लोकसंवीतम् संवृतम्॥ काव्यालंकारः २-१-१८, इस पर जो वृत्ति लिखी है उसमें कहा है कि – लोकेन संवीतं लोकसंवीतम्। यत् तत् संवृत्तम्। यथा – सुभगा, भगिनी, उपस्थानम्, अभिप्रेतम् , कुमारी, दोहदम् इति। अर्थात् दोहद शब्द गर्भवती स्त्री के मन में होनेवाली इच्छा का बोधक है। किन्तु दोहद शब्द में आये हद शब्दांश से ''हद'' पुरीषोत्सर्गे धातु का स्मरण भी होता है। जो स्पष्ट रूप से जुगुप्साप्रेरक है। (यद्यपि वामन ने कहा है कि – लोकव्यवहार में यह शब्द बहुत प्रचलित और स्वीकृत हो गया है। इस लिये यह शब्द लोकसंवीत की कक्षा में आ गया है, अतः जुगुप्सार्थ का संवरण हो सकता है। तथापि समाज में ऐसे कई लोग है कि जो इस शब्द के प्रयोग को अच्छा नहीं मानते हैं।) वामन के समय में दोहद शब्द सर्वथा आवकार्य नहीं था। इस पूर्वभूमिका में कालिदास ने जहाँ जहाँ दोहद शब्द का प्रयोग किया है और इन स्थानों पर कौन से पाठान्तरों ने जन्म लिया है – वह देखना रसप्रद बनेगा।

अथाधिक - स्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शर-पाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीद् अनक्षरव्यञ्जित-दोहदेन ॥

रघुवंशम् १४।२६

यहाँ पर तीन टीकाकारों – हेमाद्रि, अरुणगिरिनाथ, एवं नारायण – ने दोहदेन के स्थान में दौहृदेन (जिसका अर्थ होता है :- गर्भस्यैकं हृदयम्, गर्भिण्याश्चापरमित्येवं द्विहृदयाया यदभिलषितं तद् दौहृदम्।) ऐसा पाठान्तर स्वीकारा है। इस प्रकार के पाठान्तर को मानने के पीछे जो अरुचि है वह दोहद शब्दान्तर्गत आये ''हद'' शब्द की जुगुप्सार्थकता ही है। ऐसी ही स्थिति रघुवंश के तीसरे सर्ग के तीन श्लोकों (१-६-७) में भी है। परंतु हेमाद्रि और अरुणगिरिनाथादि ने यहाँ सर्वत्र ''दौहृद'' पाठ को ही माना है, जो हमारे पूर्वोक्त अनुमान के अनुसार दोष-विमर्श का दुष्परिणाम है॥ यह विचार दृढीभूत तब होगा जब कुमारसम्भव के अष्टम सर्ग के प्रथम श्लोक को देखेंगे –

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति ।
भावसाध्वसपरिग्रहाद् अभूत् कामदोहदमनोहरं वपुः ॥

कुमार. ८-१

यहाँ पर भी कवि ने जो दोहद शब्द का प्रयोग किया है, उसको भी अरुणगिरिनाथ एवं नारायण पण्डित ने परिवर्तित करके ''दौहृद'' एवं ''दोहन'' में बदल दिया है ॥

(८) आनन्दवर्धन ने भी द्विविधो हि दोषः - कवेरव्युत्पत्तिकृतोऽशक्ति-कृतश्च । ऐसा कह कर रसभंग के कारण रूप में दो दोष उल्लिखित किये हैं। और अभिनवगुप्तपादाचार्य ने व्युत्पत्ति की व्याख्या करते हुये लिखा है कि - व्युत्पत्तिस्तद् उपयोगि-समस्त-वस्तु-पौर्वापर्य-परामर्श-कौशलम् । (लोचनम्-पृ. १६९) व्युत्पत्ति वह होती है जिसमें वर्णनीय कथावस्तु के प्रसंगो का पौर्वापर्य सोच कर ही काव्य में उसकी बुनावट की जाय । समयानुक्रम अर्थात् प्रसंगो के पौर्वापर्य क्रम को जहाँ सुरक्षित नहीं रखा जाता है उनको अव्युत्पत्तिकृत दोष कहते हैं । महाकवि कालिदास के रघुवंश में एक स्थान पर ऐसा दोष घटित होता है -

त्रातेन ताक्ष्यात् किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥
(रघुवंशम् ६-४९)

यहां पर ''कृष्णम्'' पद के स्थान पर ''विष्णुम्'' ऐसा भी एक पाठान्तर मिलता है । इस पाठान्तर के मूल में आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट अव्युत्पत्तिकृत दोष ही रहा है । वह कैसे - ऐसा कोई प्रश्न करे तो उत्तर यह है कि रघुवंश के षष्ठम सर्ग में अज-इन्दुमती के स्वयंवर का प्रसंग-वर्णन चल रहा है । जिसमें धात्री सुनन्दा शूरसेन के राजा सुषेण का परिचय दे रही है कि यह राजा ने अपने वक्षःस्थल में जो मणि धारण किया है उससे तो मानों कि कौस्तुभमणि को धारण करनेवाले कृष्ण भी लज्जित हो रहे है । यहाँ ध्यातव्य बात यह है कि यहाँ जिसके विवाह का प्रसंग निरूपित करना है वह अज है, उसके बाद दशरथ का जन्म होगा, और दशरथ के बाद राम का जन्म होगा । औरा रामावतार के बाद कृष्णावतार होगा । ऐसी स्थिति में, कालिदास ने यहाँ अज-इन्दुमती के स्वयंवर प्रसंग-वर्णन में ''सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्'' कैसे कहा ? यह स्पष्ट रूप से काल-व्युत्क्रम का उदाहरण है और उसमें अव्युत्पत्तिकृत दोष आ गया है ।

यहाँ कोई विद्वान् ऐसा नहीं कह सकेगा कि कालिदास ने ''सकौस्तुभं

ह्रेपयतीव विष्णुम्'' ही पहेले लिखा था । क्योंकि पूर्वोक्त ६-४९ श्लोक के ठीक आगे-पीछे आये हुये श्लोकों मे कलिन्दकन्या, मधुरा (मथुरा), गोवर्धनकंदरा, वृन्दावन, यमुना, कालिय नाग का नामशः उल्लेख है । इन सब स्थानों का सम्बन्ध तो केवल कृष्ण के साथ ही है । इस लिये यह स्वीकार ने के लिये हम बाध्य हो जाते हैं कि कालिदास ने ६-४९ में विष्णुम् नहीं, किन्तु कृष्णम् ही लिखा होगा । परंतु कृष्णम् पाठ में पूर्वोक्त दृष्टि से अव्युत्पतिकृत दोष आ जाता है, इस लिये उस दोष को हटाने के लिये किसी अज्ञात कालिदासप्रेमी ने ''कृष्णम्'' के स्थान पर ''विष्णुम्'' पाठान्तर की कल्पना कर ली है । यहाँ पर प्रसिद्ध पौराणिक मिथक के अनुसार भी, कौस्तुभमणि के साथ विष्णुम् ही ठीक प्रतीत होता है - ऐसा सोच कर भी किसी को कृष्णम् जैसे मौलिक पाठ को हटा देना जरूरी लगा होगा । मूल पाठ में परिवर्तन करनेवाला यह सोचने के लिये रुकता नहीं है कि कालिदास के समय में कालिय नाग ने कृष्ण को कौस्तुभ-मणि दिया था - ऐसी कोई मिथक कथा चल रही थी, जो बाद में परिवर्तित हुई है । पाठपरिवर्तन करने का आशय तो अव्युत्पत्तिकृत दोष को हटाना यही रहा होगा ॥

१०वीं शताब्दी के आनन्दवर्धन से भी पहेले, ७०० शती के दण्डी ने भी अपने काव्यादर्श में काव्य-दोषों की चर्चा करते हुए कहा था कि -

चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता ।
हेतुविद्यात्मको न्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥ (३-१६३)
तेषु तेष्वयथारूढं यदि किञ्चित् प्रवर्तते ।
कवेः प्रमादाद् देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥ (३-१६४)

अर्थात् जो वर्णन देश, काल, कला, लोकन्याय और स्मृति - श्रुति विरुद्ध हो उसे दण्डी ने भी काव्यदोष माना था । देश, काल, स्मृति इत्यादि के ज्ञान को भी व्युत्पत्ति कहते है । महाकवि ने अनवधान से रामावतार होने से पहेले ही कृष्ण का नामोल्लेख कर दिया तो उसे अव्युत्पत्तिकृत दोष कहने की नोबत आ गई, इस लिए रघुवंश ६-४९ में कृष्णम् के स्थान पर विष्णुम् जैसा पाठान्तर चुप्पी के साथ प्रविष्ट हो गया ।

(कृष्णम् के स्थान पर विष्णुम् हो जाना - वह न कोई अकस्मात् होगा, या न कोई प्रतिलिपिकार से अनजान में हुआ परिवर्तन होगा ।)

टीकाकारों की दृष्टि में जब यह बात आई तो उन लोगों ने प्रायः विष्णुम् पाठ को ही मान्य पाठ के रूप में स्वीकार कर लिया है । केवल मल्लिनाथ ऐसे टीकाकार है कि जिन्हों ने कृष्णम् पाठ को ही स्वीकारा है, परंतु उनको भी कृष्णम् पाठ की संगति बिठाने में कठिनाई हुई और उन्होंने कृष्णम् का अर्थ सीधा ही विष्णुम् लिख दिया । किन्तु अरुणगिरिनाथ और नारायण नामक दो टीकाकारों ने अव्युत्पत्तिकृत दोष को अत्यंत गंभीर प्रकार का देख कर, इस ६-४९ श्लोक को ही मूल कृति में से हटा दिया और उस पर कोई टीका ही नहीं लिखी । इस तरह ये दो टीकाकारों ने तो रघुवंश की पाठपरम्परा में से इस श्लोक का जो उन्मीलन कर दिया है वह कोई सामान्य बात नहीं है। अलंकारशास्त्र में प्रवर्तित काव्यदोष-विमर्श का यह गंभीरतम दुष्परिणाम मानना चाहिये ॥

(९) वामन ने काव्यालंकार -सूत्रवृत्ति में अप्रतीतम् नामक एक दोष बताया है । शास्त्रमात्रप्रयुक्तम् अप्रतीतम् ॥ (काव्यलंकार-सूत्रम् २-१-८) इस की वृत्ति में लिखा है कि- शास्त्र एव प्रयुक्तम् यन्न लोके, तदप्रतीतम् पदम्। अत्र रूपस्कन्ध-नान्तरीयक-पदे, न लोके इत्यप्रतीतम् ॥ इस अप्रतीत नामक दोष के लिये ही मम्मटाचार्य ने अप्रयुक्त नामक दोष बताया है । काव्यप्रकाश ७-५० में उन्हों ने लिखा है कि - अप्रयुक्तम् तथाम्नातमपि कविभिर्नादृतम् ॥ अर्थात् शास्त्र में मान्य हो ऐसा कोई शब्द, जो कविओं के द्वारा व्यापक रूप में प्रयुक्त न होता हो तो, ऐसे शब्द का प्रयोग करने पर अप्रयुक्त दोष बन जाता है । कुमारसम्भव के प्रथम श्लोक को देखते हैं - अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः । पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥ (कुमारसम्भवम् १-१) इस श्लोक में जो वगाह्य (प्रविश्य) शब्द है उसी के स्थान पर विगाह्य (=आक्रम्य) ऐसा पाठान्तर किसी ने कर दिया है । उसका कारण भी वही है कि सम्भवतः किसी व्यक्ति ने उसमें पूर्वोक्त अप्रतीतम् नामक दोष देखा होगा । भागुरि नामक एक अप्रसिद्ध वैयाकरण, जिसका कोई पूर्ण व्याकरण ग्रन्थ भी नहीं मिलता है, उसका मत है कि अव उपसर्ग के आदि अ-कार का लोप होता है । अतः कालिदास ने अवगाह्य में से वगाह्य रूप बनाया है। यद्यपि यह मत एक विस्मृत वैयाकरण के द्वारा ही कहा गया है, लेकिन वह अति अल्प प्रचलित होने के कारण उसका प्रयोग

करना दोषावह समझा जा सकता है । अतः वगाह्य को बदल कर, उसी के स्थान में विगाह्य ऐसा पाठभेद कर देने से, उक्त दोष निर्मूल हो जाता है ॥

(१०) अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक के तृतीयाङ्क में दुष्यन्त की यह उक्ति -

मुहुरङ्गलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु ॥

(शाकु. ३-२६)

यहाँ तु अव्यय को निरर्थक पादपूरक समझा गया है । जो वामन की दृष्टि में एक काव्यदोष है । एक दूसरे दृष्टिकोण से सोचा जाय तो - श्लोक के प्रथम तीन चरणों मे अनुवाद्य (उद्देश्यभूत) मुखम् की बात का आरंभ करके, जो विधेयांश ''न चुम्बितम्'' रखा गया है, उसमें ''तत्'' जैसा कोई पूर्वपरामर्शक सर्वनाम का होना अनिवार्य माना गया है ।

व्यक्तिविवेक में महिम भट्ट ने विस्तार से जो यत्-तत् सर्वनामों के प्रयोग के बारे में चर्चा करके विधेयाविमर्श दोष की उपस्थापना की है, उसे देखते हुये भी यहाँ तत् पद की आवश्यकता सिद्ध होती है । अतः किसी अज्ञात कालिदासप्रेमी ने यहाँ पर ''न चुम्बितं तत्'' ऐसा पाठान्तर खड़ा कर दिया है । अलबत्त, आनन्दवर्धन ने तो इस श्लोक के तु ऐसे निपात को पश्चात्ताप अर्थ का व्यञ्जक बताया है । परंतु जिसने यहाँ तु को निरर्थक पादपूरक अव्यय समझा होगा, या जिसने उद्देश्य के रूप में यत् मुखम्, उन्नमितम्, तस्य किम् - ऐसी आकांक्षा उद्भूत होने के बाद, तत् न चुम्बित् ऐसा पूर्वपरामर्शक तत् सर्वनाम का होना अपेक्षित माना है । उसका यह अभिनिवेश रहा होगा। अर्थात् यहाँ तत् पद का न होना दोष रूप देखा गया होगा और उसने पाठभेद को जन्म दिया होगा ॥

(११) मेघदूत के अन्त भाग में यक्ष कहता है कि -

एतस्मान्मां कुशलिनम् अभिज्ञानदानाद् विदित्वा
मा कौलीनाद् असितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।

(उत्तरमेघम्-५२)

हे अश्वेत(=काले) नयनवाली, मैंने जो अभिज्ञान दिया है उससे मुझे सकुशल जान कर, किसी दूसरों के कहने में आ कर मुझ में अविश्वास मत करना। यहाँ पर असितनयनवाली कहने में तदभाव रूप नञर्थ लिया जायेगा तो यक्षिणी के नयनों का रंग कैसा था यह सकारात्मक रूप से कोई जान सकता नहीं है। इसको काव्यदोष के रूप में देख कर किसी ने असितनयने पद को बदलके, उसके स्थान में चकितनयने जैसा एक नवीन पाठभेद कल्पित कर लिया है। जिससे यक्षिणी के नयनों का चकित स्वरूप अब ध्यान में आने लगता है।

यहाँ कहने का आशय यही है कि कालिदासीय काव्यों के कतिपय शब्दो में जो सार्थक पाठभेद दिखाई देते है, उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ऐसे स्थानों में साहित्यरसिकों ने विभिन्न प्रकार के काव्यदोषों को देखा होगा और उसे निर्दुष्ट करने के लिये कतिपय स्थानो में नवीन पाठों की कल्पना की गई होगी॥

(१२) इसी तरह से, महिम भट्ट जैसे आलंकारिक ने जब प्रक्रमभङ्ग एवं क्रमभङ्ग रूप वाक्य-दोषों का स्वरूप उद्घाटित किया तब (या उससे भी पहले) अज्ञात भावकों ने अपनी स्वाभाविक सुझबुझ से कालिदास के श्लोकों का परम्परागत लिखित क्रम भी अपनी आलोचना का विषय बनाया है। और उनके महाकाव्यों के पद्यों का क्रम भी बदलने की आवश्यकता देखी है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में ही दिलीप और सुदक्षिणा ऋषि वसिष्ठ के आश्रम की ओर जा रहे है - उसका जो वर्णन है उसमें ३९ से ४६ तक के श्लोको समीक्षणीय है। यहाँ ३९ में शृण्वन्तौ, ४०में पश्यन्तौ, ४१ में उन्नमिताननौ, ४२ में अस्पृष्टालकवेष्टनौ, ४३ में उपजिघ्रन्तौ, ४४ में प्रतिगृह्णन्तौ, ४५ मे पृच्छन्तौ - जैसै कृदन्तों की आनुक्रमिकता प्रयुक्त हुई है। लेकिन काश्मीर की शारदा-लिपिवाली पाण्डुलिपियों में, तथा काशी एवं कोलकाता की पाठ-परंपराओं में शृण्वन्तौ के बाद कुछ अलग ही क्रम अपेक्षित था :-

जैसे की - उपजिघ्रन्तौ, प्रतिगृह्णन्तौ, पृच्छन्तौ। अतः दूसरी पाण्डुलिपिओं ने श्लोकानुक्रम बदल दिया है। अधोनिर्दिष्ट कोष्टक से यह नये अपेक्षित क्रम का चित्र देखा जा सकता है :-

पाण्डु लिपि	३९ शृण्वन्तौ	४० पश्यन्तौ	४१ उन्नमिताननौ	४२ लकवेष्टनौ	४३ उपजिघ्रन्तौ	४४ प्रतिगृह्णन्तौ	४५ पृच्छन्तौ
शारदा	४२ लकवेष्टनौ	४३ उपजिघ्रन्तो	४४ प्रतिगृह्णन्तौ	३९ शृण्वन्तौ	४१ उन्नमिताननौ	४५ पृच्छन्तौ	४० पश्यन्तौ
काशी कोलकता पाटण	४३ उपजिघ्रन्तौ	४४ प्रतिगृह्णन्तौ	४५ पृच्छन्तौ	४० पश्यन्तौ	४२ लकवेष्टनौ	४६	४१ उन्नमिताननौ
अहमदाबाद	४६	४० पश्यन्तौ	४१ उन्नमिताननौ	४३ उपजिघ्रन्तौ	४५ पृच्छन्तौ	४२ लकवेष्टनौ	४४ प्रतिगृह्णन्तौ
अरुणगिरि	३९ शृण्वन्तौ	४१ उन्नमिताननौ	४२ लकवेष्टनौ	४० पश्यन्तौ	४४ प्रतिगृह्णन्तौ	४३ उपजिघ्रन्तौ	४५ पृच्छन्तौ
मल्लिनाथ	३९ शृण्वन्तौ	४० पश्यन्तौ	४१ उन्नमिताननौ	४२ लकवेष्टनौ	४३ उपजिघ्रन्तौ	४४ प्रतिगृह्णन्तौ	४५ पृच्छन्तौ

रघुवंश में (१-३९ से ४६) श्लोकों का क्रम-विपर्यास इस तरह दिखाई देता है।

रघुवंश में ही ऐसे दूसरे अनेक स्थान हैं कि जहाँ श्लोकों का क्रम-विपर्यास मिलता है।

उदाहरण के रूप में -

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युरकोसलेन्द्राः॥

रघु. ६-७१

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः॥

६-७२

यहाँ पर, कतिपय पाण्डुलिपिओं में श्लोकानुक्रम उलटा-पुलटा कर दिया है - ऐसा पं. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदीजीने कालिदास-ग्रन्थावली में कहा है। सोचने से इसका कारण यह मालूम होता है कि इक्ष्वाकु - वंशजो की काकुत्स्थ ऐसी संज्ञा कब से प्राप्त हुई इस मिथक को उद्घाटित करनेवाला ७२वाँ

श्लोक पहले आना चाहिये और तत्पश्चात् ही ७१वाँ श्लोक - ऐसा क्रमभङ्ग दोष दुरस्त करने की इच्छा से किसी ने यह किया होगा ।

(१३) कालिदासीय काव्यों में जो पाठान्तर या कुत्रचित् श्लोकों का क्रमभेद दिखाई देते है उसमें कदाचित् आलंकारिकों की दोष विषयक विचारणा ही बहुशः जिम्मेदार है ऐसा जब सोदाहरण कहा गया है, तो किसी के मन में ऐसा प्रश्न भी हो सकता है कि - कालिदास के काव्यों में कही कहीं समानार्थक पद्यान्तरों की भी प्राप्ति होती है, तो इस समस्या के लिये क्या इसी दिशा का कोई समाधान प्राप्त होता है ?

रघुवंश के तृतीय सर्ग से एक उदाहरण को पहले देखना जरूरी है :-

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीढयोः सुजातयोः पङ्कजकोषयोः श्रियम् ॥
(३।८)

इसी श्लोक का समानान्तर अर्थवाला दूसरा श्लोक निम्नोक्त स्वरूप से मिलता है :--

दिनेषु गच्छत्सु मधूक -पाण्डुरं तदीयमाश्याममुखं स्तनद्वयम् ।
समुद्गयोर्वारणदन्तकोशयोर् बभार कान्तिं गवलापिधानयोः ॥

यहाँ पर पहलेवाले श्लोक में जो तिरश्चकार ऐसा क्रियापद आया है, वह शायद किसी वैयाकरण को बाधाजनक लगा होगा ऐसी एक सम्भावना वामन के निम्नोक्त सूत्र को देख कर लगती है । तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्यु-पचारात् । काव्यालङ्कारसूत्रम् ५-२-११ इस सूत्र से वामन ने कहा है कि पाणिनीय व्याकरण के अनुसार तो तिरस् शब्द अन्तर्धान होने के अर्थ में (ही) तिरोऽन्तर्धौ । (पा. सू. १-४-७१) से गति-संज्ञक बनता है । फिर तिरसोऽन्यतर-स्याम् । (पा.सू. ८-३-४२) सूत्र से तिरः के विसर्ग को स् कार होता है, ककार परे रहते । अब ऐसी रूप सिद्धि से बने तिरस्कार शब्द को ''उपचार'' से परिभूत अर्थ में भी प्रयुक्त किया जा सकता है । वामन ने यह जो (अन्तर्धानार्थक) तिरस्कार शब्द के दूसरे (परिभव) अर्थ को भी मान्यता प्रदान करने के लिये जो शास्त्रवचन बनाया है वही सूचित करता है कि सब से पहले तो पाणिनीय व्याकरण-प्रोक्त अर्थ को ही मान्यता थी । जिसके प्रभाव में सम्भवतः कालिदास

के पूर्वोक्त श्लोक के ''तिरश्चकार'' क्रियापद को हटाने के लिये, पूरे श्लोक को ही नयी तरह से लिखा गया होगा ।

उपर्युक्त सम्भावना इस लिये विचारणीय है कि टीकाकार हेमाद्रि ने तिरस्कार शब्द पर लिखा है कि - तिरोऽन्तर्धौ तिर्यगर्थे इति तिरःशब्दोऽत्र औपचारिकः। तिरस्कृतः परिभूतेऽन्तद्ध्र्युपचारात्, यः परिभूतः सोऽन्तर्हितवद् भवति इति वामनः। (रघुदर्पणः, पृ.३९) तिरस्कार शब्द के प्रयोग की ओर नहीं देखने का कहनेवाला यह टीकाकार उसका विवरण क्यूं देता है ? वह जानता है कि तिरस्कार शब्द का प्रयोग किसी को खटकनेवाला बन सकता है । और इसी लिये वह पूर्वोक्त दूसरे समानार्थक पद्यान्तर का भी विवरण देता है ॥

एक दूसरा उदाहरण भी दृष्टव्य है । रघुवंश के तृतीय सर्ग में सुदक्षिणा आपन्नसत्त्वा बनी है उसका वर्णन है :-

शरीरसादाद् असमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥
(रघुवंशम् ३।२)

यहाँ पर कवि कहना तो यही चाहते हैं कि शरीर सुख (दूबला हो) जाने से उसने गहने कम पहेने थे । किन्तु असमग्रभूषणा (शरीर सुख जाने से कम गहनेवाली) - ऐसे बहुव्रीहि समास में वह गौण हो जाता है, (जैसे द्वितीयमौर्वीम्-कुमारसम्भवम् ३/५५ में है, वैसे ही यहाँ भी) इसको विद्वद्गोष्ठि में अविमृष्टविधेयांश दोष माना गया होगा । अतः किसी मम्मटाभ्यासी कालिदासप्रेमी ने इस पद्य के स्थान में दूसरा ही पद्य बना कर रख दिया है, जो निम्नोक्त स्वरूपे में है :-

मुखेन सा केतकपत्रपाण्डुना कृशाङ्गयष्टिः परिमेयभूषणा ।
स्थिताल्पतारां करुणेन्दुमण्डलां विभाकल्पां रजनीं व्यडम्बयत् ॥

यह ध्यातव्य है कि काश्मीर की परम्परा के वल्लभदेव ने रघुपञ्चिका में इस पद्यान्तर को ही स्वीकारा है । क्योंकि १०-११वीं शती के वल्लभदेव ही उपलब्ध टीकाकारों में प्रथम है । अतः मम्मट की दोष-विमर्श चर्चा से प्रभावित हो कर किसी ने यह दूषित पद्य को बदल दिया होगा ।

इस सन्दर्भ में, एक उदाहरण कुमारसम्भव से भी देखना उपकारक

सिद्ध होगा । अष्टम सर्ग के आरम्भ में शिव-पार्वती का शृंगार-वर्णन होता है। वहाँ पर महाकवि कालिदास ने कहा है कि –

कैतवेन शयिते कुतूहलात् पार्वती प्रति मुखं निपातितम् ।
चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युदाहतम् इव न्यमीलयत् ॥

कुमार. ८/३

इस पद्य में जो आहतम् शब्द का विनियोग किया गया है वह काव्यशास्त्रिओं की दृष्टि में अमंगलातंक प्रदायी बना होगा, जिसके फल स्वरूप उसको बदलने की चेष्टा की गई है । इससे यहाँ १. विद्युतेव विहतम् (–यह पाठभेद मुद्रित शारदालिपि के कुमारसम्भव में स्वीकृत है), २. विद्युतेव पिहितम्, ३. विद्युतेव निहितम् आदि पाठान्तर तो खडे हुए ही, लेकिन पद्यान्तर भी प्रस्तुत कर दिया गया है । जैसे कि –

कैतवेषु शयने कुतूहलात् पार्वती प्रतिमुखं निपातितम् ।
चक्षुरुन्मिषितम् अस्मितं प्रिये विद्युतेव पिहितं न्यमीलयत् ॥

इस समानार्थक पद्यान्तर को देख कर पूर्वोक्त अवधारणा पुष्ट होती है कि काव्यशास्त्र की दृष्टि में जो शब्द-प्रयोग अनुचित लग रहा था उसको प्रायः पाठान्तर से या पद्यान्तर से बदलने की चेष्टा निरंतर हुई है । अब निष्कर्ष यही है कि – महिम भट्ट ने काव्य को निर्दोष बनाने के लिये नवीन पाठान्तर का सूचन करने का जो उपक्रम रखा था, उसमें से ही प्रेरणा लेकर परवर्ती काल के अज्ञात साहित्यरसिकों ने कालिदास के पद्यों को निर्दुष्ट बनाने के लिये नये नये समानार्थक पद्यान्तर एवं पाठान्तर प्रस्तुत किये हैं ।

(१४) इस आलेख में जो अवधारणा प्रस्तुत की गई है कि अलंकारशास्त्रीय दोषविमर्श से प्रभावित होकर अज्ञातनामा साहित्यरसिकों ने भी कालिदास के काव्यों में कुत्रचित् नये पाठान्तर पेश किये है – उसको दृढीभूत करनेवाला एक उदाहरण दृष्टव्य है :– मम्मटाचार्य ने कुमारसम्भव के ३/५५ श्लोक के उत्तरार्ध में – (न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ।) अविमृष्टविधेयांश दोष दिखला कर, मौर्वीम् द्वितीयाम् इव – ऐसा पाठान्तर सूचित किया था । मम्मट के इस सूचन को, १४ शती के मल्लिनाथ जैसे समर्थ टीकाकार ने मूल पाठ के रूप में स्वीकार भी लिया है और इस

सन्दर्भ में मम्मटाचार्य का नामोच्चार भी नहीं किया । एवमेव, उसका अनुगमन करते हुये टीकाकार चारित्रवर्धन ने भी मौर्वीम् द्वितीयाम् – को मूल पाठ के रूप में प्रस्तुत कर दिया है । इन दोनों से भी पहले १०-११वीं शती के वल्लभदेव ने भी मम्मट-सूचित पाठ को ही मूल पाठ के रूप में स्वीकारा है :– उत्प्रेक्ष्यते । स्थानविदा निक्षेपास्पदज्ञेन स्मरेण मदनेन निजधनुषो द्वितीयां मौर्वीम् ज्यामिव । न्यासीकृतां निक्षेपं स्थापिताम् । (कुमार. वल्लभदेवटीका, पृ. १०५)। इस तरह तीनों में से किसी ने भी पाठान्तर के रूप में भी द्वितीयमौर्वीम् इव – को नहीं दिया है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि – अलंकारशास्त्र की दोष विषयक इस चर्चा ने अनेक स्थानों पर महाकवि कालिदास के मौलिक पाठ को परिवर्तित करके हानि पहुँचाई है ॥

(१५) **उपसंहार** –

(क) प्राचीन भारत में साहित्य विषयक प्रवृत्ति चतुर्विध दिखाई देती है । जैसे कि – १. काव्यों का नवसर्जन, २. काव्यसौन्दर्य की मीमांसा (यानि अलंकारशास्त्र के ग्रंथो का निर्माण), ३. इन दोनों की व्याख्या के रूप में टीका-टिप्पण, और ४. इन सभी प्रकार की कृतिओं के पाठ का प्रतिलिपिकरण द्वारा पाठ-संचरण करना, और प्रतिलिपिकरण के दौरान ही परम्परागत पाण्डुलिपिओं में पाठ यदि त्रुटित या दुषित है ऐसा दिखाई है तो उसका संस्करण भी कर लाना । इन में से काव्यशास्त्रीय मीमांसा की जो प्रवृत्ति थी उसने व्याख्यात्मक प्रवृत्ति पर सीधा ही उपकार किया है – उस में कोई शक नहीं है । परंतु उपर्युक्त अभ्यास से एक नयी बात यह ध्यान में आ रही है कि काव्यशास्त्र की दोष-विषयक चर्चा ने कालिदासीय काव्यों पर न केवल अनावश्यक, किंतु पाठ की मौलिकता के लिये हानिकारक बने ऐसा बुरा प्रभाव भी डाला है । क्योंकि पाठसंचरण के लिए प्रवृत्त हुए प्रतिलिपिकर्ताओं ने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो में चर्चित काव्यदोषों के आधार पर कालिदास के पद्यों में जो जो दूषण पहेचाने गये थे, उसको बदल कर प्रतिलिपिकरण के साथ साथ पाठ संस्करण (पाठसुधारणा) का अनुचित कार्य भी कर दिया है ।

(ख) कालिदास के काव्यों की पाठालोचना के दौरान १. अशुद्धियाँ, २. सार्थक पाठान्तर तथा ३. प्रक्षेप रूप नया पाठ्यांश हमारे लिये समस्याभूत बनते हैं । लेकिन यहाँ जो द्वितीय समस्या के रूप में सार्थक पाठान्तर है, उनमें

से कतिपय सार्थक पाठान्तरों के उद्भव का अज्ञात एवं अद्यावधि अनुल्लिखित रहा एक विशिष्ट कारण ध्यान में आ जाने से, अमुक अमुक स्थानों में मूल में क्या रहा होगा उसका अन्दाजा लगाने की दिशा अब हस्तगत हो गई है। अर्थात् कालिदास के पद्यकाव्यों के पाठोद्धार का नया मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

(ग) भामह-वामन-दण्डी के दोष-विमर्श से प्रभावित हो कर ६-७वीं शती से ही कालिदास की तथाकथित पाठसंशुद्धि करने का अज्ञात कार्य शूरु हो गया था। जिन के कारण ही बहुविध सार्थक पाठान्तरों ने जन्म लिया है।

(घ) महिम भट्ट एवं मम्मटाचार्य की दोष-विचारणा ने समानार्थक पद्यान्तर को भी जन्म देना शूरु किया है (ङ) और महिम भट्ट की प्रक्रमभङ्गादि चर्चा ने ज्ञानी प्रतिलिपिकर्ताओं को कालिदास के महाकाव्यों के कतिपय स्थानों में श्लोको में क्रम-परिवर्तन करने के लिए भी लालायित किया है। (यह बात कुमारसम्भव की अपेक्षा से रघुवंश के पाठ के लिये अधिक संगत बैठती है। क्योंकि कुमारसम्भव में ऐसे समानार्थक पद्यान्तर और क्रमभेदवाले स्थान कम है।) (च) वल्लभदेव हो या मल्लिनाथ हो - इन टीकाकारों ने भी मम्मटादि के द्वारा सूचित किये नये पाठान्तरों को मूल पाठ के रूप में प्रस्तुत कर दिये है। अतः इन टीकाकारों के दिये हुये पाठ को कालिदास की पाठालोचना में सावधानी से उपयोग में लेना चाहिये। (छ) काव्यदोष-विमर्श की चर्चा ने कालिदास की कृतियों के पाठ दूषित करने में काफी प्रभाव डाला है - यह जानकारी मिल जाने पर, अब कालिदासीय पद्यकाव्यों में जहाँ जहाँ सार्थक पाठान्तर आदि मिलते हैं, उन में से मूलगामी पाठ को प्राप्त करने का एक नया मार्ग भी उद्घाटित हो जाता है ॥

[**विशेष ज्ञातव्यः** - पं. श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी तीसरी और चौथी 'कालिदास-ग्रन्थावली (२००८, एवं २०१७) में रघुवंश के आरम्भ में प्रथमसर्ग के २-३-४ क्रमाङ्क के श्लोकों को स्थानान्तरित कर के ७-८-९ क्रम पर रख दिये हैं। तथा अपने पाठकों को यह बताया भी नहीं है कि उन्होंने यह क्रम किस कारण से बदल दिया है; (जो उन्होंने अपने स्वतः प्रामाण्य से किया है)। यह एक प्रामाणिक पाठसम्पादक के धर्म से विरुद्ध की प्रवृत्ति है ॥]

सन्दर्भ ग्रन्थसूचि

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, राघवभट्टस्य टीकया सहितम्, नारायण राम आचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,दिल्ही २००६

२. कालिदास के अपाणिनीय प्रयोग, उषा सिंहल, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ही, १९९९

३. कालिदास-ग्रंथावली-२, रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८६

४. काव्यप्रकाशः, सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९७३

५. काव्यलंकार-भामहः, सी. शंकरराम शास्त्री, श्रीबालमनोरमा प्रेस, मद्रास, १९५६

६. काव्यलंकारसूत्रवृत्तिः, डो. नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ही, १९९५

७. काव्यादर्शः-दण्डिन्, जागृति पंड्या, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, १९९४

८. कुमारसम्भवम्-मल्लिनाथस्य चारित्रवर्धनस्य च टीकाभ्यां समेतम्, सं. नाग प्रकाशक, नाग प्रकाशक, नयी दिल्ही, १९८९ (इस में पाठान्तर के रूप में कुमारसम्भवम्-वल्लभदेवस्य शारदालिपि की मुद्रितावृत्ति के पाठभेद दिये हैं।

९. ध्वन्यालोकःसचोलनः, दुर्गाप्रसाद परब, मुन्शीराम मनोहरलाल पब्ली., चौखम्बा ओरिएन्टालिया, १९८३

१०. नाट्यशास्त्रम्, बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, (द्वितीय संस्करण), २०३७ वि.स.

११. रघुपञ्जिका-वल्लभदेवकृता, (Vol-1), Dominic Goodall & Harunga Lsaacson, Royal Natherland Academy of Arts & Science, 2003

१२. रघुवंशदर्पणः, रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशीप्रसाद जयस्वाल रिसर्च इन्स्टीट्युट, पटणा, १९७३

१३. रघुवंशम्, रेवाप्रसाद द्विवेदी, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ही, १९९३

१४. रघुवंशम्-मल्लिनाथः, वेंकटेश लेले शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई १९२६

१५. व्यक्तिविवेकः, रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सिरीझ ओफिस, वाराणसी, १९६४

* * *

उपक्रम-3

'रघुवंश' में वैदिक पुराकल्पन का विनियोग

भूमिका

किसी ने कहा है कि संसार में यदि मृत्यु न होती, तो तत्त्वज्ञान का उदय न होता । उसी तरह हम कह सकते हैं कि प्रजाजीवन में यदि पुराकल्पन (Myth मिथ या मिथक) न होता तो काव्यसाहित्य का शायद सर्जन ही न होता ॥

Myth शब्द का मूल स्रोत ग्रीक Muthos (मुथोस्) शब्द एवं लैटिन Mythus (मिथस) शब्द है । ग्रीक भाषा में इस शब्द का अर्थ वाणी, कथा, वार्ता (Speech, Fable, Tale) होता है । इस 'मिथ' शब्द के अर्थ का Logos अर्थात् 'तर्क', एवं Historia अर्थात् 'इतिहास' के साथ बहुश: विरोधी भी है। अत: हमारे भारतीय विद्वान् ध्वनिसाम्य पर अंग्रेजी 'मिथ' शब्द का संबंध संस्कृत 'मिथ्या' शब्द के साथ जोड़ते है । परिणमत: 'मिथ' का अर्थ ''अवास्तविक एवं अवैज्ञानिक पुराकल्पन'' ऐसा भी होता है ॥ इस Myth के प्रथम स्तर में प्राकृतिक घटनाओं की एक अनुमानात्मक या बहुश: काल्पनिक धारणायें आती है, और दूसरे स्तर पर पुरातन काल की देवकथायें आती हैं। संक्षेप में कहें तो – शाश्वत काल से मनुष्य के सामने यह जो विस्तीर्ण पड़ा अज्ञात रहस्य वाला ब्रह्माण्ड है, तद् विषयक कोई (१) देवकथा, या (२) पुराकथा, या (३) कोई भी पुराकल्पन को 'मिथ' कहते हैं । दूसरे शब्द में कहें तो प्रागैतिहासिक काल के मनुष्यों ने सृष्टि के रहस्य को समझने का जो प्रारंभिक प्रयास किया है, या असंभाव्य/अनागत की अभिलाषा से प्रेरित हो

कर जो काल्पनिक आस्थायें/मान्यताएं बना रखी हैं, वही 'मिथ' है । उदाहरण स्वरूप – (१) सृष्टि में समय-समय पर वृष्टि क्रिया से होता हुआ जलप्रपात और तद्विषयक इन्द्र-वृत्रासुर संग्राम की वेद प्रसिद्ध देवकथा, या (२) समुद्रमंथन की पौराणिक कथा एवं (३) कल्पवृक्ष या चन्द्रकान्तमणि की कल्पना इत्यादि Mythology (पुराकथाशास्त्र/पुराकल्पनशास्त्र) का विषय है ।

मनीषी कवि अपने सांस्कृतिक परिवेश में प्रचलित 'मिथ' का अनेकविध उपयोग करते दिखाई पड़ते हैं । जैसे कि – (१) परंपरागत मिथ द्वारा अपने काव्य की कथावस्तु का सर्जन करते हैं, एवं (२) अपने काव्य में किसी चरित्रचित्रण को विशद करने, या (३) कोई प्रसंग या वर्णन को विशेष रूप से अलंकृत करने के लिए मिथ का विनियोग किया जाता है । हमारे संस्कृत वाङ्मय के कविजन तो प्राय: वेदकालिक मिथ एवं पुराणकालिक मिथ का संमिश्रण भी करते हैं, एवं कदाचित् रूपान्तरण या विस्तरण भी करते हैं। कालिदास जैसे कविकुलगुरु तो अपनी नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से परंपरागत मिथ के आधार पर कोई अन्य मिथ का नवसर्जन भी कर देते हैं, जिसके कारण कविनिर्मिति ब्रह्मा की निर्मिति से बढ़कर अधिक स्पृहणीय बन जाती है ।

विषय प्रवेश

कालिदास उदयनकथा के कोविद ग्रामवृद्धो[१] के साथ भास, सौमिल्ल एवं कविपुत्रादि के[२] प्रबन्धों का उल्लेख करते है। परंतु उदयनकथा पर आधारित कोई काव्य का प्रणयन नहीं करते हैं । गोपवेषधारी विष्णु का निर्देश[३] करते हुए भी कालिदास रासेश्वर रसेश्वर श्रीकृष्ण के चरित पर कोई काव्य की रचना नहीं करते हैं, और महाभारत से केवल शकुन्तलोपाख्यान का ही विनियोग करते हैं । एवमेव पुराणों से केवल शिवपार्वती के मंगलविवाह की बात ही उनको आकर्षक लगती है । इस तरह पुराणों में से कृष्ण-चरित से समबद्ध, महाभारत में से कौरव-पाण्डव के युद्ध से सम्बद्ध, या उदयन – वासवदत्ता की रसपूर्ण

१. प्राप्यावन्तीनुदयनकथा कोविदग्रामवृद्धान् । – मेघदूत (१-३०)
२. प्रथितयशसां भास-सौमिल्ल-कविपुत्रादीनाम् प्रबन्धान् अतिक्रम्य -----। मालविकाग्निमित्रम् (अङ्क-१, प्रस्तावना)
३. बर्हेणेव स्फुरितरूचिना गोपवेषस्य विष्णोः ।-मेघदूत (१-१५)

लोक प्रचलित कथा से सम्बद्ध कोई भी कथानक कवि कालिदास को आकर्षित नहीं कर पाया है। यह एक आश्चर्यजनक एवं विचारप्रेरक बात है। ऐसा लगता है कि कालिदास के समक्ष जो दिव्य वेदसाहित्य रहा होगा, वही उनके आकर्षण का प्रधान विषय रहा है। और इस बात का समर्थन शाकुन्तल के भरतवाक्य- सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम् -से भी होता है।

वाल्मीकि के 'रामायण' का कथानक उन्हें ''पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारम्'' (रघुवंशम्, १-४) जैसा लगता है। क्योंकि, जैसा कि जर्मन विद्वान् याकोबी ने बताया है - वेद प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्रासुरसंग्राम की पुराकथा- मिथ- का रूपान्तरण करके ही वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना की है।[४] उसी तरह महाकवि कालिदास ने भी वैदिक मिथक का कुछ नूतन आविष्कार करके 'रघुवंश' की रचना की है। प्रस्तुत लेख में, कालिदास ने इन्द्र विषयक वैदिक मिथ में परिवर्तन करके, रघुचरित के पूर्वार्द्ध में जो एक मिथकीय नवसर्जन किया है, और उत्तरार्द्ध में वैदिक मिथ का जो पूर्णतः अनुसरण किया है उसको उद्भासित करने का उपक्रम रखा है।

स्वर्ग का आकर्षण

मनुष्य मरणशील है। अतः मरणोपरान्त जीवन के लिए उसने देवलोक-स्वर्गलोक की कल्पना की है; एवं अमृतत्व प्राप्त करने की इच्छा भी निरंतर दिखाई देती है।[५] इसी के कारण वेदकाल से लेकर आजतक अनेक मिथ ने जन्म लिया है।

४. हल से कर्षित क्षेत्र में जो लकीरें खींची जाती है उसको वेद में सीता कही गयी है; और उस पर चेतनत्व का आरोपण करके उसको देवी मानी गई है। ऐसी सीता को पर्जन्य की एवं इन्द्र की पत्नी मानी गई है। अब जो इन्द्र है, उसी को राम के रूप में वाल्मीकि ने वर्णित किये है। दैत्याधिपति रावण के साथ राम का जो युद्ध है, वह इन्द्र-वृत्रासुर की वेदोक्त कथा ही है। राम का सहायक जो हनुमान् है, और जिसको पवनपुत्र मारुति कहा गया है, वह इन्द्र के सहायक मरुद्गण का ही नूतन रूपान्तर है। इस तरह प्रो. याकोबी ने राम-रावण के युद्ध की कथा में इन्द्र-वृत्र की वैदिक मिथ का नूतन आविष्कार माना है। (Displacement of myth).

५. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मा धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्द्रो परि भव ॥
ऋग्वेदः (९-११३-७)

कठोपनिषद् में नचिकेता एक पात्र है, जो यम के घर जाकर मृत्यु की रहस्यविद्या प्राप्त करने का प्रयास करता है। (महाभारत में च्यवन एवं ययाति का आख्यान है, जिसमें अमृतत्व की प्राप्ति की बात तो नहीं है, परंतु कोई कायाकल्प के उपाय से नवयौवन-प्राप्ति का उल्लेख अवश्य है।) ऋग्वेद के नवम मण्डल से स्वर्गलोक के आनन्दप्रद जीवन का विस्तृत विवरण मिलता है। (ऋ०सं० ९-११३-७ से ११) परंतु कोई मनुष्य अपने जीवनकाल में सदेहावस्था में स्वर्ग जा सकता हो ऐसा कोई सन्दर्भ नहीं मिलता है।

ऋग्वेद का पर्यवक्षेण करने से मालूम होता है कि- मूलतः देव भी मरणशील थे, अर्थात् उनकी अमरता पूर्वसिद्ध नहीं मानी गई है। देवों ने अपने तप से मृत्यु का विनाश किया।[६] एवं प्रचेता अग्नि ने देवों को अमृतत्व प्रदान किया[७] ऐसा स्पष्ट निर्देश अथर्ववेद में है। (पुराणों में भी बताया है कि देवों ने समुद्रमंथन के बाद ही अमृत का पान करके अमरता प्राप्त की है।)

अब आधुनिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र एवं पुराकथाशास्त्र की दृष्टि से देखें तो भी मालूम होता है कि इन्द्र भारत-युरोपीय काल का, या भारत-इरानी (द्वितीय) काल का देव नहीं है। वह तो सर्वथा भारतीय-आर्य (तृतीय) काल का देव ही है।[८] इस तरह इन्द्र आर्यप्रजा के एक योद्धा के रूप में ऐतिहासिक व्यक्ति माने गये हैं। तैत्तिरीय संहिता (३-५-२-१) एवं गोपथ ब्राह्मण (२-२-१३) में बताया है कि अन्य कोई ऋषि ने नहीं, परंतु वसिष्ठ ने इन्द्र को प्रत्यक्ष रूप से देखा था।[९] बस इस वैदिक मिथ-पुराकथा-को उठा कर महाकवि कालिदास ने, जिन राजाओं के रथ का मार्ग स्वर्ग लोक पर्यन्त फैला हुआ है-

६. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युपमाघ्नत। --अथर्ववेदः (११-५-१९)

७. येन देवा अमृतमन्व विन्दन् येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन्।
येन देवा स्वराभरन्त्स नो मुञ्चत्वं हसः॥ - अथर्ववेदः (४-२३-६)

८. यद्यपि हिलेब्रान्ट इन्द्र को भारत युरोपीय काल का देव मानते है (क्योंकि उन्होंने इन्द्र को सूर्य का प्रतिरूप माना है); परंतु मेकडोनल एवं दाण्डेकरजी इत्यादि उन्हें भारतीय आर्यकाल का देव ही मानते है।- देखिए- Vedic Mythological Tracts; by R.N. Dandekar; Ajanta Publications, Delhi, 1979; (PP. 141-198) & Annals or BORI) Pune, 1951 (PP 1&55).

९. ऋषय वा इन्द्रं प्रत्यक्षं नापश्यस्तं वसिष्ठ एव प्रत्यक्षम् अपश्यत्। - गोपथ ब्राह्मणम् (२-२-१३)

ऐसे ''आनाकरथवर्त्मनाम्'' (रघुवंशम् १-५) रघुवंशीय राजाओं का वर्णन प्रस्तुत किया है ।

कालिदास द्वारा वैदिक मिथ का नवसर्जन

ऋग्वेद में इन्द्र विषयक को कथायें बार-बार पढ़ने को मिलती है: (१) इन्द्र बादल को आवृत करने वाले वृत्र को मार कर, जलवृष्टि करता है, जिसके लिए इन्द्र को 'वृत्रहन्' भी कहा गया है । (२) सभी मनुष्य संग्राम में मदद के लिए, इन्द्र को बुलाते है, जिसके लिए उसको 'पुरुहूत' (१०-४३-१०,१०-१०-३-७ऋ०) भी कहा गया है । इस तरह वेद में इन्द्र उपकारक देव की भूमिका में है, और बेसहाय मनुष्य उपकार्य की अवस्था में है । लेकिन कालिदास की साहित्यसृष्टि में देखें तो, पूर्वोक्त वैदिक मिथ सर्वथा उलट-पुलट हो गई है । यहाँ तो एक रोमांचकारी परिस्थिति का दर्शन होता है । कालिदास के अनेक काव्यनायक देवाधिपति इन्द्र को साहाय्य करने के लिए स्वर्ग लोक में जाते-आते रहते हैं । अब इन्द्रदेव उपकार्य है, और मानव उपकारक की भूमिका में है । अत: कवि ने मनुष्य को कहीं पर 'इन्द्रसखा' भी कहा है । महाकवि के इस नूतन पुराकल्पन (मिथक) से, मानव की महिमा सर्वातिशायी बन जाती है ।

'रघुवंश' के आरंभ में कवि कहते हैं कि वैवस्वत मनु के वंश में दिलीप नाम का एक राजेन्द्र उत्पन्न हुआ था, जिसने एक पिता की तरह अपनी प्रजा का पूर्ण रूप से परिपालन किया था । आगे चल कर कवि ने कहा है कि-

दुदोह गां स यज्ञाय, सख्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ (रघुवंशम् १-२६)

अर्थात् - ''राजा दिलीप ने यज्ञक्रिया संपन्न करने के लिए पृथिवी का दोहन किया और (यज्ञांश प्राप्त करने वाले) मघवा इन्द्र ने (पृथिवी पर) सस्योत्पादन के लिए द्युलोक का (वृष्टि रूप) दोहन किया ।'' इस तरह दोनों-नरेन्द्र एवं देवेन्द्र-ने अपनी अपनी संपत्ति का विनिमय करके द्युलोक और पृथिवी लोक का परिपालन किया ।

यहाँ पर, जो वैदिक मिथक था कि इन्द्र वृत्रासुर को मार कर जलवृष्टि करता है, उसी को कालिदास ने विस्तार कर के, थोड़ा सा बदल दिया है।

प्रचलित वैदिक मिथ के संदर्भ में तो ''सस्याय मघवा दिवम्'' इस पंक्ति में 'वृत्रहा' शब्द का प्रयोग अपेक्षित था । परंतु कालिदास ने 'मघवा' शब्द का प्रयोग किया है । 'मघम् इति धननाम' ऐसा निघण्टु कहता है । तो इन्द्र द्युस्थानीय देव होने के कारण, वह जलसंपत्ति का स्वामी है ऐसा सोच कर कालिदास ने 'सस्याय मघवा दिवम्' कहा है । यहाँ पर कालिदास के मनोजगत् में श्रीमद्भगवद्गीता का यह श्लोक भी रममाण अवश्य रहा होगा :-

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (गीता-३-११)

परंतु कालिदास जब 'दुदोह गां स यज्ञाय, सस्याय मघवा दिवम्' - लिखते हैं, तब दोनों ही - मनुष्य एवं देव-उपकारक है और दोनों ही उपकार्य है ऐसा विनिमय करने वालों का सम्बन्ध व्यक्त होता है ।

आगे चल कर रघुवंश में दिलीप की अनपत्यता वर्जित की गई है। कुलगुरु वसिष्ठ ने ध्यानस्थ होकर दिलीप के दु:ख का कारण जान लिया । वह बताते हैं कि -

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत् कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ (रघुवंश १.७५)

दिलीप एक बार शक्र का सम्भावन करके, (स्वर्गलोक के) पृथिवी पर वापस लौट रहे थे । तब मार्ग में कल्पतरु की छाया में सुरभि धेनु भी बैठी थी, जिसको दिलीप ने प्रणाम नहीं किया था । इस पूज्यपूजा व्यतिक्रम के कारण उसको संतानप्राप्ति में बाधा आ रही थी । - इस पुराकथा में कवि ने स्पष्ट रूप से बताया है कि पृथिवीलोक से मनुष्यों का सदेहावस्था में स्वर्गलोक में आवागमन संभवित था ।[१०] जो वैदिक पुराकल्पन से सर्वथा

१०. वाल्मीकि एवं भास में भी इस बात का स्वल्प उल्लेख है कि मनुष्य अपने जीवनकाल में ही स्वर्गलोक में आते-जाते थे । जैसे कि-

(१) पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।
अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजस्य साधुकृत ॥
-वाल्मीकीय रामायणम् (अयोध्याकाण्डम् ९-११,१८-३२)

(२) भरतः- इक्ष्वाकवः इति एते अयोध्याभर्तारः ।
एते ते देवतानामसुरपुरवधे गच्छनयभिसरीम्--- ॥ -प्रतिमानाटकम् (३-७)

विपरित है । परंतु मनुष्यों पर देवों का उपकारत्व, जो वेदवर्णित है, उसको बदल कर हमारे कवि अपने काव्यसाहित्य में देवों पर मनुष्यों का उपकारकत्व प्रदर्शित करने जा रहे है, उसका यहाँ से आरंभ होता है ।

रघुवंश के तृतीय सर्ग में दिलीप के अश्वमेधयज्ञ का वर्णन है । दिलीप ने नीन्यानवे यज्ञ पूरे कर लिए थे । 'शतक्रतु' बनने के लिए यह अंतिम यज्ञ था । अतः इन्द्र ने ईर्ष्यावशात् यज्ञ के अश्व को चुरा लिया । इस अश्व की रक्षा के लिए रघु को नियुक्त किया गया था । उसने इन्द्र को ललकारा कि यदि आप किसी दूसरे व्यक्ति को शतक्रतु नहीं बनने देने पर तुलित है, तो-

गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते,
न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ (रघुवंशम् ३-५१)

अर्थात् ''उठाईये शस्त्र, रघु को जब तक पराजित नहीं किया है तब तक आप कृतकृत्य नहीं कहलायेंगे ।'' बाद में, कवि ने इन्द्र और रघु का तुमुल युद्ध वर्णित किया है । वेदोक्त इन्द्र-वृत्रासुर संग्राम के स्थान पर, यहाँ तो देवेन्द्र का एक मानवेन्द्र के साथ युद्ध प्रदर्शित होता है, जिसमें कवि रघु के पराक्रमों का एक के बाद एक वर्णन करके इन्द्र का नितान्त अपकर्ष दिखाते हैं। इन्द्र के लिए वेद में जो-जो पराक्रमवाची विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उसकी विडम्बना होती है । जैसे कि - इन्द्र 'गोत्रभिद्' (मेघ या पर्वत का विनाश करने वाला) होते हुए भी रघु के एक बाण से क्षतविक्षत हो जाता है । (रघु० १-४३) इन्द्र 'शक्र' (शक्तिशाली) होते हुए भी कुमार रघु के मयूरयन्त्रि बाण से उसका महाशनिध्वज खींच लिया जाता है (रघु० १-४६) । इन्द्र स्फुरत्प्रभामण्ड वाले वज्रायुध का प्रयोग भी एक मनुष्य के सामने करते है । परंतु रघु निमेषमात्र में उसकी व्यथा को निर्धूत करके खड़ा हो जाता है (रघु- ३-४३ से ६३) । संक्षेप में कहें तो इन्द्र की शक्तियाँ और पराक्रम की धज्जियाँ उड़ा दी है । और मानुष के पराक्रमों का निरतिशय यशोगान कवि कालिदास ने किया है ।

ऐसे सन्दर्भो से प्रेरणा प्राप्त करके ही कालिदास ने लिखा है कि -
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः । मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ -रघुवंशम् (१-४)

रघु के द्वारा विश्वजित् यज्ञ संपादित करने के बाद, पञ्चम सर्ग में, वरतन्तुशिष्य कौत्स का प्रसंग आता है । रघु कौत्स की अपेक्षित धनराशि अर्जित करने के लिए धनपति कुबेर पर आक्रमण करने का निर्णय करता है, जिसके परिणामस्वरूप रात में ही उसके कोष में हिरण्मयी वृष्टि होती है । कवि मनुष्य का महिमा गाते हुए कहते हैं कि -

अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो, मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥
(रघु० ५-३३)

रघु का प्रभाव अचिन्तनीय था, क्योंकि उसने अपनी इच्छा के अनुसार द्युलोक का भी दोहन कर लिया । कवि का यह नवीन पुराकल्पन (मिथ) है कि मनुष्य चाहे तो वह अपने पौरुषातिशय से हिरण्य की वृष्टि भी करवा सकता है, और द्युलोक का भी दोहन कर सकता है । (पृथु राजा ने गो रूप धारिणी भूमि-का दोहन करके अपनी प्रजा को सुख पहुँचाया था- इस पौराणिक मिथ से आगे निकल कर, हमारे कवि कालिदास ने तो रघु से द्युलोक का भी दोहन करवाया है ।)

कवि ने रघु के चरित से इन्द्र का अपकर्ष बताने के बाद, अज-इन्दुमती स्वयंवर प्रसंग में (षष्ठ सर्ग में) रघु के पूर्वजों - काकुत्सथों का महिमा गाने का एक अवसर ढूंढ़ निकाला है - धात्री सुनन्दा इन्दुमती को प्रत्येक राजकुमार का क्रमशः परिचय देती है । वह जब रघुपुत्र अज के पास आ पहुँचती है तो बताती है कि - यह इक्ष्वाकु वंश के 'ककुत्स्थ' राजकुमार है। कोई एक ककुत्स्थ राजा ने कभी महेन्द्र को महोक्ष रूपधारी बना कर, उस (बड़े साँढ) पर सवारी करके संग्राम में असुर-पत्नियों के सौभाग्यचिह्न छीन लिये थे ।

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥
- रघुवंशम् (६-७२)

ऋग्वेद में अनेक बार इन्द्र को 'वृषभ' कहा है, जो अवश्य ककुद्मान् होगा ही । अतः कालिदास ने अपने क्रान्तदर्शन से, पार्थिव काकुत्स्थों को इन्द्र

पर सवारी करने वाले बना दिये ।[११] वेद में तो मनुष्य दाशराज्ञ (ऋ० ७-१८) जैसे पार्थिव युद्ध में, अपनी सहायता करने के लिए, इन्द्र को सदैव पुकारते है- तेषामिन्द्र वृत्रहत्यै शिवो भूः सखा च शूरोऽपिता च नृणाम् । (ऋ० सं० ७-१९-१०) परंतु कालिदास ने अपने मानव नायक को इन्द्र की सहायता करने वाला बताया है । ऐसी वैदिक मिथक का यह एक अद्भूत नवसर्जन है ।

महाकवि कालिदास ने अपने अन्य मानव नायकों को भी देवोपकारक बताये हैं । जैसे कि - केशी दानव उर्वशी का अपहरण करके ले जाता है, तब अप्सरायें पुकारती है कि - परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती, यस्य वाम्बरतले गतिरस्ति । (विक्रमोर्वशीय) यह सुनकर प्रतिष्ठानपुर का नरेश पुरूरवा उर्वशी के परित्राण के लिए प्रवृत्त होता है । इसी तरह से 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के षष्ठाङ्क में मातलि स्वर्गलोक से आकर कहता है कि दुर्जय दानवगण को मारने के लिए शतक्रतु आपको बुला रहा है । आप ऐन्द्ररथ में बैठकर स्वर्ग में पधारें । इस तरह मनुष्य का इन्द्रसखित्व दर्शाने वाला यह कालिदास समर्थित मिथ अत्यंत स्पृहणीय है ।

क्योंकि - हमारे दक्षिण हस्त में वैदिक साहित्य है, और वाम हस्त में पुराणसाहित्य है । और इन दोनों के बीच महाकवि कालिदास खड़े है । वैदिक देवतासृष्टि में देवाधिपति के रूप में इन्द्र उभर आया है, और मनुष्यों युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए उसकी सहायता मांगते हैं ऐसा चित्र दिखाई पड़ता है । पुराणों में देखें तो ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की त्रिपुटी का नया प्राधान्य आ गया है, और इन्द्र देवता देवाधिपति होते हुए भी गौण स्थान पर आ गये हैं । जब भी दैत्यों का बल बढ़ जाता है, इन्द्रासन चलायमान होता है, तो इन्द्र ब्रह्मा-विष्णु या महेश की शरण में जाते हैं । विष्णु पृथ्वी पर अवतार धारण करके दैत्यों का वध करते है, और इन्द्र को फिर से स्वस्थ करते है ।

लेकिन कालिदास की साहित्यसृष्टि में देखें तो वेद एवं पुराण के बीच की एक आश्चर्यकारक स्थिति का दर्शन होता है । यहाँ पर वेदप्रदर्शित मानवों

११. श्रीमद् भागवत पुराण में (९-६-१२ से १५) एक पुरञ्जय नामक राजा का निर्देश है, जिसने इन्द्र को अपना वाहन बनाया था, और 'ककुत्स्थ' शब्द अर्जित किया था। लेकिन श्रीमद् भागवत-पुराण के समय से पूर्व कालिदास का समय यदि निर्धारित होता है, तो ''ककुस्थ'' शब्द के पूर्वोक्त नवीन निर्वचन का श्रेय कालिदास को जाता है।

और देवों के बीच का उपकार्योपकारक भाव रूप संबंध बदल दिया गया है। अब पार्थिव मानव उपकारक है और दिव्य इन्द्रदेव उपकार्य बन गया है । कालिदास की सर्जकता इस वैदिक मिथ के परिवर्तन में भी देखी जानी चाहिए। (कालिदासोत्तर काल में इस तरह का पुराकल्पन दुर्लभ या अलभ्य बन गया है ।)

'रघुवंश' में वैदिक-मिथ का अनुसरण

कालिदास ने रघुचरित के वर्णनावसर में वैदिक मिथ का नवसर्जन किया है - ऐसा कहना पर्याप्त नहीं है । अब हमें यह भी देखना होगा कि कालिदास ने वैदिक मिथ का किस अंश में सर्वथा अनुसरण भी किया है ।

कवि ने रघुवंशीय राजाओं का एक ओर परिचय 'आनाकरथवर्त्मनाम्' शब्दों से दिया है तो दूसरी ओर 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' शब्दों से भी दिया है। अतः रघुचरित के इस द्वितीय महिमा को उद्घाटित करने के लिए कवि ने वही वैदिक विचारधारा का आश्रयण लिया है ।

कवि कहते है कि अज को राज्यासन पर स्थिर करने के बाद रघु ने अंतिम-संन्यास आश्रम में प्रवेश किया और ज्ञानमय वह्नि से अपने कर्मों का दहन करने लगे । सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृति के गुणत्रय को जीत कर रघु समलोष्टाश्मकाञ्चन (८-२१) बन गये । एक ओर से नवीन राजा बने पुत्र अज फलप्राप्ति पर्यन्त अपने कार्य में डटे रहते हैं, तो दूसरी ओर स्थिरधी रघु भी परमात्मादर्शन पर्यन्त योगविधि में व्यस्त बने रहे (८-२२)।

अन्त में,

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परम् आपद् अव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥

(रघुवंशम् ८-२४)

अर्थात् समस्त बुद्धि वाले रघु योगसमाधि का आश्रयण करके, तमस् के पार रहे परं अव्यय पुरुष को प्राप्त कर लेते हैं ॥ यहाँ पर कवि ने श्लोक में जो ''समदर्शन'' एवं ''तमसः परम् अव्ययं पुरुषम्'' शब्दों का विनिवेश किया है, वह पूर्णतः वेदानुसारी है । शुक्लयजुर्वेद में कहा है कि -

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(शु०य-सं- ३१-१८)

इस मन्त्र में जो परम् अव्यय पुरुष का तमस् के उस पार होने का कल्पन किया है, वह एक वेदोक्त मिथक है, जिसमें हमारे कवि को पूर्ण विश्वास है, और उसी को वह अपने काव्य में उपनिबद्ध करके 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' का आदर्श चरितार्थ करते दिखते है ।

उपसंहार

संक्षेप में कहें तो - (१) 'रघुवंश' के पूर्वार्द्ध में महाकवि कालिदास ने इन्द्र विषयक वैदिक मिथक का परिवर्तन करके, उसको नवपल्लवित किया है; जिसका सूचन उन्होंने ''आनाकरथवर्त्मनाम्'' शब्दों से, प्रारंभ में ही कर दिया है । कालिदास ने इन्द्रदेव और मनुष्यों के बीच में जो उपकार्योपकारक भाव संबंध का परिवर्तन किया है, वह सर्वथा एक नवीन मिथक ही है । और इस कालिदासीय मिथक की जो स्पृहणीयता है वह इस बात में है हि - मनुष्य कदाचित् सदेहावस्था में ही स्वर्गलोक में जा सकता है और देवाधिपति इन्द्र को महोक्ष बना के उसके उपर सवारी कर सकता है । (२) 'रघुवंश' के उत्तरार्द्ध में उन्होंने वैदिक मिथक का पूर्णतः अनुसरण किया है, और रघुचरित में ''योगेनान्ते तनुत्यजाम्'' का आदर्श चरितार्थ कर के दिखाया है । इस तरह से उन्होंने श्रुतिमहती संस्कृता सरस्वती वाक् के प्रति अपनी जो आस्था है, उसको सहृदय पाठकों में भी संक्रामित कर दी है ॥

उपक्रम-4

वल्लभदेव की टीकाओं की मौलिकता पर एक प्रश्नचिह्न

('रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' के विशेष सन्दर्भ में)

(Two versions of the commentary upon *Raghuvaṃśa* by Vallabhadeva are available to us, of which the *Raghupañcikā* is in *Devanāgari* script and *Raghu-pañjikā* is in Śāradā script. The learned author thorugh this paper tries to establish that the originality of the commentaries of Vallabhadeva in general and that of *Raghupañcikā* or *Raghupañjika* in particular, is very much in doubt. The paper reveals important facts on this particular issue.)

(1)

महाकवि कालिदास के श्रव्य-काव्यों पर टीका लिखनेवालों में १४वीं शती के कोलाचल-निवासी मल्लिनाथ का स्थान अग्रगण्य है । साहित्यरसिकों ने मल्लिनाथ की टीकाओं को ही सब से अधिक प्रमाणभूत माना है । किन्तु रघुवंश पर रघुपञ्चिका (रघुपञ्जिका) नामक टीका लिखने वाले वल्लभदेव का स्थान भी किसी भी तरह से नगण्य नहीं है, बल्कि अपरिहार्य है । क्योंकि, वल्लभदेव समय-मर्यादा की दृष्टि से उपलब्ध टीकाकारों में सबसे पुराने हैं । विद्वानों ने (सुभेदार, १९६५) वल्लभदेव का समय १०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध

निश्चित किया है।[१] यद्यपि श्री पी.जी. पराञ्जपे ने स्थिरदेव के बाद वल्लभदेव का समय निर्धारित किया है, तथापि अधिकतर विद्वान् तो वल्लभदेव को ही पुरोगामी मानते हैं। रघुवंश के अन्य टीकाकारों में मुख्य रूप से हेमाद्रि, सुमतिविजय, चारित्रवर्धन, अरुणगिरिनाथ, जिनसमुद्रगणि इत्यादि का नाम भी सुप्रसिद्ध है। लेकिन ये सभी टीकाकार १२वीं -१४वीं शती के बाद प्रकट हुए हैं। अतः कालिदासीय काव्यों पर टीका लिखने वालों में कश्मीर के वल्लभदेव ही पुरोगामी सिद्ध होते हैं।

समयसीमा की दृष्टि से वल्लभदेव का प्रथम होना जैसे ध्यानास्पद है, वैसे ही वे काश्मीरदेश के निवासी है, यह बात भी अतीव ध्यानाकर्षक है। क्योंकि प्राचीनकाल के काश्मीर देश में (सातवी-आठवी शती से) जो शारदा-लिपि का प्रचलन था, वह दुर्बोध (या अन्यत्र अज्ञात) होने से उस लिपि में लिखे गये शास्त्रग्रन्थ, काव्यकृतियाँ एवं टीकादि का पाठ (text) पाण्डुलिपिओं के माध्यम से जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढी के पास संचरित हुआ तब वह बहुविध दूषणों - जैसे कि प्रक्षेप, पाठान्तरादि से मुक्त रहा है। अतः कालिदास के मेघदूत, रघुवंश और कुमारसम्भव पर वल्लभदेव के द्वारा प्रणीत जो टीकायें आज उपलब्ध हो रही है, उसका मूल्य अन्य टीकाओं की अपेक्षा बहुत अधिक है। वल्लभदेव ने महाकवि कालिदास के तीनों श्रव्य-काव्यों पर टीकायें लिखी हैं। लेकिन इन टीकाओं का पाठ आज शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होने के साथ-साथ देवनागरी लिपि में लिखी पाण्डुलिपियों में भी प्राप्त हो रहा है। प्रस्तुत शोध आलेख में वल्लभदेवकृत 'रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' की मौलिकता को लेकर नयनोन्मीलन करनेवाला परामर्श किया जा रहा है॥

(2)

आधुनिक युग में, प्राचीन काव्यकृतियों के टीकाकारों का मूल्यांकन

१. Thus, on the strength of .... the first half of the 10th century may be laid down as the date of Vallabhadeva - Meghaduta with Vallabhadeva, (3rd edition), Published by L-M-Subhedar, Bombay, 1965, (p.30)

विविध दृष्टि से होता है। किसी भी टीकाकार ने टीका-कार के रूप में अभीष्ट काव्यकृति को विशद करने के लिए, अर्थात् साधारण पाठक को सहायक होने के लिए व्याकरण, कोश, समास-विग्रह, अलंकार, छन्दः इत्यादि का निरूपण करते हुए कैसी व्याख्या प्रस्तुत की है। अथवा साहित्यरसिकों के लिए उपयुक्त हो ऐसी व्याख्या, जिसमें नवीन ध्वन्यर्थो का निरूपण किया गया है या नहीं ? ऐसा सोचा जाता है। साहित्यालोचना के क्षेत्र में ऐसे विविध अभिगमों को लेकर टीकाकारों का जो गुणात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया जाता है वह आत्मलक्षी एवं तारतम्यपूर्ण हो सकता है। परंतु साहित्यिक आलोचना (Literary Criticism) का दृष्टिबिंदु छोडकर, जब पाठालोचना (Textual Criticism) का दृष्टिबिंदु अग्रेसर होता है तो प्रत्येक टीकाकार का मूल्य निश्चित करने के लिए १. टीकाकार का समय क्या है, २. उस टीकाकार ने साम्प्रदायिक पाठ का अनुगमन किया है, ३. कितने पाठभेदों की चर्चा प्रस्तुत की है ? ४. टीकाकार के द्वारा स्वीकृत पाठ कैसे श्रद्धेय या मूलगामी प्रतीत होता है ? इन सब बिन्दुओं को ध्यान में लेना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए पाठालोचन की प्रक्रिया में पाठ्यग्रन्थ की पाण्डुलिपिओं के साथ-साथ उसी ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाओं का मूल्य भी ''सहायक-सामग्री'' के रूप में कुछ कम नहीं होता है। क्योंकि किसी भी ग्रन्थ की उपलब्ध होने वाली पाण्डुलिपि के रचनाकाल से यदि उसी ग्रन्थ का कोई टीकाकार प्राचीनतर होता है तो उसकी टीका का मूल्य उस पाण्डुलिपि की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक सिद्ध होता है। अतः 'मेघदूत' की समीक्षित आवृत्ति तैयार करनेवाले डो. सुशील कुमार दे ने भी लिखा है कि.....

.... in the case of a small classical poem of wide popular appeal like the Meghadūta which has been so much studied and commented upon the peculiar circumstances of text transmission make it clear that not the existing manuscripts; which are mostly later in date; but the commentaries are to be taken as our chief guide for textual study-(Sushil Kumar, 1970)[२] अर्थात् मेघदूत की पाठालोचना में उस काव्य की पाण्डुलिपियाँ नहीं, किन्तु उसके

२. The Meghaduta of Kalidasa, Ed. Sushil Kumar De. pub. Sahitya Akademi, New Delhi, 2nd edition,1970 (Introduction, P.16)

टीकाकार ही हमारा सही मार्गदर्शक बन सकते हैं ।

अर्थात् पाठालोचन के सन्दर्भ में यह बात सर्वस्वीकृत है कि आज उपलब्ध होने वाली दो सौ या तीन सौ वर्ष पुरानी किसी भी पाण्डुलिपि की अपेक्षा से सो या हजार वर्ष पुरानी किसी भी टीका का मूल्य अधिकतर ही है । क्योंकि टीकाकारों ने अपनी टीका में उद्धृत किया हुआ मूल कृति का पाठ, तथा अन्वयपूर्वक या खण्डशः व्याख्यायित किया हुआ कृति का पाठ, एक पुरातन पाठपरंपरा का साक्ष्य भी प्रस्तुत करता है, जो पाण्डुलिपियों में संचरित हुए केवल कृति के मूल पाठ की अपेक्षा प्रायः अधिक प्राचीनतर एवं श्रद्धेय होता है । कालिदास के जो भी टीकाकार आज उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें कश्मीर के टीकाकार वल्लभदेव का स्थान, समय की दृष्टि से सर्वप्रथम होने के कारण उनकी टीका अधिकतर मूल्यवती सिद्ध हो सकती है ।

(3)

अब, महाकवि कालिदासकृत 'रघुवंश' महाकाव्य पर वल्लभदेव के द्वारा लिखी गई 'रघुपञ्चिका' नामक टीका पाठालोचना की दृष्टि से कितनी मूल्यवती है ? इस प्रश्न का परामर्श किया जायेगा । श्री गोपाल रघुनाथ नन्दरगीकर ने मल्लिनाथ की 'सञ्जीविनी' टीका एवं आंग्ल अनुवाद के साथ 'रघुवंश' का जो संस्करण संपादित किया है, उसमें वल्लभदेव के द्वारा स्वीकृत पाठ को पाठान्तरों के रूप में पादटिप्पणी में दिया गया है । (Nandargikar, 1971, Fourth edition) अलबत्ता, इस संस्करण की विस्तृत भूमिका में इन्होंने यह बात भी स्पष्ट रूप से कही है कि - Of these four leaders Vallabha and Hemadri seem to be the oldest - Now, making the necessary reservation we are of opinion that superiority can unquestionably be detected in the generality of the reading adopted by Hemadri, Vallabha and Charita Vardhana.[३]

परंतु मूल काव्य के प्राचीनतर एवं श्रद्धेय पाठ के निर्धारण के लिए डा. नन्दरगीरकरजी को पर्याप्त पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध न होने के कारण, तथा एक व्याख्या के रूप में मल्लिनाथ की टीका में गुणाधिक्य होने के कारण उन्होंने मल्लिनाथ के पाठ को ही मूलपाठ के रूप में स्वीकारा है । और वल्लभदेव और हेमाद्रि के द्वारा स्वीकृत पाठपरंपरा में अधिक सुन्दरता होते हुए भी उनके पाठ को पादटिप्पणी में 'पाठान्तर' के रूप में प्रस्तुत कर दिया है[४] । पण्डितमूर्धन्य डा. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदीजी ने जब 'कालिदास-ग्रन्थावली-२' का सम्पादन ई.स. १९८६ में प्रकाशित किया तब श्री नन्दरगीकर जी ने जो पाठान्तर वल्लभदेव के नाम से अपने 'रघुवंश' में दिये थे, उसी को स्वीकार कर लिया है । कहने का तात्पर्य यह है कि पं. श्री रेवाप्रसादजी ने ई.स. १९८६ तक वल्लभदेव की टीका वाले 'रघुवंश' की कोई भी पाण्डुलिपि (जो सिन्धिया ओरि. इन्स्टी०, उज्जैन में संगृहीत है), उसको देखी नहीं थी। ई.स. १९८६ की इस 'कालिदास-ग्रन्थावली-२' के बाद, ई.स. १९९३ में फिर से एक बार साहित्य अकादमी, दिल्ही के माध्यम से पण्डितवर्य श्री रेवाप्रसादजी को 'रघुवंश' का पाठसम्पादन करने का पुनः मौका मिला । परंतु इस समय भी वल्लभदेव की रघुपञ्चिका (रघुपञ्जिका) टीका का साक्षात् अवलोकन करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ । तथा पूर्ववत् श्रीनन्दरगीरकरजी के संस्करण से ही वल्लभदेव के पाठभेंदों को सीधे अपनाये गये हैं ।

इस तरह कालिदासीय काव्यों के उपलब्ध टीकाकारों में से वल्लभदेव को 'प्रथम' होने का सौभाग्य जरूर मिला है, परंतु 'रघुपञ्चिका' को अपने मूल रूप में, एवं पूर्ण रूप में प्रकाशित होने का तब तक सौभाग्य नहीं मिला था।

(4)

ई.स. १९९८ में कुमारी अर्पिता जी. पटेल के द्वारा गुजरात-विश्वविद्यालय, अहमदाबाद से पीएच.डी. उपाधि हेतु जो शोधकार्य किया गया है, उसमें वल्लभदेवकृत 'रघुपञ्चिका' टीका का समीक्षित पाठसंपादन तैयार किया गया। यहाँ पर जिन पाण्डुलिपियों की सामग्री का विनियोग किया गया है, वे सभी देवनागरी-लिपि में लिखित थी[५] । यह शोधप्रबन्ध अद्यावधि अप्रकाशित है, दूसरी ओर नेधरलेण्ड से 2003 AD में 'रघुपञ्चिका' (Vol.-1) का प्रकाशन

३. The Raghuvaṁśa of Kālidasa, Ed. by Gopal Raghunath Nandargikar, Motilal Banarasidass, Delhi, Fourth edition, 1971 (Introduction, P-13)

४. For this very reason we have adopted the text and commentary of Mallinātha in preference to those of the other commentators, Ibid. p.13

हुआ है । इनके दो सम्पादक है - 1. Dominic Goodall और 2. Harunaga Issacson ये दो पाठसंपादकों ने कुल मिला के १० पाण्डुलिपियों का विनियोग किया है, ये सभी शारदालिपि में ही लिखी गई हैं ।[6] अब इन दोनों सम्पादनों का तुलनात्मक अभ्यास करने से कुछ आश्चर्यजनक एवं विचारप्रेरक बिन्दुएँ सामने आते हैं । जैसा कि - डोमीनीक गुडाल ने अपने 'रघुपञ्चिका' के सम्पादन की प्रस्तावना में लिखा है कि -

We have adverted briefly above to a fundamental split in the transmission of Vallabhadeva's *Raghupañcikā*, for all but one (Ratnākara's *Vakrokti-pañcāśikā*, of the extant commentaries by Vallabhadeva we know that the transmission is similarly divided for of each there are two entirely diffrent editions, in both cases one based entirely on Kashmirian source and one not.[7]

अर्थात् रत्नाकर की 'वक्रोक्तिपञ्चाशिका' टीका को छोड़कर वल्लभदेव ने जिन काव्यों पर टीकायें लिखी है वे सभी पुरातन काल से ही, दो प्रकार की विभिन्न पाठपरंपराओ में प्रवहमान दिखाई पडती हैं । एक शारदा परंपरा

५ इस शोधप्रबन्ध में प्रयुक्त देवनागरी पाण्डुलिपियाँ निम्नोक्त हैं - (१) दवाशा का पाडा, रिलीफरोड, अहमदाबाद. M.S. no. 3112 (2), BORI पूणे से पाँच प्रतियाँ प्राप्त की गई थी:- क्रमांक - 574/449/1887, 88, 89, 90, 91 (Vol. X AII, part II, 229-235), (३) ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट, वडोदरा से MS. NO. 11298 (४) सम्पूर्णानंद सं. वि. वि. MS. No. 42257 तथा (५) अड्यार लाइब्रेरी, चेन्नई से 287 XII, C&35 क्रमांक की एक प्रति (कुल मिलाक कर १८ प्रतियाँ थी, इनमें से पाँच पूर्ण थी उनका विनियोग किया गया है ।)

६. (1) London, India Office ms. 3831a, (2) Ujjain, ms. 4513, (3) BORI, Poona, ms. 83 of 1883&4, (4) Oriental Institute Barodara, ms. 1837 a, (5) Berlin, Janert collection, HS. Or. 11742, (6) British Museum, London, MS. Or. 11746, (7) Gottingen, MS. Sanscr. Vish-109, (8) Ranbir Skt-R&Instti. Jammu, MS-492 (Kashmirian Nagari), (9) Bodleian Library, Oxford, Ms. Stein Or-D-74, (10) Gottingen, Ms. Mu I 58 (Catalogue no. 818).

७. The Raghu-pañcikā of Vallabha Deva (Vol. 1), Ed. by Daminic Goodall & Harunaga Isaacson, Egbert Forsten (Netherlands), 2003, Introduction (p. 21)

और दूसरी देवनागरी परम्परा । इन दोंनो से शारदा-परम्परा में प्रवाहित वल्लभदेव की टीका को 'रघुपञ्चिका' के नाम से पहचानी जाती है । और देवनागरी-परम्परा में जो टीका प्रवाहित हुई है उसे 'रघुपञ्जिका' के नाम से पहचानी जाती है । परंतु इन दोनों टीकाओं की तुलना करने से मालूम होता है कि दोनों परम्पराओं की टीका के पाठ का स्वरूप परस्पर में सर्वथा भिन्न ही है । तद्यथा-

देवनागरी परम्परा की 'रघुपञ्जिका' टीका में -

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥
(रघु. १-१०)

(टीका) तं सन्तः ०॥ सन्तो महात्मानः । तं वंशं श्रोतुमर्हन्ति । किं भूताः सन्तः । सदसद्व्यक्तिहेतवः, शुभाशुभव्यक्ति (कारणां) हि निश्चितम् । हेम्नः सुवर्णस्य विशुद्धिः वा अथवा श्यामिकापि अग्नौ वैश्वानरविषये संलक्ष्यते । विमलता मलिनताऽपि वह्नौ दृश्यते ॥

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीभृतामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ (रघु. १.११)

(टीका) वैवस्वतो ०॥ विवस्वतः । मनुर्नाम राजा आसीत् नृपो बभूव। किं भूतो राजा ? मनीषिणां माननीयः, विदूषां पूजनीयः । अपरं किं भूतो राजा ? महीभृताम् आद्यः, राज्ञामग्रणी यः । क इव ? प्रणव इव । यथा प्रणवकारः छन्दसामाद्यो भवति ॥

यहाँ 'रघुपञ्जिका' में 'कथम्भूतिनी' प्रकार की टीका दिखाई दे रही है । तथा उसमें 'महीभृताम्' पाठ को स्वीकारा गया है ॥

अब इन्हीं दो श्लोकों को शारदापरम्परावाली 'रघुपञ्चिका' में टीका का कैसा स्वरूप है, वह देखा जाय तो -

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥ (रघु. १.१०)

(टीका) साधवोऽन्वयमाकर्णयितुं योग्या भवन्ति, न त्वन्ये । यतः

शोभनाशोभनयोः प्रकाशकारणभूताः । यस्मात् सुवर्णस्य नैर्मल्यमौज्ज्वल्यं मलश्च वह्नौ जनेन दृश्यते, न तु जलादिके । इह च वंशक्रमो हरिवंशपुराणाश्रितो, न तु रामायणाश्रितः॥

तमेव वंशं वर्णयितुमाह–

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ (रघु. १.११)

(टीका) मनुः. प्रसिद्धो रविजो भूमिं क्षिपन्ति फलनार्थ निवसन्तीति राजानस्तेषां प्रथमो बभूव । बुद्धिमतां पूज्यः । यथा वेदानां पूर्वम् ओङ्कारोऽभूत्। सोऽपि बुद्धिमतां पूज्यः । (पृ. ७-८)

यहाँ 'रघुपञ्चिका' टीका का स्वरूप 'कथंभूतिनी' प्रकार का नहीं है, तथा 'महीभृताम्'(१-११) के स्थान पर 'महीक्षिताम्' ऐसा पाठभेद स्वीकारा गया है ।

अब इन दोनों परम्पराओं के पाठ की अनेक तरह से तुलना अपेक्षित है - (क) दोनों परम्परा में उद्धृत किया गया महाकवि कालिदास के श्लोक का पाठ क्या समान है ? तथा (ख) दोनों टीकाओं की वाक्यमाला पूर्णतः या आंशिक रूप से भी क्या समान है ? तो इन दोनों प्रश्न का उत्तर नकार में है । (ग) एक तीसरी तरह से भी तुलना करणीय है । क्या दोनों परम्परा में श्लोकसंख्या तथा श्लोकक्रम समान है ? तो इनका उत्तर भी निषेधात्मक है । और (घ) चौथी दृष्टि से तुलना की जाय तो देवनागरी परम्परावाली रघुपञ्जिका - टीका को 'कथंभूतिनी' टीका कहनी चाहिए, जब कि शारदा - परम्परावाली टीका ऐसी नहीं है । अर्थात् शारदा-परम्परा की 'रघुपञ्चिका' में तथा देवनागरी परम्परा की 'रघुपञ्जिका' में संचरित हुई टीकाओं में वल्लभदेव द्वारा उद्धृत कवि कालिदास का श्लोक, तथा दोनों में प्रस्तुत हुई टीकायें परस्पर सर्वथा भिन्न है । अतः प्रश्न ऊठता है कि वल्लभदेव की टीका को शारदापरम्परा में संचरित करनेवाली 'रघुपञ्चिका' मौलिक (Original) होगी, या देवनागरी-परम्परा में संचरित होनेवाली 'रघुपञ्जिका' मौलिक होगी ? यदि दोनों परम्परा के श्लोकपाठ में, एवं टीकापाठ में सर्वथा विभिन्नता है तो, पाठालोचन की प्रक्रिया में सहायक-सामग्री के रूप में वल्लभदेवकृत मानी जाती 'रघुपञ्चिका'

और 'रघुपञ्जिका' में से किसका विनियोग किया जाय ? यह प्रश्न दुःसाध्य बन जाता है ।

(5)

'रघुपञ्चिका' (शारदापरम्परा) द्वारा उद्धृत रघुवंश के श्लोकों का पाठ, तथा 'रघुपञ्जिका' (देवनागरीपरम्परा) द्वारा उद्धृत रघुवंश के श्लोकों का पाठ भी अनेक स्थान पर परस्पर से भिन्न है । इसके कतिपय अन्य उदाहरण देखेंगे-

(१) श्री नन्दरगीकरजी ने वल्लभदेव के नाम से 'तदन्वये' इति रघुवंश (१-१२) श्लोक का एक पाठान्तर 'राजेन्द्रः' दिया है । यह पाठान्तर रघुपञ्जिका टीका में दिखाई दे रहा है । और 'रघुपञ्चिका' टीका में 'राजेन्दुः' पाठ को स्वीकार किया गया है ।

(२) श्री नन्दरगीकरजी के द्वारा रघुवंश (प्रथमसर्ग के) मूलपाठ में 'संतानार्थाय.... (१-३४) 'श्लोक को अधिकृतपाठ के रूप में रखा गया है । परन्तु 'रघुपञ्चिका' में यह श्लोक ही नहीं है । दूसरी और रघुपञ्जिका टीका में यह श्लोक को उद्धृत करके, उस पर टीका भी लिखी गई है ।

(३) श्री नन्दरगीरकरजी ने 'सेव्यमानौ....' इति (रघुवंश १-३८) श्लोक के पाठान्तरों में वल्लभदेव के नाम से 'उत्करैः' शब्द को दिया है । परन्तु 'रघुपञ्चिका' में 'उत्किरैः' ऐसे पाठभेद को माना गया है । जब कि 'रघुपञ्जिका' में तो 'उत्करैः' ऐसे पाठान्तर को मान्यता दी गई है ।

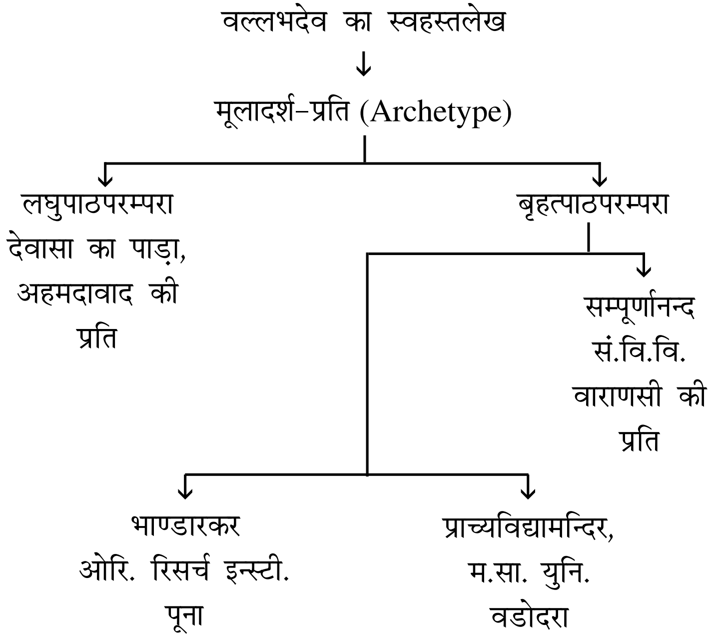
(५) श्री नन्दरगीकरजी ने 'रघुवंश' (१-४९) में 'वनान्तराद्...' इति श्लोक का पाठान्तर 'स्कन्धसद्र समित्कुशैः' ऐसा पादटिप्पणी में वल्लभदेव के नाम से दिया है । जो 'रघुपञ्जिका' की टीका में स्वीकृत है । परंतु 'रघुपञ्चिका' में तो 'समितिकुशफलाहारैः'' ऐसे पाठ को मान्यता दी गई है ।

(५) श्री नन्दरगीकरजी ने रघुवंश (१-४९) में वनान्तरादुपावृतैः इति श्लोक के उत्तरार्ध के पाठान्तर के रूप में, वल्लभदेव के नाम से 'अग्निप्रत्युद्गमात् पूतैः पूर्यमाणं तपस्विभिः ।' को दिया है । यह पाठ शारदापरम्परावाली 'रघुपञ्चिका' टीका में है । परंतु देवनागरीपरम्परावाली 'रघुपञ्जिका' टीका में तो 'पूर्यमाणमखश्यामाग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः' ऐसा पाठ स्वीकारा

गया है ।

उपर्युक्त पाँच तुलनात्मक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो रहा है कि श्रीनन्दरगीकरजीने वल्लभदेव के नाम से जो पाठान्तर पादटिप्पणी में रखें है उनमें के कतिपय 'रघुपञ्जिका' टीका में से लिये गये हैं, तो अन्तिम दो उदाहरण (४ एवं ५) ऐसा बता रहा है कि श्रीनन्दरगीकरजी ने वल्लभदेव के नाम से दिये हुए पाठान्तर शारदापरम्परावाली 'रघुपञ्चिका' टीका में से लिये हैं । अतः, एक यक्ष-प्रश्न उठ खड़ा होता है कि 'रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' टीकाओं में से कौन सी टीका कश्मीरदेश-निवासी आनन्ददेवायनि वल्लभदेव ने लिखी होगी ?

मेरे मार्गदर्शन में सम्पन्न हुए डा. अर्पिता जी. पटेल के शोधप्रबन्ध में यद्यपि शारदालिपि में लिखी गई एक भी पाण्डुलिपि का विनियोग नहीं किया गया है, तथा उसकी परम्परा 'रघुपञ्चिका' से भिन्न है – यह बात ध्यान में ही नहीं आई थी । परंतु उन्होंने यह बात जरूर बताई है कि (केवल) देवनागरी परम्परावाली 'रघुपञ्जिका' टीका (भी) दो स्वरूपों में प्रवाहित हुई है !–



(6)

'कुमारसम्भव' महाकाव्य पर वल्लभदेव ने जो टीका लिखी है, और डा. गौतम पटेल ने जिसका सम्पादन किया है वह भी तीन तरह ही पाठपरंपरा में प्रवाहित हुई है – ऐसा डा. पटेल ने अनुमान किया है। जैसे कि १. लघुटीका २. बृहट्टीका तथा ३. सारोद्धारा टीका । लेकिन एक ही टीकाकार के द्वारा लिखी गई एक ही टीका के तीन-तीन स्वरूप कैसे और क्यूँ बनें ? ऐसा प्रश्न स्वाभाविक रूप से किसी को भी हो सकता है, लेकिन डा. गौतम पटेल को ऐसा प्रश्न हुआ ही नहीं । अतः उनके सम्पादन के विषय में भी दो-तीन नुक्ताचीनी करनी आवश्यक बन जाती हैं – (१) डा. पटेल शारदालिपि नहीं जानते थे, इसलिए पूणें स्थित श्री भावसारजी की साहाय्य से उन्होंने शारदा के केवल पाठान्तर उल्लिखित करके संतोष माना है । उन्होंने शारदालिपिवाले पाठ से देवनागरी पाठपरम्परा सर्वथा भिन्न है कि नहीं ? इस प्रश्न पर विचारणा नहीं की थी । तथा (२) डा. पटेल जिसको 'भ' (भाण्डारकर ओरि. इन्स्टी.वाली) पाण्डुलिपि के पाठ को 'बृहट्टीका' वाली परम्परा कहते हैं, वह भी उचित नहीं है । क्योंकि उनके सम्पादन में कहीं पर भी पादटिप्पणी में 'भ' का अधिकपाठ उल्लिखित ही नहीं किया है। वस्तुतः 'व' (विश्वेश्वरानंद), 'न' (नेवारी), एवं 'ब' (बरोडा), तथा 'शा.' (शारदा), एवं 'ल' (एल.डी. इण्डोलोजी) पाण्डुलिपियों के पाठ को ही 'बृहट्टीका' के रूप में घोषित करना चाहिए – ऐसी पादटिप्पणियाँ देखकर साफ प्रतीत होता है । (३) 'मु.शा.' (नारायण मूर्ति, सम्पादित और जर्मनी से प्रकाशित शारदापाठवाली वल्लभदेव की) टीका को भी 'बृहट्टीका' कहनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक श्लोक की टीका के अंतिम भाग में व्याकरणविषयक चर्चा करनेवाला कुछ अधिकांश दिखाई पडता है, जो डा. पटेल ने पादटिप्पणी में रखा है । (३) सम्भवतः रघुवंश की तरह कुमारसम्भव पर वल्लभदेव के द्वारा जो टीका लिखी गई है, वह भी दो-तीन परम्परा में प्रवाहित हुई है ऐसा यदि दिख रहा था तो उनमें से कौन सी परम्परा का पाठ मौलिक होगा ? यह भी गवेषणीय था । लेकिन डा. गौतम पटेल ने ऐसे गम्भीरतम प्रश्न को उठाया ही नहीं है । सारभूत रूप से कहना होगा कि वल्लभदेव की टीका चाहे वह रघुवंश पर लिखी गई हो, या 'कुमारसम्भव' पर लिखी गई हो उसका मौलिक रूप न केवल प्रदूषित ही

हुआ है, परंतु सर्वथा बदल भी गया है, और उसका जो द्वैविध्य दिखाई दे रहा है, वह उस टीका की द्विकर्तृकता को ढूँढने के लिये हमें बाध्य करता है ।

(7)

वल्लभदेव ने कालिदास के मेघदूत पर भी टीका लिखी है । इस टीका के भी दो तरह के संस्करण अद्याविद्य प्रकाशित हुए हैं । यदि इन दोनों का भी तुलनात्मक अभ्यास किया जायेगा तो ऐसा ही नतीजा सामने आयेगा ।

(8)

उपसंहार: रघुवंश के पाठसम्पादकों में से (१) श्री नन्दरगीकरजी ने टीकाकारों के पास संचरित हुए 'रघुवंश' के पाठ को द्विविध शाखाओं में विभक्त जरूर किया है । जिसमें वल्लभदेव, हेमाद्रि तथा चारित्रवर्द्धन की एक समान पाठपम्परा, और दूसरी पाठपरम्परा जो मल्लिनाथ द्वारा अनुसृत है – वह दोनों को अलग पहचानी गई है । परंतु वल्लभदेवकृत मानी जानेवाली 'रघुपञ्चिका' और 'रघुपञ्जिका' में से कौन सी टीका को मौलिक मानी जाय? यह समस्या नहीं पहचानी है । (२) पण्डितमूर्धन्य श्री रेवाप्रसाद द्विवेदीजी भी वल्लभदेव की टीका के द्वैविध्य की समस्या से अभिज्ञ नहीं थे । ऐसी स्थिति में कहना होगा कि 'रघुपञ्चिका' बनाम 'रघुपञ्जिका' के टीकाकार (आनन्द देवयानि) वल्लभदेव समय की दृष्टि से प्रथम टीकाकार हो तो भी, जब तक 'रघुपञ्चिका' या 'रघुपञ्जिका' की मौलिकता का संशय निरस्त नहीं किया जाता है तब तक पाठालोचन में ('रघुवंश' के पाठोद्धार के लिए) वल्लभदेव की टीका का 'सहायक-सामग्री' के रूप में विनियोग नहीं किया जा सकता है ।

*कालिदास-समारोह (9-15 Nov. 2008) विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जयिनी में प्रस्तुत शोध-आलेख ।

उपक्रम-5

राम का वनप्रवेश एवं महाकवि का परकायाप्रवेश

आदिकाव्य रामायण की रामकथा का महाकवि कालिदास ने रघुवंश में पुनःकथन किया है । रघुवंश के १० से १५ सर्गपर्यन्त, अर्थात् कुल छ सर्गो में यह पुनःकथन प्राप्त होता है । परंतु इन छ सर्गों में से बारहवाँ सर्ग केन्द्रवर्ती है । क्योंकि कि इस सर्ग में महकाविने रामायण के अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड और युद्धकाण्ड (कुल मिला कर पाँच काण्ड) की संपूर्ण कथा को केवल एक ही श्वास में (एक ही सर्ग में) कह दी है । रामकथा मूल में अतिविस्तृत फलक पर कही गई है । उसीको महाकवि कालिदास जब केवल एक ही सर्ग में प्रस्तुत करना चाहते हैं तब स्वाभाविक ही है कि यह मूल कथा को कहने मे क्षिप्रगामी भी बनेंगे एवं संक्षेपवाची भी बनेंगे । परंतु जैसे ही क्षिप्रता एवं संक्षेप का काव्य में प्रवेश होता है, वहीं पर कवि की परीक्षा शूरू होती है ।

बीस हजार से भी अधिक श्लोकों में कही गई रामकथा कालिदास ने केवल १०४ श्लोको में ही सीमट कर रख दी है । इस संक्षेप का महिमा तो तब नीखर कर सामने आता है कि जब यह देखा जाता है कि कवि कालिदास ने यहाँ बारहवें सर्ग में शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसा अधिकाक्षरों वाला वृत्त भी उपयोग में नहीं लिया है । परंतु अष्टाक्षर गायत्रपादवाला अनुष्टुप् छन्द ही उपयोग में लिया है । दूसरा ज्ञातव्य बिन्दु यह भी है कि मूलकथा के विस्तार का संक्षेपीकरण करते समय महाकवि कुत्रचिद् भी अपनी वैदर्भी शैली को छोड़ते नहीं हैं । महाकवि की वर्णनकला की यह भी एक परम सिद्धि है ।

(२)

किन्तु किसी भी कवि के पास केवल वर्णनकला होने से तो काव्य बनता नहीं है । क्योंकि कहा गया है :-

''वर्णनाद् दर्शनाच्चैव कविरित्युच्यते ॥''

वर्णन के साथ साथ कवि में दर्शन-क्षमता भी होनी चाहिए । 'कवि' वही है, जो क्रान्तद्रष्टा होता है । जिसका प्रातिभ-चक्षु भूत-भविष्य-वर्तमान में अव्याहत गति से देख सकता है, वही 'कवि' है । और जो वर्ण्यकथा के विभिन्न पात्रों के मनोगत भावों को जानने के लिए परकाया प्रवेश भी कर सकता है, वही कवि है । क्योंकि जिस स्थल-काल को कविने देखा हो या जो परिस्थिति का कविने स्वंय अनुभव किया हो उसका तो वह यथावत् वर्णन कर सकता है । परंतु जो ऐतिहासिक पात्र होते हैं उनके व्यक्तित्व को आकारित करने के लिए तो कवि के पास परकाया प्रवेश की असाधारण शक्ति होनी ही चाहिए। कवि में ऐसी शक्ति होने पर ही अतीत के पात्रों का चरित्रचित्रण पाठकों के लिए प्रतीतकर हो सकता है । रघुवंश के द्वादशसर्ग से कुछ उदाहरण लेकर, उपर्युक्त विचार का अब समर्थन किया जायेगा ॥

(३)

महाकवि ने द्वादश-सर्ग के प्रारंभ में, राम के राज्याभिषेक का निरूपण किया है । कोपभवन में प्रविष्ट हुई कैकेयी की दुःखदायिनी भूमिका, जो मूल में बड़े विस्तार से आदिकविने वर्णित की है, उसको महाकविने एक ही श्लोक में यहाँ प्रस्तुत किया है:-

तस्याभिषेकसंभारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
दूषयामास कैकेयी, शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥

– रघुवंशम् (१२-४)

यहाँ पर, कैकेयी के मनोगत-भावों को अपने प्रातिभ चक्षु से साक्षात् करते हुए महाकवि ने केवल एक की शब्द में कहा है । कैकेयी राम के राज्याभिषेक के समय पर क्या थी, जिसके परिणाम स्वरूप राम का दण्डकारण्य में प्रवेश हुआ- इसको कहने के लिए- क्रूरनिश्चया- यह एक शब्द सर्वथा यथार्थ है । दूसरी और, जो बात मूल रामायण में नहीं है, वह महाकवि ने साक्षात्

की है:- राम, सीता, और लक्ष्मण वन की और प्रस्थान करते है, तब कैकेयी सीता को वन में जाने से रोकती है । किन्तु सीताजी कैकेयी के प्रस्ताव को स्वीकारती नहीं है :-

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥

– रघुवंशम् (१२-२६)

''विदेहाधिपति की पुत्री (सीता) कैकेयी के द्वारा वनगमन से रोकी जाती है, फिर भी गुणोन्मुखी लक्ष्मी की तरह वह सीता राम का (ही) अनुगमन करती हुई सुशोभित हुई ॥ यहाँ पर महाकवि ने 'क्रूरनिश्चया' कह कर जिस कैकेयी का पूर्वपरिचय दे रखा है, वह जब सीता को वनगमन से रोकती है, उसमें भी कुछ पाप छीपा होगा – ऐसे एक दर्शन की ओर कविने इङ्गित किया है। महाकवि इस बात की ओर अंगुलनिर्देश करते है कि कैकेयी सीताजी को वनगमन से रोक कर, एक निर्वासित राजकुमार की पत्नी को नये राजा भरत की पत्नी बनाना भी सोच रही थी । परंतु सीताजी इसी क्षण पर राजमहल के सुख ठुकरा कर या कैकेयी की कुमति को ठीक तरह से पहचान कर राम का अनुगमन करना पसंद करती है। मूल रामायण में कैकेयी ने प्रसिद्ध दो वरदान मांग कर संतोष जताया है, परंतु महाकवि कालिदासने तो कैकेयी के मन में छीपे हुए एक दारुण भयंकर दूरित को भी आविष्कृत किया है। ध्वनित किया है ।

(४)

मूल रामायण में दशरथ पुत्रमोहग्रस्त पिता एवं स्त्रीपरवश पति के रूप में दिखाई पड़ते हैं । परंतु कालिदास ने दशरथ की मौत का निरूपण करते समय एक धीरोदात्त रघुवंशी राजा को शोभा देनेवाला व्यक्तित्व ही बताया है।

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभम् अमन्यत ॥

– रघुवंशम् (१२-१०)

''राजा दशरथ यद्यपि राम के वियोग से दुःखी हुए, किंतु अपने किये हुए कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए शाप को याद करके, यह निश्चय बना लेते

हैं कि अब मुजे शरीर छोडकर ही (शाप से) शुद्धि प्राप्त करनी होगी। मनुष्य को अपने जीवन की अंतिम क्षणो में, पुत्रादि का मोह छोड़कर अपने कर्मों का फल भुगतने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। एक उदात्त व्यक्ति को शोभा देनेवाली ऐसी विचारधारा वाले दशरथ को दिखाकर महाकविने अपने रघुवंशी राजाओं के चरित का सातत्य बनायें रखा है। ''वार्द्धके मुनिवृत्तीनाम्'' और 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'' वाले जिस आदर्श राजवंश का वर्णन करने के लिए महाकवि उद्यत हुए है, वह एक स्त्रीपरवश पति तथा पुत्रमोहग्रस्त पिता का निरूपण नहीं कर सकते हैं। अतः आदिकवि से अलग हो कर महाकवि कालिदास को ऐसे एक धीरोदात्त दशरथ का 'दर्शन' करना जरूरी था।

(५)

लक्ष्मण के द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान काटे गये। वह खर-दूषणादि के पास जाकर, राम के विरुद्ध सभी राक्षसों को उकसाती है। जिसके कारण हजारों की संख्या में राक्षसों राम के उपर आक्रमण कर देते हैं। राम सीताजी की रक्षा के लिए लक्ष्मण को नियुक्त करके, अकेले ही युद्ध के लिए सोत्साह संनद्ध हो जाते है। अब वाचक को प्रश्न होगा की अकेले राम कैसे हजारों राक्षसों के सामने लड़े होंगे? कवि अतीत में एवं परोक्ष में लडे गये युद्ध की झलक अपने प्रातिभ चक्षु से देख लेते हैं; और उसका वर्णन करते हुए लिखते है कि -

एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः।
ते तु यावन्त एवाजौ तावद्धा ददृशे स तैः ॥

- रघुवंशम् (१२-४५)

दाशरथि राम तो निश्चित ही अकेले थे, और सामने यातुधानों हजारों की संख्या में थे। फिर भी रणसंग्राम में जितने राक्षस लोग दिखाई दे रहे थे, उतने ही राम भी दिखाई देते थे ॥

कवि का कहने का तात्पर्य ऐसा है कि राम तो दाशरथि थे - एक मानवपुत्र थे - वह कोई यातुधान (जादु करनेवाले, अर्थात् मायावी) नहीं थे, मायावी तो वे राक्षस लोग थे। फिर भी राम हजारों की संख्या में कैसे दिखाई दे रहे थे ? तो युद्ध के दौरान राम शीघ्रातिशीघ्र गति से, यहाँ से वहाँ ऐसे

दौडते रहते थे कि वह एक होते हुए भी अनेक दिखाई दे रहे थे। इस तरह कवि ने अपने प्रातिभ चक्षु से राम का जो साक्षात्कार किया होगा, उसका वर्णन हमें पाठक को अपने वर्तमान स्थलकाल से बाहर नीकाल के, तत्कालीन युद्धभूमि पर ले चलते हैं। महाकवि कालिदास का यह महावीर राम में परकाया प्रवेश है।

(६)

दक्षिण सागर के किनारे पहुँचे वानरों की भेंट संपाति से होती है। रावण सीता को लंकाद्वीप में ले गया है -- यह सुनकर वानरों के लिए समुद्रोल्लंघन करना आवश्यक बन जाता है। अतः हनुमानजी अपनी अप्रतिम शक्ति का प्रदर्शन करते हुए विकराल रूप को धारण करते हैं - ऐसा अद्भूत रस से परिपूर्ण एवं अतिविस्तृत वर्णन वाल्मीकि ने मूल में किया है। परंतु कालिदास तो वर्णन के विस्तार को अवकाश ही नहीं देना चाहते हैं। अतः ''श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः'' वाली प्रतिज्ञा को चरितार्थ करते हुए महाकवि कहते हैं कि -

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः संपातिदर्शनात्।
मारुतिः सागरं तीर्णः, संसारमिव निर्ममः ॥

- रघुवंशम् (१२-६०)

''संपाति के मिल जाने से (वानरों को) सीताजी का वृत्तान्त प्राप्त हो जाने पर, जैसे कोई निर्मम (विरक्त) व्यक्ति संसार को पार कर लेता है, वैसे मारुति ने सागर को पार कर लिया।''

यहाँ महाकवि ने मूल रामायण में हनुमानजी के जो अतुलित बल का प्रदर्शन हुआ है, उसकी पुनरुक्ति नहीं की है। परंतु कालिदास ने एक दूसरी ही दृष्टि से हनुमानजी का 'दर्शन' किया है। यहाँ हनुमानजी के लिए जो 'निर्मम' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह अतीव ध्यानास्पद है। यथा- (१) निर्मम व्यक्ति को संसार तुच्छ प्रतीत होता है, वैसे ही मारुति को सागर तुच्छ प्रतीत हुआ, और वह उसको पार कर गये। एवमेव (२) यदि संसार दुस्तर है, तो सागर भी अपार है। ऐसी स्थिति में यदि समुद्रोल्लंघन करने का साहस जुटाना है तो व्यक्ति को 'निर्मम' (अपने जीवन के प्रति असक्ति विहीन) होना

अनिवार्य बन जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने संभवित मौत का विचार करेगा तो अपार एवं अगाध सागर को लांघने का विचार ही नहीं करेगा । किन्तु हनुमानजी ने तो अपने जीवन का अन्त हो जाय तो भी कार्यसिद्धि करने के संकल्प के साथ उत्प्लवन कर दिया। वाल्मीकि ने हनुमानजी की अपूर्व शक्ति का गान किया है । परंतु कालिदास ने अपने कविदर्शन से हनुमानजी की आत्मसमर्पण-भावना को सही अर्थ में देखा है, और उसे केवल एक - निर्मम-शब्द से उजागर किया है। स्पष्ट है कि महाकवि कालिदास ने मारुति का जो 'दर्शन' एक ही - निर्मम-शब्द से व्यक्त किया है वह अधिक स्पृहणीय है। मारुति का ऐसा जो अभूतपूर्व दर्शन महाकवि ने किया है, वह उनकी परकाया प्रवेश की प्रातिभ शक्ति का निदर्श है ।

संक्षेप में कहे तो वर्णन के विस्तार से महाकवि-पद की प्राप्ति नहीं होती है । अरे ! वर्णन के साथ-साथ यदि 'दर्शन' नहीं है तो कविपद की भी प्राप्ति सम्भव नहीं है। अर्थात् यदि दर्शनपूर्वक का वर्णन नहीं है तो कविपद अलभ्य ही रहेगा ॥

* विक्रम विश्वविद्यालय एवं कालिदास अकादमी द्वारा आयोजित ५०वाँ कालिदास-समारोह (१-७ नवम्बर २००६) उज्जैन में प्रस्तुत किया गया लेख

उपक्रम-6

कुमारसम्भव की 'सञ्जीविनी' टीका का स्वारस्य*

भूमिका : संस्कृत-साहित्य के पञ्च-महाकाव्य, संस्कृत साहित्य के पञ्चप्राण समान है या संस्कृतसाहित्यमन्दिर के प्रारम्भिक पञ्च सोपान है, ऐसा कहने में कोई दोष नहीं होगा। इन पञ्च महाकाव्यों के उपर टीकाकार मल्लिनाथ ने जो 'सञ्जीविनी' इत्यादि टीकाएँ लिखी है, वे भी यथार्थ है । क्योंकि महाकविओं के द्वारा काव्यसर्जन हो जाने के बाद कालान्तर में कविओं का अभीष्टार्थ कुत्रचित् विस्मृत भी हो जाता है, या कदाचित् विपथगामी भी हो सकता है । 'कुमारसम्भव' काव्य की रचना प्रायः ईसा के पूर्व हुई थी, और उसके अनेक उपलब्ध टीकाकारों में से स्थिरदेव एवं वल्लभदेव अष्टम एवं नवम शताब्दी के है। अर्थात् कालिदास एवं इन उपलब्ध टीकाकारों के बीच ८००-९०० वर्षो का अन्तराल पड़ गया है । इन टीकाकारों की भी लम्बी परम्परा है, जिसमें मल्लिनाथ जैसे टीकाकार तो चौदहवीं शताब्दी में हुए हैं । अर्थात् प्रारम्भिक समय के वल्लभदेव और पश्चात् कालिक मल्लिनाथ के बीच भी पाँचसो वर्षों का अन्तराल है। ऐसी स्थिति में 'कुमारसम्भव' की टीका लिखते समय मल्लिनाथ ने लिखा है कि -

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या-विष-मूर्छिता ।
एषा '**सञ्जीविनी**' व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति ॥

* कालिदास-समारोह, (२२-२६ नवे. २००४) विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में प्रस्तुत शोधलेख ।

इस श्लोक[1] की ओर ध्यान देने से मालूम होता है कि मल्लिनाथ की दृष्टि से उनके पुरोगामी टीकाकारों ने जो टीकायें लिखी थी वे सभी 'कुमारसम्भव' के काव्यार्थ को विपथगामी बनानेवालीं थी। पुरोगामी टीकाकारों में प्रमुख है : वल्लभदेव। अतः उनकी टीका की ओर अंगुलनिर्देश करते हुए मल्लिनाथ कहते हैं कि वल्लभदेव जैसे टीकाकारों की कलम से कालिदास की काव्यवाणी ''दुर्व्याख्या-विष-मूर्छिता'' हुई है, उसको 'सञ्जीविनी' टीका से पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है।

अतः प्रस्तुत लेख में 'कुमारसम्भव' के कतिपय श्लोकों को, उदाहरण के रूप में लेकर, देखना होगा की वल्लभदेव की टीका में कहाँ पर न्यूनता या अपार्थता है, और ऐसे विपथगामी अर्थघटनों को दूर हटाने के लिए मल्लिनाथ कौन सी नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यह तो सर्वजनविदित है कि मल्लिनाथ किसी भी महाकाव्य की व्याख्या का प्रारंभ करने से पहले, निम्नोक्त श्लोक से अपनी एक सामान्य 'इतिकर्तव्यता' सुस्पष्ट कर देते हैं :

इहान्वयमुखेनैव[2] सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते[3] किञ्चिन्नानपेक्षितम्[4] उच्यते ॥

इस तरह त्रिगुणात्मिका टीका लिखनेवाले मल्लिनाथ जब 'कुमारसम्भव' की टीका लिखने का आरंभ करते हैं, और उसको 'सञ्जीविनी' जैसा साभिप्राय नामाभिधान देते हैं, तो इसके पीछे कोई 'पूर्वभूमिका' के रूप में, वल्लभदेव जैसे पुरोगामी टीकाकार की टीका उनके मनश्चक्षुः के सामने हैं। अतः इन दोनों टीकाकारों की कुछ तुलना की जाय तो वह कालिदासानुरागी विद्वानों के लिए रसप्रद सिद्ध होगी, और मल्लिनाथ की एक सामान्य टीकाकार के रूप में जो इतिकर्तव्यता हो सकती है, उससे बाहर नीकल कर देखा जाय तो क्या

१. कुमारसम्भवम् (सञ्जीविन्या टीकया समेतम्) सं... वासुदेव ल. पणशीकर, निर्णयसागर-प्रेस, मुंबई, १९१२, (पृ. ५)
२. कुमारसम्भवम् (श्री आनन्ददेवायनिवल्लभदेवविरचितया पञ्जिकया समेतम्) सं. डॉ. गौतम पटेल, अहमदाबाद-१९८६, पृ. ११०
३. कुमारसम्भवमहाकाव्यम्, (मल्लिनाथ, चारित्रवर्धन एवं सीताराम कृत टीकात्रयतिलकितम्), प्रका.० नाग प्रकाशक, दिल्ली रीप्रिन्ट १९८९ (पृ. ८२)
४. कुमारसम्भवम् सं० गौतम पटेल, (पृ० ९९)

विशेष इतिकर्तव्यता उभर कर हमारे सामने आती है? वह भी स्पष्ट हो जायेगा।

(१)

महाकवि कालिदास कविताकामिनी का विलास है, और व्यञ्जना के स्वामी है। अतः टीकाकार से, हमारी एक वाचक के रूप में यह अपेक्षा / उम्मीद रहती है कि वह काव्य की प्रत्येक पंक्ति एवं प्रत्येक शब्द का सूक्ष्मेक्षिका से परीक्षण करके सभी व्यञ्जना-स्थानों का प्रदर्शन करे, और काव्य की भावसृष्टि का रसास्वाद कराये। उदाहरण के रूप में एक श्लोक लेते हैं :-

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥[5]

(कु० ३-६७)

वल्लभदेव इस श्लोक पर अपनी 'पञ्जिका' टीका में लिखते हैं कि - अथ (हरः) भगवान् (उमामुखे) पार्वतीमुखे दृष्टिम् अक्षिपत्। यतः स्मरशरप्रहारवशात् किञ्चित् परिवृत्तधैर्यः ईषद् चलितगाम्भीर्यः। (चन्द्रोदयारम्भे) शशिकरस्पर्शत्वात् (अम्बुराशिः) उदधिः इव। (बिम्बफलाधरोष्ठे) बिम्बवत् लोहितोऽधरोष्ठो यस्येत्यभिलाषाप्रदर्शनपरं मुखविशेषणम्। अथार्थे तुशब्दः। द्विपक्षे मुक्तमर्यादत्वात् ॥

यहाँ पर वल्लभदेव ने केवल इतना ही लिखा है कि भगवान् शंकर ने पार्वती के मुख पर दृष्टिपात किया। और आगे इतना लिखा है कि 'बिम्बफलाधरोष्ठ' शब्द से पार्वती को प्राप्त करने की शंकर की अभिलाषा प्रदर्शित होती है। वल्लभदेव ने इससे अधिक कुछ नहीं लिखा है।

वस्तुतः महाकवि ने इस श्लोक में जो 'व्यापारयामास विलोचनानि शब्दों में बहुवचन का प्रयोग किया है, वह अतीव ध्यानास्पद है। क्योंकि सामान्यरूप से तो 'लोचन' शब्द केवल नित्य द्विवचनान्त ही मिलता है। परंतु प्रस्तुत काव्य में तो भगवान् त्रिलोचन शंकर नायक के रूप में वर्णित हैं। अतः शंकर का धैर्य किञ्चित् लुप्त होने पर दो नहीं, तीनों नेत्र उमा के मुख पर व्यापारित होते हैं - यह बात कवि बहुवचन के प्रयोग के द्वारा व्यञ्जित कर

५. कुमारसम्भवम् (नागप्रकाशक), (पृ० ७४)

रहे है । इस व्यञ्जना की ओर वल्लभदेव का ध्यान आकर्षित ही नहीं हुआ है, वह आघातजनक है ।

परंतु मल्लिनाथ ने अपनी 'सञ्जीविनी' टीका में प्रकट शब्दों में लिखा है कि – त्रिभिरपि लोचनैः साभिलाषम् अद्राक्षीद् इत्यर्थः । एतेन भगवतो रतिभावोदय उक्तः ।[६]

अर्थात् भगवान् शंकर ने अपनी तीनों आँखों से पार्वती के मुखसौन्दर्य का पान किया । शंकर के मन में रतिरूप स्थायीभाव का उदय होने पर ही शृंगार का प्राकट्य होता है। यदि इस 'विलोचनानि' जैसे महत्त्वपूर्ण बहुवचनान्त शब्दप्रयोग पर वल्लभदेव का ध्यान नहीं जाता है, तो वह महाकवि के काव्य की व्यञ्जना को उद्घाटित करने में सफल नहीं रहे, ऐसा कहना होगा।

(२)

टीकाकार वल्लभदेव कालिदास के शब्द-संचयन को भी शायद ठीक तरह से नहीं जान सके थे । इस बात का द्योतक प्रमाण निम्नोक्त है :-

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥ (कु० ३-४४)

कामदेव ने देवदारु वृक्ष की वेदिका पर, शार्दूलचर्म बिछा कर बैठे हुए ''त्रियम्बक शंकर'' को देखा । – इस श्लोक में आये हुए ''त्रियम्बक'' जैसे वैदिक शब्दप्रयोग पर वल्लभदेव लिखते हैं कि – ''पादपूरणार्थम् इयादीनां छन्दसि विधानात् भाषायां त्रियम्बक-शब्द इति प्रयोगो दुर्लभः (तस्मात्) 'महेश्वरम्' इति पठनीयम् । 'त्रिलोचन' इत्युपरचितपदन्यासेन तृतीयनेत्रत्वात् कामदेहदाहं सूचयति ।''[७]

यहाँ पर वल्लभदेव की दृष्टि से 'त्र्यम्बक' शब्द के स्थान पर महाकवि कालिदास ने जो 'त्रियम्बक' ऐसे वैदिक शब्द का प्रयोग किया है, वह ''दुर्लभ'' है, अर्थात् दूसरे किसी भी कवि ने ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं किया है। छन्दोबद्ध रचना के अवसर पर यदि पादपूर्ति (=अक्षरपूर्ति) करने के लिये आवश्यक है तो वैदिकमन्त्ररचनाओं में 'व्यूह' करके एक या दो अक्षर की संपूर्ति

---

६. कुमारसम्भवम् सं० गौतम पटेल, (पृ.० १३५)
७. कुमारसम्भवम् नागप्रकाशक (पृ० १०२)

की जा सकती है। यथा त्र्यम्बकं यजामहे, सुगन्धि पुष्टिवर्द्धनम् ॥ (यजु०) जैसे मन्त्र के प्रथम पाद में आठ अक्षर नहीं होते हैं, अतः वहाँ मन्त्रोच्चारण के प्रसंग में ''त्रियम्बकं यजामहे'' ऐसा पाठ (उच्चारण) करके अक्षरपूर्ति की जाती है। परंतु टीकाकार वल्लभदेव कहते हैं कि ऐसे अक्षरपूर्ति करने का प्रघात तो 'छन्दस' अर्थात् वेद में ही दिखाई पड़ता है। 'भाषा' में, अर्थात् लौकिक संस्कृत में तो 'त्र्यम्बक' शब्द ही उचित है । अतः कालिदास के द्वारा किया गया त्रियम्बक शब्द का प्रयोग 'दुर्लभः' है ।

वल्लभदेव इतना ही कहकर नहीं रूके है । उन्होंने, अपनी ओर से ''महेश्वरम्'' ऐसा एक अपूर्व पाठान्तर भी प्रस्तावित किया है। तथा उसी तरह से दूसरे कोई 'पाठशोधक' ने 'त्रिलोचन' जैसा दूसरा पाठान्तर भी प्रवर्तित किया है – उसका भी उल्लेख वल्लभदेव करते हैं ।

इस टीका को देख कर कोई भी बहुश्रुत विद्वान् मल्लिनाथ के साथ इस बात पर सम्मत होगा कि वल्लभदेव जैसे टीकाकारों के द्वारा कालिदास की काव्यवाणी 'दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता' हुई है । क्योंकि काव्यसर्जन करते समय कालिदास के सम्मुख शब्दों 'अहम् अहमिकया' जब उपस्थित होते थे, तब वे कुत्रचित् वैदिक शब्दों का भी चयन करके काव्यगुम्फन किया करते थे । रसिकजन इस बात से अवगत है कि कालिदास ने – (१) विक्रमोवर्शीय के नान्दीश्लोक में 'रोदसी' शब्द, (२) कुमारसम्भव में शितिकण्ठ (३) अभिज्ञानशाकुन्तल के भरतवाक्य में 'नीललोहित' जैसे अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग किया है । एवमेव – शाकु० के चतुर्थ अंक में 'अमी वेदिं परितः क्लृप्तिधिष्ण्याः.... वैखानसास्त्वां वह्नयः पावयन्तु' (४-८) जैसे श्लोक में ऋक्छन्दस् का सफल विनियोग भी किया है। अतः ऐसे 'सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्' कहनेवाले हमारे कवि 'त्र्यम्बक' के स्थान पर वेदपाठ का अनुकरण करते हुए यदि 'त्रियम्बक' शब्द का प्रयोग कर दें, तो वह सर्वथा सम्भव है ही, और ग्राह्य भी है । ऐसे स्थान पर, नये अपूर्व पाठ की प्रस्तावना करना बिल्कुल अनुचित है । अतः मल्लिनाथ ने लिखा है कि –

केचित्साहसिकाः 'त्रिलोचनम्' इति पेठुः । त्र्यम्बकमित्युक्ते पादपूरण व्यत्यासात् 'त्रियम्बकम्' इति पादपूरणार्थोऽयम् इयङ्-आदेशश्छान्दसो

महाकविप्रयोगाद् अभियुक्तैरङ्गीकृतः ।[८]

संक्षेप में, वल्लभदेव जिस वैदिकशब्दप्रयोग को 'दुर्लभ' (या अल्पप्रयुक्त या अप्रयुक्त) कहकर उसकी ग्राह्यता के विषय में अरुचि प्रकट करते हैं, परंतु वह तो कालिदास का वैशिष्ट्य है ।

(३)

'कुमारसम्भव' के प्रथम आठ सर्ग कालिदास की रचना है – ऐसा प्रायः सभी विद्वानों का मत है । उसमें उत्तरार्द्ध के प्रारंभ में आया हुआ पञ्चम सर्ग, जिसमें पार्वती की तपश्चर्या का फलोदय वर्णित है, मध्यस्थ मणिन्याय से अतीव उत्कृष्ट है । क्योंकि इस पञ्चम सर्ग में कालिदास का जीवनदर्शन निहित है । कालिदास ने इस महाकाव्य के नायक भगवान् शंकर के मुख से कहलाया है कि –

यदुच्यते पार्वति ''पापवृत्तये न रूपम्'' इत्यव्यभिचारी तद्वचः । (कु०-५-३६) अर्थात्- (निसर्ग ने दिया हुआ) रूप (-देहसौन्दर्य) पापाचार करने के लिए नहीं होता है – यह सत्य है ।'' पञ्चम सर्ग की इस उक्ति को देखकर लगता है कि इसी दृष्टि से शंकर ने कामदेव को भस्मावशेष कर दिया था । काव्य के प्रथम चार सर्गों में जो गतिविधियाँ वर्णित हैं, उनमें देवराज इन्द्र ने अपने सुख की पुनःप्राप्ति के लिए पार्वती के रूपसौन्दर्य का दुरुपयोग करना चाहा था । ''सत्पक्ष का पुनरुत्थान और असत्पक्ष का विनाश'' वर्णित करना तो भारतीय साहित्य का एक मुख्य विषय रहा है, परंतु सत्पक्ष के पुनरुत्थान के लिए जो मार्ग अपनाया जाना चाहिए वह असत्मार्ग नहीं होना चाहिए ऐसा कालिदास का मानना है । अतः 'कामदहन' एवं 'रतिविलाप' के बाद, पञ्चम-सर्ग से सही प्रणयकथा का आरंभ होता है । पार्वती अपने हृदय से रूपसम्पत्ति की निन्दा करती है (निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती० ५-१), और अपनी अस्मिता के बल पर, अपने सहज सत्त्व को प्रकट करके अभीष्ट पति की प्राप्ति के लिए उद्यत होती है । शिवपार्वती के मिलन में, अब देवराज इन्द्र या कामदेव जैसी कोई तीसरी सत्ता कार्यरत नहीं है । एक ओर से नायक ने जो कहा है कि – ''न पापवृत्तये रूपम् (भवति)'' तो दूसरी और से नायिका ने भी मनोगत भाव से यह स्पष्ट कर लिया है कि – ''प्रियेषु सौभाग्यफला

८. तदेव (पृ० १०२)

हि चारुता'' (कु०- ५-१) अर्थात् वही सौन्दर्य सौन्दर्य कहा जा सकता है कि जो अपने प्रिय व्यक्ति को प्रसन्न कर सके ! इष्ट व्यक्ति का प्रेम जीत न सके वह (देह) सौन्दर्य सौन्दर्य ही नहीं है । प्रिय व्यक्ति की, यानि सौभाग्य की जो प्राप्ति करा दे वही तो सही अर्थ में चारुता है । यदि बहिरङ्ग चारुता प्रिय व्यक्ति की प्राप्ति न करा सके तो, वह चारुता कहलाने के योग्य ही नहीं है।

अपने सामने ही कामदेव को क्षणार्ध में भस्मसात् होते हुए देखकर पार्वती को जो उपर्युक्त जीवनदर्शन प्राप्त हुआ है, और जीसके आधार पर वह तनिक भी निराश न होते हुए कठोर तपश्चर्या के लिए संनद्ध होती है वह पञ्चम सर्ग का प्रतिपाद्य-विषय है । अतः कुमारसम्भव काव्य के इस केन्द्रवर्ती सर्ग पर वल्लभदेव ने जो टीका लिखी है, उसका परीक्षण भी विशेषरूप से करना चाहिए :-

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥
(कु. ५-२)

''पार्वती ने (अब) तप के द्वारा समाधि में बैठकर, अपने रूप को अवन्ध्य (सफल) बनाने के लिए इच्छा की । क्योंकि दूसरी कौन सी विधि से ''वैसा प्रेम और वैसा पति' प्राप्त हो सकता था ?''

अर्थात् अब पार्वती की दृष्टि से तपश्चर्या एक ही तो मार्ग बाकी बचा था । यहाँ पर श्लोक के चतुर्थ-चरण को स्पष्ट करते हुए वल्लभदेव ने लिखा है कि –

यतः अन्यथा तपसा विना (तथाविधं) तादृशं देहार्धदाननिदान प्रेम, तादृशः चतुर्दशभुवनाधिपतिः पतिः भगवान् महेश्वर इति कथम् एतत् द्वयम् (अवाप्यते) समासाद्यते ।[९]

यहाँ पर 'पतिश्च तादृशः' की व्याख्या 'चतुर्दशभुवनाधिपतिः' के रूप में की गई है – वह ध्यानास्पद है ।

दूसरी और चारित्रवर्द्धन ने जो व्याख्या लिखी है, वह इन शब्दों में

९. कुमारसम्भवम् सं० गौतम पटेल (पृ० १३९)

है :- किं तद्द्वयम् ? तथाविधमर्द्धशरीरहारि प्रेम, तादृशः सकललोकाराध्यः पतिश्च ।[१०]

यहाँ पर 'पतिश्च तादृशः' की व्याख्या 'सकललोकाराध्यः' शब्द से की गई है ।

अब मल्लिनाथ अपनी 'सञ्जीविनी' में क्या लिखते है ? तो देखिए-

येनार्धाङ्गहरा हरस्य भवेदिति भावः । तादृशः पतिश्च यो मृत्युञ्जय इति भावः । द्वयमेव खलु स्त्रीणाममेक्षितं यद्भर्तृवाल्लभ्यं जीवद्भर्तृकत्वं चेति । तच्च तपश्चरणैकसाध्यमिति निश्चिकायेत्यर्थः ।[११]

यहाँ पर मल्लिनाथ ने जो 'तादृशः पतिः' की व्याख्या की है, वही कालिदास के अभीष्टार्थ को प्रकट करनेवाली है । क्योंकि पार्वती जिसको पति के रूप में प्राप्त करना चाहती थी, वह शंकर 'चतुर्दशभुवनाधिपति' या 'सकललोकाराध्यः'' होने के कारण स्पृहणीय या वरणीय नहीं थे, वह 'मृत्युञ्जय' होने के कारण ही पार्वती के लिए स्पृहणीय एवं वरणीय थे ।

(४)

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी, निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ॥
(कु० ५-१२)

अर्थात् - ''अपने केशकलाप से बिखरे हुए पुष्प से भी जो कष्ट का अनुभव करती थी, वह (पार्वती) तपश्चरण के दौरान बाहुलता का उपधान बना कर सोती थी एवं बिना घासवाली भूमि के उपर बैठती थी ।''

यहाँ पर श्लोक के उत्तरार्ध में दोनों पाद में एक एक क्रियावाचकपद ('अशेत' एवं 'निषेदुषी') आया हुआ है । अतः 'पादान्तं वाक्यम्' की शैलीवाली वाक्यरचना दिखाई पड़ती है । परंतु टीकाकार वल्लभदेव ने ऐसे सरल स्वाभाविक अन्वय को त्याग कर निम्नोक्त प्रकार की व्याख्या लिखी है :- (सा) असौ तदा (बाहुलतोपधायिनी) भुजलतामुपधानीकृत्य निषेदुषी

१०. कुमारसम्भवम् नागप्रकाशक, (पृ० १०६)
११. कुमारसम्भवम् सं० गौतम पटेल, (पृ० १४३)

निषण्णा उपविष्टैव हस्तमूलं भूमावारोप्याऽवष्टभ्य, यतो योगनिद्रा समाधौ उपविष्टैः क्रियते ॥ केवले निरावरणे शाद्वलरहिते । स्थण्डिले स्थले एव (अशेत) अधः सुष्वाप ॥[९]

इस टीका को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभदेव ने कैसे दूरान्वय का आश्रयण किया है । इस टीका के अनुसार श्लोक के उत्तरार्ध में दो वाक्य ऐसे हो सकते हैं :- (१) सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी और (२) केवले स्थण्डिल एव (सा) अशेत । अर्थात् पार्वती अपने हस्तमूल को भूमि पर आरोपित करके बैठती थी । क्योंकि समाधि अवस्था में जो योगनिद्रा सिद्ध की जाती है, वह बैठकर सिद्ध की जाती है । और तृणरहित जमीन पर पार्वती शयन करती थी ।

इस तरह देखा जाता है कि वल्लभदेव की व्याख्या 'दुर्व्यख्या' की कोटि में पहुँच जाती है । यहाँ पर मल्लिनाथ की टीका सहज, सुन्दर और एकदम विशद है :-

''सा देवी बाहुलतामुपधत्त उपधानीकरोतीति बाहुलतोपधायिनी सती केवले संस्तरणरहितं स्थण्डिले भूमावेवाशेत शयितवती, तथा निषेदुष्युपविष्टा च'' ॥[१२]

अर्थात् मल्लिनाथ ने 'निषेदुषी' जैसे 'क्वसु' प्रत्ययान्त शब्द को पार्वती का विशेषण बनाकर वाक्यार्थ ऐसे निकाला है :- ''बाहुलता का उपधान बनानेवाली पार्वती संस्तरणरहित भूमि पर ही शयन भी करती थी और बैठती भी थी ॥'' यह अन्वय पूर्णतया व्याकरण-सम्मत भी है और स्वाभाविक भी है ।

(५)

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥
(कु० ५-२०)

१२. अमरकोषः (कालवर्ग ४-१६) के अनुसार वल्लभदेव ने अर्थ 'आषाढ़मास' दिया है । (पृ. ४९) - अमरकोषः, सं. वासुदेव पणशीकर चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली (द्वितीयावृत्ति) १९८७

इस श्लोक में, पञ्चाग्नि तपः साधना का वर्णन है। पार्वती ने अपनी अगलबगल में, आगेपीछे, चारों दिशा में अग्नि प्रज्वलित की, और उसके बीच में खड़े खड़े सूर्यबिम्ब में दृष्टि स्थिर की। अब इस श्लोक की व्याख्या लिखते समय वल्लभदेव ने लिखा है कि –

(शुचौ) आषाढ़े मासि (ज्वलतां) देदीप्यमानानां चतुर्णां (हविर्भुजां) अग्निना (मध्यगता) मध्यस्था सती देवी...सूर्यम् (ऐक्षत) अद्राक्षीदिति पञ्चाग्नितपःसाधना कथिता ॥[११]

यहाँ पर वल्लभदेव ने 'शुचौ' शब्द का अर्थ ''आषाढ़ मास'' किया है।[१२] दूसरी ओर मल्लिनाथ ने उसका अर्थ ''ग्रीष्म ऋतु में'' ऐसा किया है। वास्तव में 'शुचि' शब्द का अर्थ देने में दोनों टीकाकार सही है।[१३] क्योंकि अमरकोष की रामाश्रमी टीका में लिखा है कि–

शुचिग्रीष्माग्निशृङ्गारेष्वाषाढे शुद्धमन्त्रिणि ।
ज्येष्ठे च पुंसि धवले शुद्धेऽनुपहते त्रिषु ॥

यहाँ पर 'शुचि' शब्द के अनेक अर्थों का संकलन कर दिया गया है। इसको देखते हुए 'शुचि' शब्द का जो अर्थ वल्लभदेव ने दिया है और मल्लिनाथ ने दिया है, वह दोनों सही है। परंतु वल्लभदेव स्वयं जब अपनी टीका में लिखते है कि इस श्लोक (५-२०) में पार्वती की पंचाग्नितपः साधना का कथन है, तो सन्दर्भ की दृष्टि से तो यहाँ 'ग्रीष्म ऋतु' ऐसा ही अर्थ लेना चाहिए। यदि 'आषाढ़मास' ऐसा अर्थ लिया जायेगा तो, वह समय तो वर्षाऋतु का है। स्वयं कालिदास ने ही लिखा है कि –

आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं ।
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ (-मेघदूतम् -२)

अतः पार्वती ने जो अपने चारों ओर अग्नि प्रज्वलित किया है, वह आषाढ़ मास में नहीं, ग्रीष्मऋतु में किया है। आषाढ़ में तो बादलों से सूर्य भी आच्छादित हो जाता है, अतः पञ्चाग्नि साधना आषाढ़ में कैसे सिद्ध होगी।

१३. अमरकोषः (स्वर्गवर्ग-१-५६) की 'रामाश्रमी' टीका में अग्नि के ३४ पर्यायवाची नामों में एक 'शुचि'भी है, और वहाँ टीका में शुचि का एक अर्थ 'ग्रीष्म' दिया है। (पृ. २४)

इसी को 'दुर्व्याख्या' कही जायेगी।

उपर्युक्त एक ही उदाहरण से देखा जा सकता है कि, केवल एक शब्द का यदि 'सान्दर्भिक' अर्थ क्या हो सकता है ?' इसका विचार नहीं किया जाता है तो काव्य को कितनी बड़ी हानि हो सकती है। 'शुचौ' शब्द का अर्थ 'ग्रीष्मऋतु' न करके, 'आषाढे मासि' किया जायेगा तो पार्वती की उग्र तपश्चर्या का वर्णन एकदम शिथिल हो जायेगा।

आगे चलकर, पार्वती की परीक्षा लेने के बाद भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि –

अद्यप्रभृत्यनवताङ्गि (अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि) तवास्मि दासः ।
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ॥ (कु० ५-८६)

यहाँ पर पार्वती के जिस उग्र तपश्चरण से शंकर अपने को खरीदा गया 'दास' बताते हैं, वहाँ पंचाग्नि साधना का तपश्चरण आषाढ में नहीं, ग्रीष्म ऋतु में ही किया गया होना चाहिए ॥

इस बात को ध्यान में लेकर मल्लिनाथ कहते है कि – ''भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्छिता ॥'' और इसी लिए मल्लिनाथ को 'सञ्जीविनी' टीका लिखने की आवश्यक्ता दिखाई पड़ी है।

—x—

उपक्रम-7

मेघदूत की यक्षिणी 'असितनयना' है या 'चकितनयना' ?

१

कालिदास संस्कृत-साहित्य के महाकवि है इस अभिप्राय को लेकर, पूरे संसार में निःसंदेह एकमति है । परंतु कालिदास के किसी भी काव्यपंक्ति को लेकर यदि पूछा जाय कि क्या यह पंक्ति कालिदास ने लिखी थी ? तो सम्भव है कि एक विद्वान् दूसरे विद्वान् से प्रायः असहमत ही होगा । कालिदास के काव्यसाहित्य में जो अपपाठ, विभिन्न पाठान्तर और प्रक्षेपादि प्रविष्ट हुए हैं, उनके कई कारण हैं । इस देश में शताब्दियों तक प्रतिलिपिकरण का कार्य यांत्रिक न होते हुए, केवल मानवकृत प्रतिलिपिकरण ही प्रवर्तमान रहा है । एवं ब्राह्मीलिपि से आरंभ करके, समय-समय पर बदलती रही विभिन्न प्रादेशिक लिपिओं और देवनागरी के अनेक रूपान्तरों में उसका पुनः पुनरवतार होता रहा है । ऐसे प्रत्येक पुनर्लेखन में कुछ न कुछ अनवधान-प्रयुक्त या अज्ञान-प्रयुक्त स्खलन एवं दूषण मूलपाठ में प्रवेश करते रहे हैं ।

तीसरा कारण यह भी रहा है कि कालिदास के काव्य का मर्म ठीक तरह से नहीं समझ पाने के कारण उनमें अनेक नये पाठान्तर प्रस्तावित किए गये हैं । इसीलिए तो मल्लिनाथ ने कहा है -

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या-विषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥[१]

१. रघुवंशमहाकाव्यम् (संजीविनीटीकासहित) सं. वेंकटेश शास्त्री, मुंबई १९२७ (प्रास्ताविक श्लोक)

तीसरा कारण यह है कि, प्रतिलिपिकर्ताओ में से जो 'कविम्मन्यमान' लोग थे, उन्होंने भी अनेक श्लोक नये बनाकर, मेघदूत के मूलपाठ में, बीच-बीच में प्रक्षिप्त कर दिये हैं । अतः कालिदास की कविता के सन्दर्भ में पूछा जाय कि क्या अमुक शब्द, या अमुक पद्य कालिदास ने ही लिखा था ? तो इस बात में कदाचित् ही एकमति प्राप्त हो सकेगी ॥

२

कालिदास के काव्यों का समीक्षित पाठ-सम्पादन करने का प्रयास समग्र विश्व के विद्वानों ने किया है । परंतु उनमें से एक भी प्रयास पूर्णरूपेण संतोषप्रद या सर्वसम्मत नहीं हो पाया है ।[२] फिर भी ''मेघदूत'' की पाठपरम्पराओं का यदि पृथक्करण किया जाय तो, हमारे सामने दो या तीन तरह की 'वाचनायें' (Recensions) उभर कर सामने आयेगीं -

(क) ११० श्लोकवाली वाचना, अर्थात् लघुपाठ को पुरस्कृत करनेवाली वाचना ।

एवं

(ख) प्रक्षिप्त श्लोकोंवाली, १२१ श्लोकोंवाले बृहत्पाठ का पुरस्कार करने वाली वाचना ।

टीकाकारों में से दक्षिणावर्तनाथ एवं पूर्णसरस्वती ११० श्लोकवाली लघुपाठ-परंपरा को स्वीकारने वाले है ।[३] दूसरी ओर वल्लभदेव[४] एवं भरतमल्लिक[५] १२१ श्लोकवाले 'मेघदूत' पर टीका लिखते हैं । अर्थात् उन टीकाकारों ने 'मेघदूत' के बृहत्पाठ को मान्य रखा है ।

२. इस विषय की चर्चा के लिए डॉ. सुशीलकुमार डे द्वारा सम्पादित 'मेघदूत' की प्रस्तावना (पृ. xvii) द्रष्टव्य है। The Megha-Duta of Kalidasa, Ed. Sushil Kumar De, Sahitya Akademi, New Delhi, 1957

३. (A) Megha-sandeśa of Kalidasa, with the Commentary of Dakṣiṇāvartanātha, Ed. N.P. Unni, Nag Publishers, Delhi 1984 (B) मेघसंदेशः (पूर्णसरस्वतीकृत-'विद्युल्लता' टीकायुतः)

४. मेघदूतम् (वल्लभदेवटीकया सहितम्), प्रका. L.M. Subhedar, Jaya Prakashan, Bombay, 1956

५. The Meghaduta of Kalidasa, with the commentary of भरतमल्लिक, संपादक - जितेन्द्र बिमल चौधुरी, कलकत्ता, १९५१

अथवा

भौगोलिक दृष्टि से देखा जाय तो, पहली उत्तर भारत की, दूसरी पूर्व भारत की और तीसरी दाक्षिणात्य वाचना आज उपलब्ध हो रही है । टीकाकारों में से वल्लभदेव काश्मीरीवाचना का अनुगमन करते हैं, और १२१ श्लोक पर टीका लिखते हैं । भरतमल्लिक जैसे पूर्वभारत के बंगाल प्रदेश की पाठपरंपरा का अनुसरण कर रहे हैं, जिसमें भी १२१ श्लोक हैं ।

तीसरी ओर दक्षिणावर्तनाथ,[६] स्थिरदेव[७], चारित्र्यवर्द्धन[८], पूर्णसरस्वती, मल्लिनाथ,[९] सुमतिविजयादि जैसे जैन एवं दाक्षिणात्य-टीकाकारों ने ११० से ११५ या ११६ श्लोकवाली वाचना (Recension) का आदर किया है और उस पर अपनी-अपनी व्याख्यायें लिखी हैं ।

इस तरह से 'मेघदूत' की दो या तीन वाचनाओं का निर्धारण हो सकता है - ऐसा पृथक्करण भी अधिकतर विद्वानों को ज्ञात नहीं है । एवमेव, विभिन्न कालखंड में और विभिन्न लिपिओं में लिखी गई पाण्डुलिपिओं (manuscripts) में संचरित हुए मेघदूत के पाठ को संतुलन-पत्रिका (Collation-sheet) पर [या excel program में] उतारना भी अभी तक बाकी है । 'मेघदूत' की सभी पाठपरंपराओं का संतुलन-पत्रिका पर जब तक अंकन (पुनर्लेखन) नहीं हो जाता है, तब तक संचरित पाठपरंपरा (transmitted text-tradition) का 'वंश-वृक्ष'(stema codicum) बनाना या किसी भी तरह की वाचनाओं का निर्धारण करना भी असम्भव है ॥

३

उपर्युक्त कार्य हो जाने के बाद, 'मेघदूत' की पाठालोचना का कार्य दो भागों में विभक्त करना आवश्यक दिखाई पड़ता है । जैसा कि -

६. द्रष्टव्य ३ (ए) पादटिप्पणी

७. कालिदासीयं मेघदूतम् (स्थिरदेवव्याख्यासनाथम्) सं. V.G. Paranjpe, Second edition, Pub. Deccan Book Stall, Poona, 1941

८. मेघदूतम् (चारित्र्यवर्द्धन-टीका-सहितम्) सं. नारायणशास्त्री खिस्ते, सरस्वती भवन, काशी, सं. २००३

९. मेघदूतम् (संजीविनी-टीकासहितम्) सं. लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, १९१५

(१) प्रक्षिप्त श्लोकों का निर्धारण सयुक्तिक किया जाय, और

(२) प्रत्येक श्लोक के अंतर्गत आये हुए (दो चार शब्दपर्यन्त सीमित रहने वाले, सभी) सर्वस्वीकृत पाठान्तरों का एकत्र संग्रह किया जाय, एवं उस पर विचार किया जाय ।

उदाहरण के लिए हम 'मेघदूत' का एक अतिप्रसिद्ध मार्मिक श्लोक लेते हैं -

एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद् विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥ २-४९॥

इस पद्य में प्राप्त होनेवाले पाठान्तरों :-

१. इस श्लोक के द्वितीय चरण में दो पाठान्तर उपलब्ध होते हैं - 'असितनयने' एवं 'चकितनयने' ।

२. तृतीय चरण में -

(क) १. विरहध्वंसिका, २. विरहे ह्रासिनः, ३. विरहह्रासिनः, ४. विरहे भ्रंशिनः, ५. विरहे भ्रंसिनः (सिंहली रूपान्तर में), और ६. विरहव्यापदः ।

(ख) १. त्वभोगाद् २. त्वभोग्याः, ३. तेऽप्यभोगाद्, ४. त्वभोग्याः ।

३. चतुर्थ चरण में -

'इष्टे वस्तुनि' के साथ 'दृष्टे वस्तुनि' भी मिलता है ॥

इस तरह से कोई एक श्लोक, जो कि सर्वसम्मत है, परंतु उसके कतिपय शब्दों के बारे में एकरूपता नहीं है । परंतु कालिदास का साहित्य जो 'एककर्तृक'[१०] प्रकार की रचना में आता है, उसके पाठ (text) में तो एकरूपता होनी ही चाहिए, ऐसी सर्वसाधारण प्राथमिक अपेक्षा है । अतः जब

१०. संस्कृतभाषा में उपनिबद्ध साहित्य को हम चार प्रकार में विभक्त कर सकते है - (१) दृष्ट-साहित्य (वेदादि), (२) श्रुत-साहित्य (बुद्ध-महावीर की वाणी), (३) अनेककर्तृक प्रोक्तसाहित्य (रामायण-महाभारत-पुराणादि) एवं (४) एककर्तृक कृतसाहित्य (काव्य-नाटकादि एककर्तृक रचनाएँ) पाठालोचना के लिए यह विभाजन उपयुक्त है ।

तक कालिदास ने क्या लिखा होगा – इस बात का निर्णय नहीं कर पायेंगे तब तक हमें कालिदास की कविता का सही सौन्दर्य हस्तगत नहीं होगा ।

कालिदास के प्रत्येक पद्य को लेकर हमें यह देखना होगा कि पाण्डुलिपिओं में शताब्दिओं से संचरित होता रहा प्राचीन पाठ क्या हो सकता है, उसके बाद 'सहायक-सामग्री' (testimonials) के रूप में मिलने वाले १. जिनसेन-विरचित 'पार्श्वाभ्युदय' (850 A.D.)[११] , २. विभिन्न टीकाकारों द्वारा समादृत पाठ और ३. काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में कुत्रचित् उदाहरण के रूप में उद्धृत पाठ को देखकर प्राचीनतर पाठ का अन्वेषण करना चाहिए । और अंत में जाकर (क) अनुलेखनीय सम्भावना और (ख) आन्तरिक सम्भावना का लेखा-जोखा करके प्राचीनतम पाठ क्या रहा होगा उसका अनुसन्धान करना है ।

४

प्रस्तुत लेख में, 'मेघदूत' के सभी उपलब्ध पाठान्तरों की आलोचना करना तो विस्तारभय से सम्भव नहीं है । परंतु 'एतस्मान्मां कुशलिनम् अभिज्ञानदानाद् विदित्वा' (२-४९) श्लोक को निदर्शन रूप में लेकर, इस एक ही श्लोक में तीन तरह के पाठान्तरों की चर्चा प्रस्तुत करेंगे ॥

उक्त श्लोक के तृतीय चरण में – ''स्नेहान् आहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगाद्'' – में कुल मिला के छः पाठान्तर प्राप्त हो रहे हैं ! यहाँ पर 'विरह में स्नेह को ध्वस्त होने वाले कहा गया है'' इस बात को समझने में, या स्वीकार करने में अनेक पाठकों को आपत्ति लगी है । अतः प्रथमस्तर पर 'विरहे भ्रंशिनः', (विरह में फिसलने वाला), या 'विरहे ह्रासिनः' (विरह में कम होने वाला) का प्रस्ताव सोचा गया है । दूसरे स्तर पर इनको समस्त पद बना कर 'विरहध्वंसिनः' (विरह को ध्वस्त करने वाला) या 'विरहह्रासिनः' (विरह को कम करने वाला) के रूप में परिवर्तन किया गया दिखाई देता है । और अंत में तृतीय स्तर पर, ''विरहव्यापदः'' (स्नेह को केवल विरह रूप आपत्ति से ग्रस्त कहा गया है) ।

नये-नये पाठान्तर प्रस्तुत करने वालों ने यह बात ध्यान में नहीं रखी

११. जिनसेनकृतं 'पार्श्वाभ्युदयम्' सं. नाथारंगजी गांधी, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, वि.सं. १९६६

है कि 'आहुः' क्रियापद को रखकर महाकवि ने, यह 'स्नेह विरह में ध्वस्त होने वाला होता है' – ऐसा कई लोक मानते हैं ऐसा अन्यतम अभिप्राय ही उद्धृत किया है । कवि स्वंय इस मत से सहमत नहीं है । परन्तु, जैसा कि मल्लिनाथ ने कहा है कि- भारती कालिदासस्य 'दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता' होने के कारण एवं कालिदास के काव्य का सही अर्थघटन नहीं करने के कारण, बाद में अनेक पाठान्तर उद्भावित किये गये हैं ।

चतुर्थ चरण में, जो 'इष्टे वस्तुनि' के स्थान पर, 'दृष्टे वस्तुनि' ऐसा एक पाठान्तर प्राप्त होता है, वह प्रायः 'अनुलेखनीय सम्भावना' से जनित पाठान्तर लगता है । लिपिकार के दृष्टिदोष या मतिभ्रम के कारण यह पाठान्तर उद्भुत हुआ है ऐसा हम कह सकते हैं ।

५

परंतु इस श्लोक के द्वितीय चरण में 'असितनयना' के स्थान पर 'चकितनयना' वाला एक छोटा सा पाठान्तर भी है, वह बड़ी गंभीर समस्या लेकर बैठा हुआ पाठान्तर है । इन दो पाठों में से कौन सा पाठ कवि ने लिखा होगा ? इसकी वस्तुनिष्ठ परीक्षा की जानी चाहिए । इस विषय में आज उपलब्ध होने वाले अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्यसाक्ष्य सभी की हमें आलोचना करनी होगी। जैसा कि –

(१) बहुसंख्यक पाण्डुलिपिओं (majority of the manuscripts) में 'असितनयने' पाठ मिलता है ।

(२) एक मल्लिनाथ और दूसरे 'सारोद्धारिणी'' के अज्ञातकर्ता को छोड़कर सभी टीकाकारों ने 'असितनयने' पाठ को ही स्वीकार है । दूसरे शब्दों में कहे तो वल्लभदेव, दक्षिणावर्तनाथ, स्थिरदेव, भरतमल्लिक, चारित्र्यवर्द्धन, पूर्णसरस्वती, जगद्धर, सुमतिविजय जैसे उत्तरभारत (काश्मीर) के, पूर्वभारत (बंगाल) के, और दक्षिणभारत के प्रायः सभी व्याख्याकारों ने 'असितनयना' पाठ ही स्वीकारा है ।

इस में दो बातें विशेष ध्यानास्पद हैं – (क) समय की दृष्टि से वल्लभदेव सब से पुराने टीकाकार हैं, उन्होंने भी 'असितनयने' पाठ स्वीकारा है । (ख) पूर्णसरस्वती ने तो 'असितनयने' जैसे सम्बोधन का स्वारस्य बताते हुए यह भी कहा है कि – असितनयने, आस्तां तावदनवद्यलावण्यसुधास्रोतः

स्रावीणि अवयवान्तराणि, विपुलचपलमेचकाभ्यां विलोचनकुवलयाभ्यामेव ते विचिन्तिताभ्यां बलवद् अशरणीकृते मयि कः पुनरन्यथा शङ्काया अवकाश इति द्योत्यते ॥[१२]

इस तरह पूर्णसरस्वती ने न केवल परम्परागत रूप से 'असितनयने' पाठ को स्वीकारा है, परंतु इस संबोधन की महिमा भी उद्‌घाटित करने का सभान, सबल प्रयास किया है ।

(३) पाठनिर्धारण में सहायक सामग्री के रूप में, हमारे पास ई. सन् ८५० का जिनसेन-विरचित 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य है । यह काव्य कालिदास के 'मेघदूत' काव्य की नकल करता हुआ (प्रतिकृति करता हुआ) जैनकाव्य है। इसमें प्रत्येक श्लोक के चतुर्थचरण में मेघदूत की एक एक पंक्ति को यथावत् बुना गया है । इसमें भी –

मा कौलीनादसितनयने मय्यविश्वासिनी भूः ॥ ५२

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ह्रासिनस्तेऽप्यभोगाद् ॥ ५३

– ऐसा पाठ मिलता है ।[१३] यहाँ ध्यानास्पद बात यह है कि जिनसेन का समय नवम शताब्दी है, जो वल्लभदेवादि सभी टीकाकारों से भी प्राचीनतर कवि है । और 'मेघदूत' की उपलब्ध सभी पाण्डुलिपिओं से भी यही बाह्यसाक्ष्य प्राचीनतर है ।

अब बाह्यसाक्ष्यों में १. पाण्डुलिपिओं का पाठ, २. टीकाकारों द्वारा स्वीकृत पाठ और ३. 'मेघदूत की नकल करनेवाला जिनसेन का 'पार्श्वाभ्युदय' जो कि समय की दृष्टि से भी प्राचीनतर है, – ऐसे तीन अभिसाक्ष्य हमारे पास हैं, जो कि 'असितनयने' पाठ का समर्थन कर रहे हैं । इन अभिसाक्ष्यों से विरुद्ध जाकर, केवल मल्लिनाथ और 'सारोद्धारिणी' के अज्ञातकर्ता जैसे टीकाकारों ने 'चकितनयने' वाले पाठ का समादर किया है । अतः गम्भीर प्रश्न उठता है कि मूलपाठ क्या रहा होगा ? उक्त एकाधिक बाह्य प्रमाणों से विरुद्ध जानेवाला क्या कोई प्रबल अकाट्य आन्तरिक प्रमाण यहाँ उपस्थित किया जा सकता है ?

पण्डितप्रवर श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि उन्होंने वल्लभदेव,

१२. मेघसन्देशः (पूर्णसरस्वतीकृत-टीका समेत), द्वितीयाश्वास, श्लोक -४५, पृ. १६९

१३. जिनसेनकृतं 'पार्श्वाभ्युदयम्- (श्लोक -५२, ५३) पृ. – २५५-२५६

दक्षिणावर्तनाथ और मल्लिनाथ द्वारा स्वीकृत पाठों में से उन्हीं पाठ का आदर किया है जो कि महाकवि की अन्यत्र देखने को मिलनेवाली अभिव्यक्तिविद्या (शैली) के अनुकूल पाठ रहा हो । पं. श्री द्विवेदी जी के शब्द इस तरह के है –

The tradition of Vallabhadeva, Dakṣiṇāvartanātha and Mallinātha have been followed wherever they proved suitable to the nature of expression of the same poet in his other works.[१४]

परंतु सच तो यह है कि न हमारे किसी भी टीकाकार ने, या न तो किसी पण्डितप्रवर ने 'मेघदूत' काव्य में अन्यत्र मिलनेवाली रचनाशैली या शब्दावली पर ध्यान दिया है ।

(A) वस्तुतः पूरे 'मेघदूत' पर फिर से एकबार दृष्टिपात किया जाय तो मालूम होगा कि इस महाकवि ने अनेक स्थानों पर चकित-नेत्र-कटाक्ष की ही बात कही है । तद्यथा –

(i) अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विद् इत्युन्मुखीभिः
दृष्टोच्छ्रायश्चकितचकितं मुग्धस्निग्धाङ्गनाभिः ॥[१५]

(ii) वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि[१६] ॥

(iii) त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति[१७] ॥

(iv) तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः[१८] ॥

(v) श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।

१४. कालिदासग्रंथावली (द्वितीयावृत्ति), प्रस्तावना, पृ. १४ सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका. काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८६,

१५. मेघदूतम्, १.१४ १६. वही, १.२७

१७. वही, २.३१ १८. वही, २.१८

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति[१९] ॥

मेघदूत के ही इन एक-दो नहीं, पूरे पाँच स्थानों को देखने से यह बात स्वत:सिद्ध होती है कि कालिदास ने यक्षिणी को 'असितनयना' न कहकर, 'चकितनयना' ही बताई होगी ॥

(B) दूसरा विचारणीय बिन्दु यह भी है कि यूरोपिय देशों में तो नीला, पीला इत्यादि विविध रंगवाली आँखे होती हैं । वहाँ यदि कोई नायिका को 'असितनयना' बनाई जाय तो, पूर्णसरस्वती कहते हैं इस तरह की ''बलवद् अशरणीकृतोऽस्मि'' वाली बन पाती । परंतु इन भारतवर्ष में तो प्राय: निन्यानवे आँखे काली ही- 'असितनयना' ही होती हैं । उसमें कोई वैशिष्ट्य नहीं है । कवि कालिदास के यक्ष के लिए तो 'चकितनयना' यक्षिणी ही आकर्षण का विषय हो सकती है ।

(C) जिस श्लोक में यह 'असितनयना' के स्थान पर 'चकितनयना' वाला पाठान्तर मिलता है, ठीक उसके उपर वाला श्लोक भी हमारे लिए अतीव ध्यानास्पद है । अगले श्लोक में यक्ष ने दाम्पत्य-जीवन की एक आपसी बात 'अभिज्ञान' के रूप में कही है –

भूयश्चाहुस्त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा ।
सान्तर्हासं कथितमसकृत् पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वपने कितव रमयन् कामपि त्वं मयेति ॥[२०]

ईर्ष्याजनित एक स्वप्न, जो यक्षिणी को एक क्षण के लिए 'कलहान्तरिता' या 'खण्डिता' की स्थिति में धकेल देता है, और वह बाह्वरी बन कर, भयभीत हो कर निद्रा से उठ जाती है, उस स्थिति का स्मरण करनेवाला यक्ष, क्या 'असितनयने' कहेगा या 'चकितनयने' कहेगा ?! – यह भी चिंतनीय है, इस तरह पूर्वापर सन्दर्भ में भी यदि देखा जाय तो महाकवि ने यक्ष के मुख से 'चकितनयने' ऐसा सम्बोधन ही करवाया होगा यह निश्चित हो जाता है ।

बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा से जो बलवत्तर एवं बलवत्तम अन्त:साक्ष्य यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं उसको देखकर प्राचीनतम और मूलगामी पाठ के रूप में हमें 'चकितनयने' वाले पाठ को पुन: प्रतिष्ठित करना चाहिए ।

१९. वही, २.४० २०. वही, (उत्तरमेघ) २.४७

उपक्रम-8

कुमारसम्भवम् में शिव-विषयक मिथक एवं अष्टमूर्ति शिवतत्त्व

भूमिका :

कवि कालिदास के काव्यों में वर्ण्य विषयवस्तु एवं वर्णनसामग्री के रूप में वेदकालिक रुद्रादि तथा पुराणकालिक चन्द्रमौली शिव सुव्याप्त है । उन्होंने अपने तीनों नाटकों की रचना करते समय भी उनकी निर्विघ्न समाप्ति होवे उस आशय से नान्दी-पद्यों में भगवान् शिव की ही प्रार्थना रखी है । इन सब को देखकर विद्वानों ने कालिदास को शिवभक्त माना है । लेकिन एक साधारण व्यक्ति, जो केवल शिवभक्त होता है उनके मुख से तो परम्परागत शिव विषयक मिथकीय नामों का केवल संकीर्तन ही होता रहेगा । परंतु कालिदास तो कवि है, इस लिए उनसे तो हम शिव विषयक मिथकीय वर्णन के उपरांत उनके हृदयाकाश में विलसित हो रहे शिवतत्त्व के दर्शन की ही अपेक्षा करते हैं । कहा भी गया है: दर्शनाद् वर्णनाच्चैव कविरित्युच्यते । (जो न केवल शिव के चरितों का वर्णन ही करें, बल्कि उनका कुछ निजी दर्शन भी प्रस्तुत करे, उसे ही हम कवि कहेंगे) ॥ कवि शब्द का निर्वचन भी यही कहता है कि कवय: क्रान्तद्रष्टारो भवन्ति । (जो कवि होते हैं, वे स्थल-काल की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अधिक ऊर्ध्व देखते हैं ।) एवमेव, ऐसा भी कहा गया है कि नान्य: ऋषे: कवि: । (ऋषि के अलावा कोई दूसरा व्यक्ति कवि बन ही नहीं सकता है ।) कवि शब्द के साथ ऐसी गंभीर अर्थच्छायाएँ जुड़ी

है । अतः यदि कालिदास कवि हैं तो वे शिवतत्त्व के द्रष्टा भी होंगे, इस पूर्वावधारणा को लेकर उनके कुमारसम्भव महाकाव्य का परामर्श करना अभीष्ट है ।

हमें देखना है कि कालिदास के सामने शिव विषयक मिथकों से भरी वेद-पुराणादि की जो वर्णन-सामग्री थी, उसका उन्होंने केवल काव्य की अलंकरण-सामग्री के रूप में ही विनियोग किया है, या फिर शिव विषयक किसी मिथक का रहस्य हमारे लिए प्रकट किया है ? सम्भव है कि ऐसे मिथकीय रहस्योद्घाटन में ही कालिदास ने शिवतत्त्व का निजी दर्शन प्रकट कर दिया हो । अथवा सम्भव है कि मिथकीय वर्णनसामग्री को यथावत् विनियोग में लेते हुए भी उन्होंने शिव विषयक अपना निजी दर्शन स्वतंत्र रूप से प्रकट किया हो । क्योंकि सामान्यतः कोई भी सहृदय पाठक जब कोई मिथकीय सामग्री पर आधारित काव्य का आस्वाद लेने के लिए उद्यत होता है तो कवि की उस मिथकीय वस्तु का आस्वाद लेने के साथ-साथ, उसमें छीपे हुए कुछ निगूढ मिथकीय तत्त्व का रहस्य भी जानने को मिल जायेगा ऐसी उम्मीद करता है। (जैसे की प्रस्तुत महाकाव्य में कुमार कार्तिकेय के जन्म से सम्बद्ध कथा निरूपित करने का उपक्रम देखते ही पाठक के मन में कृतिका नक्षत्र के छह तारकों से सम्बन्ध रखनेवाले षडानन कार्तिकेय की उत्पत्ति में शिवतत्त्व की क्या महिमा होगी ? ऐसा कोई मिथकीय राझ कालिदास बतायेंगे ऐसा सोचेगा, और उसे वह देखने को, समझने को उत्सुक हो जायेगा। लेकिन यह काव्य तो अष्टम सर्ग पर ही रुक जाता है, जिसमें शिव-पार्वती के संभोगशृंगार तक की ही कहानी प्रस्तुत हुई है । उसमें षडानन कार्तिकेय एवं तारकासुर के वध पर्यन्त की कहानी है ही नहीं । अतः कालिदास के विचारों में तात्त्विक रूप से, यानि कि खगोलशास्त्रीय दृष्टि से कार्तिकेय और तारकासुर कौन है ? उसकी कोई जानकारी पाठक को नहीं मिलती है । (जिसके लिए किसी उत्तरवर्ती काल के कवि ने कुमारसम्भव में ९ से १७ सर्ग जोड़े है ।)

परंतु कुमारसम्भव हमें अष्टम सर्ग पर्यन्त ही मिलता है । अतः इतने सीमित व्यापवाले महाकाव्य में भले षडानन कार्तिकेय के जन्म संबंधी कोई खगोलशास्त्रीय मिथक का राझ अवगत होवे या नहीं, लेकिन शिव-पार्वती के परिणय पर्यन्त की सीमित कहानी में भी, कवि कालिदास के मनोभवन में

विलसित हो रहे किस शिव-तत्त्व को हम आत्मसात् कर सकते है ? वह विवेच्य है ।

(१)

कुमारसम्भव महाकाव्य एक ऐसा साद्यन्त काव्य है कि जिसमें भगवान् शिव शंकर को नायक के रूप में स्थापित करके महाकवि कालिदास ने काव्य रचना की है । अतः 'कालिदास के शिव' को अवगत करने के लिए उसी काव्य में शिव के लिए जिन विशेषणों का विनियोग हुआ है उसका इदं प्रथमतया परामर्श करना आवश्यक है । यहाँ यह बात भी ध्यातव्य है कि महाकवि कालिदास ईसा पूर्व प्रथम शताब्दि (शुंगकाल) में पैदा हुए हैं, अतः उनको पुरोगामी काल में प्रचलित बौद्धदर्शन के भारी प्रभाव के कारण वेद विदित इन्द्र, वरूण, अग्नि, अश्विनौ, आदित्य, सोमादि देवताएँ अस्तंगत महिमा हो गये थे । तथा वेदमन्त्रों में इस ब्रह्माण्ड का द्युलोक, अंतरिक्ष लोक एवं पृथिवी लोक के रूप में विभाजन है । तथा इन तीन स्थानों के एक-एक अधिष्ठाता देव निश्चित किये गये हैं । अब वेदोत्तर काल में, या कहो अनुबुद्ध काल में, जब रामायण और महाभारत की रचना का आरंभ हुआ था, तब उन वैदिक देवताओं के स्थान में ब्रह्मा-विष्णु-महेश जैसे नवीन देवताओं की त्रिपुटी ने स्थान लेना आरंभ कर दिया था । तथा वेदवर्णित तीन लोक की अवधारणा के स्थान में स्वर्गलोक, पृथिवीलोक एवं पाताल लोक की नवीन अवधारण ने स्थान ले लिया है । एवमेव, उपर्युक्त नवीन देवता त्रिपुटी इन तीन लोक के एक-एक अधिष्ठाता न होकर, अनुक्रम से सर्जन, परिपालन और संहार के अधिष्ठाता देव माने गये हैं । मतलब कि अनुबुद्ध काल में ब्राह्मण संस्कृति ने अपने देवताशास्त्र की कायापलट करने का आरंभ कर दिया था । इस समय पर जनमानस में भी कुछ पुराणकथाएँ निश्चित रूप से प्रवहमान थी । जिसका भारी प्रतिम्बित निश्चित रूप से रामायण और महाभारत में देखा जा सकता है। अब वाल्मीकि और महर्षि व्यास के बाद, जब कालिदास आतें हैं तो उनको यह सब विरासत में मिला हुआ है। लेकिन वे शुंगकालिक कवि होने के कारण, बुद्ध धर्म के प्रभाव से बाहर निकल रही ब्राह्मण संस्कृति के उद्गाता कवि बन कर हमारे सामने उपस्थित हो रहे हैं । इस लिए उनके सामने वेद की मिथकों का भी खजाना था, और रामायण-महाभारत में प्रतिबिम्बित पुराणकथाओं

की मिथकीय कथाओं का बहुत बड़ा भण्डार भी था। तथा च, वे स्वयं भी अनन्य साधारण प्रतिभा संपन्न कवि होने के कारण कुछ अपूर्व मिथकों का निर्माण भी कर सकते थे। एवञ्च, शब्दों के निर्वचनो में अन्तर्निहित मिथकों को भी पुनर्जागृत कर लेते हैं। हिमालय के पश्चाद्वर्ती भाग में स्वर्गद्वार है ऐसी महाभारतोक्त मान्यता का पूरा लाभ उठाते हुए उन्होंने हिमालय की भौगोलिक परिस्थिति को भी बहुधा मिथकीय परिवेश में बदल दी है। जिसके अनेक संदर्भ मेघदूत तथा कुमारसम्भव में जगह-जगह पर बिखरे हुए हैं। कालिदास के काव्यसर्जन की पूर्वभूमिका का इतना दिग्दर्शन पर्याप्त है। जिसके अनुसन्धान में, कालिदास का शिव विषयक मिथकीय वर्णन एवं अष्टमूर्ति शिव का दर्शन क्या है, उसकी आलोचना की जाती है।

(२)

कालिदास का एक हाथ उनके पुरोगामी वेदकाल के साहित्य के साथ सुबद्ध बधा हुआ है तो उनका दूसरा हाथ लौकिक संस्कृत साहित्य का मार्गदर्शन बन कर, परवर्ती कविओं को अंगुलिनिर्देश कर रहा है। मतलब कि वे एक महत्त्वपूर्ण सन्धिकाल पर खड़े कविकुलगुरु है। अतः उनके काव्यों पर सामान्य रूप से दृष्टि ड़ालते ही हमें प्रथम क्षण में मालूम होता है कि उनके सामने वेदसाहित्य में वर्णित त्र्यम्बक, शूलिन्, नीलकण्ठ, शितिकण्ठ, गिरिश, रुद्रादि नामाभिहित शंकर भी है, और उस जमाने की पुराणकथाओं में वर्णित ईश, चन्द्रमौलि, वृषभध्वज, पार्वतीपति जैसे नामों से अभिहित होनेवाले शंकर भी मौजुद है॥ तद्यथा (१) कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में ब्रह्माजी इन्द्रादि देवताओं को तारकासुर के वध का उपाय बताते हुए शंकर के तेज की ही अनिवार्य आवश्यकता है यह बताते हुए कहते हैं कि,

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः ।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥ (कु. सं. २-५७)

तथा

तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः ।
मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥ (कु. सं. २-६१)

यहाँ हम जानते हैं कि इन श्लोकों में रखे गये नीललोहित एवं

शितिकण्ठ जैसे शब्द तो मूलतः यजुर्वेद संहिता में प्रयुक्त हुये हैं। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के भरतवाक्य में भी इसी नीललोहित को प्रार्थना की है कि ममापि च क्षपयतु भगवान् नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ अर्थात् भगवान् नीललोहित, जो परिगत शक्तिवाले है और जो आत्मभूः यानि स्वयंभू है, वे उनके पुनर्भव को नष्ट कर दे॥ उन्होंने अपने दूसरे विक्रमोर्वशीय नाटक के आरंभ में यही शिव को 'एक पुरुष' के रूप में वर्णित किये हैं, जो वेदान्तों में, अर्थात् उपनिषदों में निरूपित है॥ (२) दूसरी ओर कालिदास ने वही भगवान् शिव के लिए पुराणोक्त अनेक नामों का भी बहुत स्थानों पर उपयोग किया है। जैसे कि, मदनदहनोपरान्त पार्वती पितृगृह में शंकर के विरह में उन्मदना हो गई है। वह स्वप्नावस्था में कदाचित् शिवजी को पा लेती है, उसका निरूपण करते हुए कालिदास ने कहा है कि,

त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकण्ठ व्रजसीत्यलक्ष्यवाग् असत्यकण्ठा-र्पितबाहुबन्धना ॥
(कु. सं. ५-५७)

तथा, उसी तरह से विरहसंतप्त पार्वती एकान्त में, शंकर की प्रतिकृति को देख कर, उसे कहती भी है कि,

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे, न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥
(कु. सं. ५-५८)

इन श्लोकों में प्रयुक्त नीलकण्ठ और चन्द्रशेखर जैसे नाम पुराण-प्रसिद्ध कथानकों में से लिए गये हैं॥

(३)

कालिदास ने अन्यत्र भगवान् शिव का अर्धनारीश्वर रूप, जो कि पुराणों में वर्णित है, उसका भी उपयोग करते हुए उसको अपने काव्य की अलंकरण-सामग्री बनाई है। मालविकाग्निमित्र के आरंभ में ही दो श्लोक ऐसे हैं कि जिनमें कालिदास ने भगवान् शंकर के इस रूपविशेष का विनियोग किया है :- (१) **एकैश्वर्यस्थितोऽपि प्रणतबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः,**

कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद् यतीनाम् ॥
(नान्दीपद्य)

तथा,

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा । इत्यादि ।
(मालविकाग्निमित्र, १-४)

उसी तरह से, (२) रघुवंश महाकाव्य के आरंभिक मंगल श्लोक में कालिदास कहते हैं कि,

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ (१-१)

यहाँ पर पार्वती एवं परमेश्वर को वाणी एवं अर्थ की तरह सम्पृक्त कह कर, उनके अर्धनारीश्वर स्वरूप की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है ॥

(४)

पुराणों में भगवान् शिव को स्मशानभूमि-निवास कहे है, जो मुण्ड की माला पहनते है, चिताओं की भस्म का लेपन करने वाले है इत्यादि । महाकवि कालिदास ने शिव के उसी स्वरूप को भी कुमारसम्भव के सर्ग-३ में निरूपित किया है । जैसे कि,

(१) मदनदहन के बाद भगवान् भूतपति शंकर अपनी तपोभूमि को छोड़ कर, चले गये, अन्तर्ध्यान हो गये ।

तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसंनिकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ॥
(कु. सं. ३-७४)

यहाँ पर कालिदास ने शंकर को भूतों की टोली के साथ घुमनेवाले कहे हैं । एवमेव,

(२) शंकर को स्मशानभूमि में निवास करनेवाले बताते हुए कवि ने कहा है कि,

चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते ।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥
(कु. सं. ५-६८)

पार्वती के अलक्तक लगे चरण परेतभूमि याने प्रेतभूमि (स्मशान) में कथमपि चलने योग्य नहीं है ।

(३) उसके साथ-साथ भगवान् शंकर चिताभस्म का लेपन करके ही सदैव घुमते है, ऐसे व्यक्ति को पति बनाने से बचना चाहिए, यह समझाते हुए स्वंय शंकर ने कहा है कि -

अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिणेत्रवक्षः सुलभं तवापि यत् ।
स्तनद्वयेऽस्मिन् हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥
(कु. सं. ५-६९)

पार्वती यदि शंकर से विवाहित होगी तो उनके वक्षःस्थल पर चिताभस्म की रज लगेगी, वहाँ हरिचन्दन का लेप होगा ही नहीं ॥

(५)

कालिदास ने भगवान् शिव का स्मशान-वास वर्णित करने के साथ-साथ उनके वृषभारूढ होना एवं दिगम्बरादि रहना, तथा वे अजन्मा है - ऐसी-ऐसी बहुविध पुराणोक्त बातें भी अपनी वर्णन सामग्री के रूप में उपयोग में ली है :-

(१) **इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया ।**
विलोक्य वृद्धोक्षम् अधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥
(कु. सं. ५-७०)

शंकर से विवाहित हो कर क्या फायदा ? जराग्रस्त बैल पर सवारी करने योग्य पार्वती नहीं है, वह तो गजराजपत्नी पर सवारी करने योग्य है।

(२,३) एवमेव, इस शंकर को तो पति बनाया ही नहीं जा सकता। क्योंकि वे विरूपाक्ष है, तीन-तीन आँखो के होने से वे वैसे ही भयानक मुखाकृतिवाले दिखते हैं । तथा उसके कुल का तो ठिकाना ही नहीं है । उसका जन्म कब कहाँ हुआ इत्यादि बातें कोई जानता ही नहीं है । तथा वो वैसे ही दिगम्बर घुमते हैं, उससे उनकी धनसंपत्ति का भी अंदाजा हम लगा सकते हैं।

वपुर्विरूपाक्षम् अलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥
(कु. सं. ५-७२)

लेकिन इस तरह के वर्णनों में हमे कालिदास के शिव शंकर कैसे हैं ? उनकी जानकारी नहीं मिलती है । क्योंकि यह सारी वर्णनसामग्री तो पुराणों में विपुल मात्रा में अत्र तत्र फैली हुई है, सुविख्यात भी है, जिसका बिना कोई परिवर्तन किये यहाँ कुमारसम्भव में विनियोग किया गया है । अतः हमें कुछ और गहराई के साथ कुमारसम्भव को देखना होगा ॥

(६)

भगवान् शिव शंकर का जो व्यक्तित्व बहुप्रचलित है, वह है उनका एक आशुतोषत्व, एवं दूसरा है उनका भोलापन । ये दोनों परस्परविरुद्ध व्यक्तित्व ही ऐसे हैं कि जिसकी ओर सहजतया कोई भी आकर्षित हो जाता है । लेकिन कुमारसम्भव का अभ्यास करने से मालूम होता है कि कालिदास के शिव आशुतोष बिल्कुल नहीं है, बल्कि आशुरोष जरूर है । एवमेव, महाकवि कालिदास के शिव भोले नहीं है, परंतु कपटी जरूर है । क्योंकि कुमारसम्भव में ऐसे दो मुख्य स्थान है कि जहाँ पर ही वे आशुतोष नहीं बने हैं । तद्यथा,

(१) सती पार्वती शंकरजी को अपने पति के रूप में प्राप्त करना चाहती थी । अतः वह अनन्यभाव से उनकी दैनंदिन पूजा-अर्चना में व्यापृत होती है । लेकिन कामदेव ने उसी समय तपस्वी शिव पर संमोहनास्त्र चला दिया । जिसके कारण शंकर ने अपने तीनों नेत्रों को पार्वती के रूपसौंदर्य को देखने के लिए पार्वती के मुखारविंद पर व्यापृत किये । लेकिन शंकर ने उस विकार को पैदा करनेवाले कामदेव को पहचान कर, क्षणार्ध में ही अपने तृतीय नेत्र से उसको भस्मसात् भी कर दिया । मदनदहन नाम तृतीय सर्ग की इस कथा को देखकर लगता है कि कालिदास के शिव आशुतोष नहीं है, बल्कि आशुरोष है ।

(२) पार्वती के साथ विवाह हो जाने के बाद शंकरजी बहुविध रतिक्रीडा में ही व्यस्त रहते है । जिसके कारण देवता लोग दीर्घ कालावधि तक कुमारोत्पत्ति की प्रतीक्षा करते रहें, या कहो तारकासुर का त्रास सहन करते रहे । वहाँ पर भी अपेक्षित तो यही था कि उनका आशुतोषत्व झटिति प्रकट

होवे । लेकिन देवताओं की विनती के बावजुद भी वे हजारों वर्ष तक भगवती पार्वती में रममाण रहते हैं । उनको कुमारोत्पत्ति की तनिक भी जल्दी नहीं है। ऐसे शिव को आशुतोष कौन कहेगा ? महाकवि कहते है कि वे तो कामक्रीडा में ही लम्बे काल तक डूबे रहे हैं । जैसा कि, अष्टम सर्ग के अंत में कहा जाता है -

समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शंभोः,
शतम् अगमद् ऋतूनां सार्धमेका निशेव ।
न स सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव,
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥
(कु. सं. ८-९१)

यहाँ प्रश्न होता है कि क्या शिवजी भूल जाते हैं कि उधर स्वर्गलोक में देवतागण तारकासुर के त्रास से भारी उद्विग्न एवं संतप्त हो रहे हैं । सच तो यही है कि कालिदास ही भूल गये है कि उन्होंने शिव-पार्वती का परिणय ही क्यूं करवाया है ?! इस वर्णन को पढ़ते ही लगता है कि कालिदास के काव्यविश्व में शिवजी को अपना वह पुराणप्रसिद्ध **आशुतोषत्व** प्रकट करने का कोई अवसर ही नहीं पाया है ।

(३) उसी तरह से, अष्टम सर्ग में शिव जी का रतिविलास वर्णित करते समय भी कवि कालिदास उनका पुराणप्रसिद्ध भोलापन भूल जाते हैं । प्रत्युत्त उस भोलापन से विपरित कुछ आलिखित कर देते हैं । जैसे कि,

आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः ।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि मदः करिष्यति ॥
मान्यभक्तिरथवा सखीजनः, सेव्यतामिदमनङ्गदीपनम् ।
इत्युदारमभिधाय शङ्करस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥
(कु. सं. ८-७६, ७७)

शिवजी पार्वती को निसर्ग में फैले विविध सुहावने चन्द्रोदयादि के दृश्य दिखला-दिखला कर अंत में कहते है कि घिसी केसर सी सुगन्ध लिए ही हुऐ है तुम्हारा मुख पार्वति, तुम्हारी आँखे अपने आप नशीली और रक्तवर्णिनी है । (शिवजी मदिरापात्र हाथ में लेकर बोल रहे है कि,) 'हे

विलासिनी, इस मुख पर यदि मद आ भी गया तो नया क्या लाभ देगा ॥ यह (मदिरा) तुम्हारी सखी है । सखीजन की भक्ति मान ली जाती है । अतः करो ग्रहण इस मधु को । यह काम को प्रदीप्त करती है ।' इस प्रकार की उँची-उँची बातें कर शंकरजी ने उस बेचारी अम्बिका को मद्य पिला ही दिया ॥

यहाँ पर शिवजी स्वयं तो मदिरा पीते नहीं है, लेकिन मीठी-मीठी बातें करते हुए पार्वती को मदिरा पीला ही देते हैं । इस शंकरजी को कौन भोलेबाबा कहेगा ? लेकिन कालिदास हमें ऐसा कुछ सोचने ही नहीं देते हैं। वे तो कहना शूरु करते हैं कि शिवजी ने किस का पान किया ? तो,

घूर्णमान-नयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥

(कु. सं. ८-८०)

शिवजी ने घूर्णमान नयन वाले उमा के मुख का पान किया । रतिक्रीडा में लज्जाशील पत्नी का पूर्ण सहकार प्राप्त करने के लिए, उसकी लज्जाशीलता को भूला देने के लिए, किसी भी तरह से सुहावनी बातें करके, अर्थात् किसी भी तरह से उसे पटा कर, अपनी प्यारी को ऐसे मदिरा पीला देना यह तो भोलापन का लक्षण नहीं है । बल्कि धूर्त नायक का ही लक्षण है । सारांशतः, कवि कालिदास के शिव न आशुतोष है, और न तो भोले बाबा है ऐसा कहना ही होगा । (ऐसी कल्पनायें कालिदासोत्तर काल की प्रतीत होती है ।)

(७)

डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी ने तो कुमारसम्भव महाकाव्य को अष्टमूर्ति-महाकाव्य ऐसा नामान्तर ही दे दिया है । उनके मत से शिव का अष्टमूर्ति स्वरूप, इस महाकाव्य के आठों सर्गों में एक-एक करके सुविभक्त है, सुप्रतिष्ठित है। जो उनकी निजी उत्प्रेक्षा है । उन्होंने ही ऐसा कहा भी है । मतलब कि यह उनकी कल्पना का ही विलास है । क्योंकि यह महाकाव्य आठ सर्गवाला मिलता है, इस लिए प्रत्येक सर्ग में शिव की एकएक मूर्ति का निरूपण हुआ होगा ऐसी मनभावन कल्पना करना आसान है । तथापि उनका यह अभिप्राय प्रकृत चर्चा में स्मरणीय है । (क्योंकि उन्होंने बहुत वर्षो पहले श्री नन्हेराम नामक एक छात्र के द्वारा ''अष्टमूर्ति शिव'' शीर्षक से पीएच. डी. का शोधकार्य करवाया

था । सम्भवतः यह शोधकार्य प्रकाशित नहीं हो पाया है, इस लिए हम उसे देख नहीं पाये है । फिर भी) उन्होंने किस सर्ग में कौन सी शिवमूर्ति निरूपित हुई मानी है ? वह द्रष्टव्य है । उमोत्पत्ति नामक प्रथम सर्ग को पृथिवीमूर्ति माना गया है । ब्रह्मसाक्षात्कार नामक द्वितीय सर्ग को शिव की जलरूपा मूर्ति का निरूपण करनेवाला माना है । मदनदहन नामक तृतीय सर्ग को शिव की अग्निरूपा मूर्ति का निरूपण करनेवाला माना है । रतिविलाप नामक चतुर्थसर्ग को शिव की वायुरूपा मूर्ति का निरूपण करनेवाला माना है । तपःफलोदय नामक पञ्चम सर्ग को शिव की आकाशरूपा मूर्ति का निरूपण करनेवाला माना है । उमाप्रदान नामक षष्ठ सर्ग को शिव की मनश्चन्द्र रूपा मूर्ति का निरूपण करनोवाला माना है । उमापरिणय नामक सप्तम सर्ग को शिव की सूर्य रूपा मूर्ति का निरूपण करनेवाला माना है । तथा पार्वतीपरमेश्वर-सामरस्य-वर्णन नामक अष्टम सर्ग को शिव की यजमानरूपा मूर्ति का निरूपण करनेवाला माना है ॥

(८)

वेदों में एवं पुराणों में जगह-जगह पर आये शिव विषयक अनेक मिथकों का विनियोग करते हुए कालिदास ने अपने काव्यों में शिवकथा का निरूपण किया है । जिसमें शिव विषयक मिथकों से अपने काव्यों का अलंकरण भी किया है, तथा कुमारसम्भव में तो शिव विषयक कथावस्तु को ही स्वीकार कर साद्यन्त काव्य का सर्जन भी किया है । लेकिन शिव विषयक जो-जो मिथक वेदों में एवं पुराणों में बार-बार देखने को मिलते हैं उनसे उपर उठ कर भी कालिदास ने शिव को अपनी कविदृष्टि से देखा है, जिसको उन्होंने कुमारसम्भव में तथा अन्य काव्यों में भी बीच-बीच में निर्दिष्ट किये हैं । यह स्वरूप है भगवान् शिव का अष्टमूर्ति रूप । अतः कालिदास ने इस अष्टमूर्ति शिव को कहाँ-कहाँ पर उल्लिखित किये हैं, वह पहले देखना चाहिए :-

(१) रघुवंश (द्वितीय सर्ग-३५) में दिलीप को सिंह अपनी पहचान देते हुए कहता है कि,

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥

(रघु. २-३५)

(२) मालविकाग्निमित्र के नान्दी पद्य में भी अष्टमूर्ति शिव का स्मरण किया गया है:-

एकैश्वर्यस्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः,
कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः पुरस्ताद् यतीनाम् ।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः,
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥

(मा. १-१)

(३) अभिज्ञानशाकुन्तल में नान्दी पद्य में भी वही अष्टमूर्ति शिव की आठ प्रत्यक्ष मूर्तिओं का स्पष्ट परिगणन करके, उनको प्रणाम किया है:-

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

(५) कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में ही अष्टमूर्ति शिव का सीधा निर्देश मिलता है:-

तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां, केनापि कामेन तपश्चचार ॥

(कु. सं. १-५७)

(५) इसी तरह से कुमारसम्भव के सप्तम सर्ग में भी कहा जाता है कि -

तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गलिमष्टमूर्तिः ।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥

(कु. सं. ७-७६)

(६) कुमारसम्भव में उसी सप्तम सर्ग में अष्टमूर्ति का जिस सन्दर्भ में स्मरण है, वह भी सूचक है:-

वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि वीरप्रसवा भवेति ।
वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ॥

(कु. सं. ७-८७) इत्यादि

इन एकाधिक सन्दर्भो में कालिदास ने शिव को जो बार-बार याद किया है, नमस्कार किया है वह सूचित करता है कि कवि के मन में शिव

का जो सूक्ष्म तात्त्विक रूप समझ में आया है वह तो अष्टमूर्ति स्वरूप ही है। इस सूक्ष्म स्वरूप की व्याख्या कवि कालिदास ने की भी है, जो अभिज्ञानशाकुन्तल में उपलब्ध होती है । कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के नान्दीपद्य में अष्टमूर्ति शिव, जो वस्तुतः तो इन्द्रियातीत निर्गुण ब्रह्मन् का हमारे सामने विलसित हो रहा मूर्तिमन्त रूप ही है, उसकी स्तुति की है । कालिदास ने इस पद्य में अष्टमूर्ति शिव का व्याख्यान (अनुवाद) करते हुए, उन आठ प्रकट रूपों (अष्टविध मूर्तियों) को शिव की प्रत्यक्ष तनुएं कही हैं । जैसे कि,

या स्त्रष्टुः सृष्टिराद्या वहति विधिहूतं, या हविर्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः,
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १-१)

कालिदास ने शिव का जो अष्टमूर्ति स्वरूप वर्णित किया है, उसमें हमारे विचार से जीवमात्र को जीवन-यापन के लिए जो-जो परम उपकारक तत्त्व निसर्ग में सुव्याप्त है, उन सबको 'शिव' कहा है । वह एक तरह से उनका निजी कविदर्शन भी है, और निरीश्वरवादी बौद्धों को परोक्षरूप से प्रत्युत्तर भी है कि ये रहे हमारे शिव, जिनके इतने प्रकट रूप देखते हुए भी कोई कैसे कहेगा कि इस ब्रह्माण्ड में कोई परमेश्वर है ही नहीं ?! ॥

इस आलेख के आरंभ में कहा गया है कि कालिदास अनुबुद्ध काल में पैदा हुए थे । उस समय बौद्ध संस्कृति की दार्शनिक विचारधारा से पूरा भारत देश बहुधा दबा हुआ था । किन्तु निरीश्वरवादी बौद्धों के सामने ब्राह्मण संस्कृति का पुनरुत्थान करने का कार्य शुंगवंशीय राजाओं ने किया । इस सांस्कृतिक इतिहास की पार्श्वभूमि में आये कवि कालिदास ने अपनी साहित्यसृष्टि के माध्यम से न केवल ब्राह्मण संस्कृति को बढावा देने का सफल कार्य किया है, किन्तु निरीश्वरीवादी बौद्धविचार धारा को भी प्रत्युत्तर देने का सबल प्रयास किया है । इस सन्दर्भ में यदि हम देखेंगे तो, महाकवि ने अपने काव्यों में वेदोक्त एवं पुराणोक्त भगवान् शिव के मिथकों का बहुविध विनियोग किया है । जिसमें उन्होंने अपने कवित्व की पराकाष्ठा दिखाने के लिए शिव का आशुतोषत्व या भोलापन कदाचित् निखारा नहीं है । तथापि शिव का वेदोक्त

निगूढ तात्त्विक रूप (अष्टमूर्तित्व) सोच कर, खोज कर हमारे सामने प्रस्तुत भी कर दिया है । यहीं पर छिपा है कालिदास का कविदर्शन अर्थात् क्रान्तदर्शन। यह कविदर्शन हमें बता रहा है कि अखिल ब्रह्मांड में जो पृथिवी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्र एवं यजमान (अर्थात् चैतन्यविशिष्ट जीवात्मा) - यही है भगवान् शिव का मूर्तिमन्त रूप, जो सभी को सदैव प्रत्यक्ष ही है। ये वही तत्त्व है कि जिनके बिना इस धरातल का एक भी प्राणी अपना जीवनयापन नहीं कर सकता । सच्चे अर्थ में यही आठ तत्त्व हैं कि जो सब के लिए कल्याणकारक सिद्ध हुए हैं । शिवजी कोई जटाधारी, स्मशानवासी, चिताभस्मलेपनवाला दिगम्बर तापस नहीं है, वह तो शिव तत्त्व का किसी न किसी रूप में कल्पित किया गया मिथकीय (पौराणिक) स्वरूप है । सूक्ष्म तात्त्विक रूप में यदि देखा जाय तो, भगवान् शिव अष्टमूर्ति रूप में हमारे आसपास चौपास सदाकाल विलसित हो रहे हैं। परमेश्वर शिव की इतनी सारी प्रकट एवं प्रत्यक्ष मूर्तियाँ के होते हुए भी निरीश्वरवाद का अवलम्बन करना, बौद्ध-दर्शन के कहने में आना, बिलकुल उचित नहीं है । वेद धर्म यानि यज्ञ संस्कृति का पराभव थामने के लिए साहित्यकला का सबल विनियोग कैसे किया जा सकता है, वह हमें कालिदास सिखाते हैं ॥

(९)

कालिदास ने इस कुमारसम्भव काव्य के आरंभ में शिव के वेदोक्त नामों का संनिवेश किया है। तत्पश्चात् पूरे महाकाव्य में बहुशः पुराणादि में बार-बार उल्लिखित होनेवाले शिव के स्वरूपों का अनेकशः उल्लेख किया है। तथा अपनी काव्यसृष्टि को अतिमोहक बनाने के लिए एवं रसोत्पत्ति के हेतु से प्रेरित होकर उन्होंने पुराणों में वर्णित शिव के (आशुतोषत्व या भोलेपन जैसे) स्वरूपों का अन्यथा आलेखन भी कर डाला है । लेकिन शिव का जो वेदोक्त नित्य अष्टमूर्ति स्वरूप है, उसमें किसी भी तरह का विपरिणमन (या खिलवाड) नहीं किया है। जिसके कारण, उनके सभी काव्यों में शिव का जो अष्टमूर्ति स्वरूप है वह पौनः पुन्येन यथावत् अभिधा में ही कहा गया है । (और, शिव का यही स्वरूप कालिदास को अभीष्ट है ।) तथापि इस महाकाव्य में दो कारणों से हमें कालिदास के इस अभीष्ट शिव का दर्शन नहीं होता है। जैसे कि, (१) वर्णन-सामग्री के रूप में शिव-विषयक पुराणोक्त मिथकों की बुनावट भारी मात्रा

में की गई है, एवं शिव-पार्वती के परिणय की कथा शृङ्गारातिरेक से कही गई है। तथा (२) कुमारोत्पत्ति को काव्य का गन्तव्य लक्ष्य कहने के बावजुद भी कवि कालिदास भगवान् शिव एक देवाधिदेव है, यह बात भूला देकर, उनके प्रेम को सर्वथा मानवकोटि का प्रेम-प्रसंग बना कर चलते रहे हैं। जिसमें पाठकवर्ग लिप्त होकर धीरे-धीरे तल्लीन हो जाता है ।

उपर्युक्त कारणों से कालिदास को जो अभीष्ट है वह अष्टमूर्ति शिव का दर्शन पाठकों के लिए अज्ञात या अज्ञेय ही बन गया है। किन्तु इन कारणों के अलावा भी दो कारण और भी हो सकते है। जैसे कि, (क) दशवी शताब्दि के आनन्दवर्धन ने कुमारसम्भव में निरूपित शृङ्गारातिरेक को देख कर कालिदास की कड़ी आलोचन की है । जिसको पढ कर भी पाठक वर्ग का ध्यान उस शृङ्गारातिरेक को पुनरपि एक बार देख लेने के लिए सदैव लालायित रहता है। मतलब की आनन्दवर्धन की टीका को सुनने के बाद, पाठक शृङ्गार के उपरांत कुछ नयी या अज्ञात रही चीज को ढूँढने का सोच ही नहीं सकता है। तथा (ख) कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कुमारसम्भव की आलोचन करते हुए कामदहन को ही केन्द्र में रख कर कुमारसम्भव के मर्म को उद्घाटित करने का उपक्रम किया था । अतः कालिदास का निजी दर्शन शिव का अष्टमूर्ति स्वरूप ही है यह बात कहने की आज आवश्यकता महेसूस होती है ॥

—x—

उपक्रम-9

कालिदासीय काव्यों में च्व्यन्त-रूपों के द्वारा अर्थवैविध्य की अभिव्यक्ति

भूमिका - विकार को प्राप्त करनेवाली प्रकृति के अर्थ में स्थित शब्द को स्वार्थ में च्वि-प्रत्यय होता है - ऐसा वैयाकरण पाणिनि ने ''कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः ।'' (पा.सू. ४-५०) सूत्र से कहा है । पाणिनि के मत से च्वि स्वार्थिक प्रत्यय है । (अर्थात् यह च्वि-प्रत्यय जिसके साथ जुड़ता है उस प्रकृति के अर्थ में कोई नया विशेष अर्थ शामिल नहीं करता है ।) किन्तु वार्तिककार कात्यायन ने इस सूत्र के विषय में, एक वार्तिक जोड़ा है :- ''अभूत-तद्भावे च्विः इति वक्तव्यम्'' । अर्थात् जो पहले अमुक प्रकार का नहीं था, वह बाद में वैसा हो जाता है, हो गया है - ऐसा व्यक्त करने के लिए भी, च्वि प्रत्यय का विनियोग होता है । उदाहरणतया अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति वा इति कृष्णीकरोति । यानि जो वस्तु पहले (भूतकाल में) काली नहीं थी, उस वस्तु को बाद में काली कर रहा है, या वह वस्तु स्वंय काली हो जाती है तो उसके लिए कृष्ण शब्द को च्वि प्रत्यय लगा कर, ''कृष्णीकरोति / कृष्णीभवति'' जैसा प्रयोग होता है । एवमेव, अब्रह्मा ब्रह्मा भवतीति ब्रह्मीभवति । (जो व्यक्ति पहले ब्रह्मा नहीं था, वह बाद में वैसा हो जाता है, तो उसके लिए ब्रह्मीभवति ऐसा च्व्यन्त प्रयोग होता है) इस तरह से पाणिनीय व्याकरण में, च्वि-प्रत्यय से दो प्रकार के अर्थो का बोध हो सकता है - ऐसा कहा गया है ॥

कालिदास की कृतियों में जहाँ जहाँ च्वि-प्रत्ययान्त प्रयोग हुए हैं उनका अध्ययन करने से मालूम होता है कि वहाँ पर उपर्युक्त दो तरह की अर्थच्छायाएँ प्रकट करनेवाले प्रयोग तो हुए ही है । लेकिन उनसे हट कर, कुछ नवीन अर्थों की भी अभिव्यक्ति करनेवाले च्वि-प्रत्ययान्त प्रयोग मिल रहे हैं । तथा इस विषय का नाम-निर्देश काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी शायद कहीं पर नहीं मिलता है । प्रस्तुत शोध-आलेख में इस विषय का निरूपण किया जा रहा है :-

(१) सब से पहले, जहाँ पर च्वि-प्रत्यय का स्वार्थ में विनियोग हुआ है वैसा उदाहरण कालिदास के काव्यों में से दिया जाता है :-

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥

(रघुवंशम्, २-२१)

(अनुवाद : रानी सुदक्षिणा के हाथ में अक्षतयुक्त पात्र था । उसने उस पयस्विनी नन्दिनी की प्रदक्षिणा की, और उसको प्रणाम कर उसके भाल की पूजा की । भाल दोनो सींगों के बीच फैला और चौड़ा था । वह मानों अर्थसिद्धि का आगमनद्वार था।[१])

इस श्लोक में ''प्रदक्षिणीकृत्य'' जैसे च्वि-प्रत्ययान्त शब्दप्रयोग में ''अभूत-तद्भावार्थक'' च्विप्रत्यय का प्रयोग नहीं किया गया है । बल्कि यहाँ तो सूत्रकारोक्त ''स्वार्थ'' में ही प्रयोग किया गया है । जिसका अर्थ होता है : प्रदक्षिणां कृत्वा ॥

(२) कालिदास के काव्यों में च्वि-प्रत्यय का दूसरे यानि ''अभूत-तद्भाव'' अर्थ में भी अनेक स्थानों में प्रयोग हुआ है । लेकिन इस अभूत-तद्भावार्थक च्वि-प्रत्यय का प्रयोग द्विविधतया किया जाता है । जैसे कि, (क) वास्तविक अभूत-तद्भाव एवं (ख) काल्पनिक अभूत-तद्भाव अर्थ का जहाँ बोध होता है । उदाहरणतया -

१. कालिदास ग्रन्थावली, (हिन्दी अनुवाद के साथ), सम्पादक एवं अनुवादक प्रॉफे. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी, कालिदास संस्कृत अकादेमी, उज्जयिनी, २००८, भाग-१, पृ.२०

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वसङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बक-वीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥

(रघुवंशम्, २-४२)

(अनुवाद : और उसने सिंह को उत्तर दिया, उसके बाणप्रयोग में हाथ सटने की घटना पहली बार घटी थी और पहली बार हुआ था उनका प्रयत्न विफल । ऐसे ही वज्रप्रहार के लिए उद्यत इन्द्र भगवान् शिव के दृष्टिपात से जड़ हो गया था ।[२])

यहाँ पर वज्र को फेंकने के लिए वज्रपाणि इन्द्र उद्यमी होना चाहते हैं, तत्पर भी होते हैं । लेकिन त्र्यम्बक (तीन नेत्रवाले ईश्वर) ने अपने दृष्टिपात से ही उस इन्द्र को जडीकृत कर दिया । अर्थात् जो पहले जड नहीं था, बल्कि जो पहले उद्यमी थाय, उसको बाद में जड बनाया गया है । अजडः (उद्यमी) जडः क्रियते, इति जडीक्रियते । ऐसा अर्थबोध होता है । यहाँ वास्तविक रूप में, जो इन्द्र पहले अजड (यानि उद्यमी) था, उसको बाद में त्र्यम्बक के दृष्टिपात से जड बनाया जाता है । अतः कालिदास ने उसके लिए जडीकृतः ऐसा च्वि-प्रत्ययान्त शब्द-प्रयोग किया है ॥

(३) अब जहाँ पर काल्पनिक अभूत-तद्भाव का विनियोग किया गया है, और उसमें से विशिष्ट अर्थों की जो चमत्कृतियाँ आकारित होती हैं, उसका उदाहरण-मुख से निरूपण किया जाता है । जैसे कि,

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीम् शशासैकपुरीमिव ॥

(रघुवंशम् १-३०)

(अनुवाद : दिलीप (जैसे कोई राजा किसी ऐसी नगर पर शासन करे जिसके चारों ओर परकोटा और खाई हो वैसे ही) दिलीप इस पूरी पृथिवी पर अकेला राज्य करते थे जिसका परकोटा समुद्र का तट था और जिसकी खाई का काम स्वयं समुद्र करता था ।)

इस श्लोक में, दिलीप राजा ने कियत् पर्यन्ता पृथिवी पर शासन

२. कालिदास ग्रन्थावली, (हिन्दी अनुवाद के साथ), सम्पादक एवं अनुवादक प्रॉफे. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी, कालिदास संस्कृत अकादेमी, उज्जयिनी, २००८, भाग-१, पृ.२४

किया ? यह बताते हुए कालिदास ने ''परिखीकृत-सागराम्'' ऐसी पदावली का प्रयोग किया है, जिसमें च्वि-प्रत्यय का विनियोग ध्यानार्ह है । इस पदावली को समझाते हुए टीकाकार मल्लिनाथ लिखते हैं कि - परितः खातं परिखाः दुर्गवेष्टनम् । अपरिखा परिखाः संपद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागरा यस्यास्ताम् पृथिवीम् । अत्र अभूत-तद्भावे च्विः इति ॥ अर्थात् जिसके चौ पास में जमीन का खनन किया हो उस दुर्गवेष्टन को परिखा (खाई) कहते है । दिलीप राजा ने भी अपने राज्य का सागर पर्यन्त जो विस्तार किया था, उससे लगता था कि उन्होंने पृथिवी के चौपास फैले सागर को ही परिखाएँ बना कर रख दिये हैं । यहाँ पर सहृदय पाठकों के मन में तुरंत ''परिखीकृतसागराम्'' शब्द में से ''सागराः एव परिखाः'' का, अर्थात् रूपकालंकार सहित का, अर्थबोध प्रादुर्भूत होता है । इसमें परिखा रूप उपमान का, सागर रूप उपमेय के उपर अभेदारोप किया गया है । किन्तु इस अभेदारोप में ''एव''-कार का उपयोग नहीं किया गया है । उस एवकार के विकल्प में च्वि-प्रत्यय का प्रयोग हुआ है । जिससे उपर्युक्त अभेदारोप सिद्ध हुआ है । एवञ्च, यह अभेदारोप काल्पनिक अभेदारोप है, जो च्वि-प्रत्यय के सामर्थ्य से सिद्ध हुआ है ।

(४) इस सन्दर्भ में एक उदाहरणान्तर द्रष्टव्य है, जिसमें भी काल्पनिक अभूत-तद्भावार्थ की प्रतीति होती है :

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥

(रघुवंशम्, २-३)

(अनुवाद : दयालु राजा ने पत्नी को लौटाया और लग गया वह उस नन्दिनी गौ की रक्षा में । नन्दिनी यदि सुरभि (कामधेनु) की पुत्री थी तो दिलीप स्वयं यश से सुरभि था । वह उस नन्दिनी की रक्षा पृथिवी की रक्षा के समान कर रहा था, मानों पृथिवी ही गौ का रूप धारण किए हुए थी, इसलिए कि पृथिवी पर चार पयोधर (समुद्र) हुआ करते हैं, तो नन्दिनी के भी चार थन थे पयोधर (पय-जल और दूध)[३] ॥)

३. कालिदास ग्रन्थावली, (हिन्दी अनुवाद के साथ), सम्पादक एवं अनुवादक प्रॉफे. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी, कालिदास संस्कृत अकादेमी, उज्जयिनी, २००८, भाग-१, पृ.१७

इस श्लोक में भी जो ''पयोधरीभूतचतु:समुद्राम्'' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसमें च्वि-प्रत्यय ध्यानार्ह है। इसको विशद करते हुए टीकाकार मल्लिनाथ ने लिखा है कि - अपयोधरा: पयोधरा: संपद्यमाना: पयोधरीभूता:। अभूत-तद्भावे च्विरिति। कुगतिप्रादय: इत्यनेन समास:। पयोधरी-भूताश्चत्वार: समुद्रा: यस्यास्ताम् इति ॥ अर्थात् जो पयोधर नहीं है, फिर भी जो पयोधर बने है, ऐसे चारों समुद्रवाली उर्वी (पृथिवी) ही हो ऐसी सुरभि गौ की दिलीप ने रक्षा की। इस श्लोक में भी ''समुद्रा एव पयोधरा:'' ऐसा विग्रहवाक्य लेने से, रूपकालंकार सिद्ध होता है। यहाँ पयोधर रूप उपमान का समुद्र रूप उपमेय के उपर जो अभेदारोप किया गया है, वह च्वि-प्रत्यय के कारण सम्भव हुआ है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह अभेदारोप ''एव''कार निष्ठ नहीं है ॥

(५) अब एक ऐसा उदाहरण दिखाते हैं कि जिसमें च्वि-प्रत्यय के प्रयोग से महाकवि कालिदास ने उत्प्रेक्षा अलंकार भी सिद्ध किया है :

अमुं पुर: पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननि:सृतानां स्कन्दस्य मातु: पयसां रसज्ञ: ॥

(रघुवंशम् २-३६)

(अनुवाद : यह जो तुम्हारे सामने बडा सा देवदारु का पेड़ दिखाई दे रहा है, इसे भगवान् वृषभध्वज ने पुत्र नहीं होते हुए भी पुत्र मान लिया है। क्योंकि वह कार्तिकेय की माता के सुवर्ण के कुम्भ रूपी स्तनों के रस को जाननेवाला है। अर्थात् पार्वतीजी ने हेमकुम्भ रूपी स्तनों के रस से सींच सींच कर इसे इतना बड़ा किया है।)

इस पद्य में, वृषभध्वज शंकरजी ने देवदारु वृक्ष, जो वैसे तो उनका पुत्र नहीं था, किन्तु उसको पुत्र मान लिया था - ऐसा प्रतिपादित करने के लिए कालिदास ने च्वि-प्रत्ययान्त पुत्रीकृत शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ देवदारु वृक्ष उपमेय के उपर पुत्र रूप उपमान की सम्भावना उत्प्रेक्षित की गई है। यहाँ वास्तविक अभूत-तद्भाव नहीं है, किन्तु कल्पनाजनित सम्भावनामूलक अभूत-तद्भाव सोचा गया है। इस तरह से, प्रस्तुत श्लोक में च्वि-प्रत्यय से उत्प्रेक्षा अलंकार सिद्ध किया गया है।

उपसंहार : संस्कृत वाक्यों में च्वि-प्रत्यय की श्रुति तो सर्वत्र

एकसमान सुनाई पडती है। किन्तु उसके प्रयोग से सर्वत्र एकसमान अर्थ की प्रतीत नहीं होती है। च्वि-प्रत्ययान्त शब्दप्रयोगों से सूक्ष्म दृष्टि से देखा जायेगा तो विभिन्न प्रकार की अर्थच्छाया प्रकट हो सकती है। व्याकरणशास्त्र में सूत्रकार पाणिनि ने इस प्रत्यय को स्वार्थिक माना है। तदनन्तर वार्तिककार ने उसीको अभूत-तद्भावार्थक बताया है। किन्तु उपर्युक्त उदाहरणों से जैसा बताया है वैसे काव्यप्रणयन करते समय महाकवि कालिदास ने अभेदारोपमूलक रूपकालंकार भी सिद्ध किया है एवं कुत्रचित् संभावनामूलक उत्प्रेक्षालंकार भी आकारित किया है ॥

च्वि-प्रत्यय के प्रयोग के द्वारा ऐसे विभिन्न अलंकार भी सिद्ध हो सकते हैं - यह उल्लेखनीय हकीकत काव्यशास्त्रियों ने कहीं बताई नहीं है ॥

—x—

उपक्रम–10

कालिदास–साहित्य में अभिनव अर्थानुप्राणित वैदिक शब्दावली का प्रयोग*

उत्कृष्ट काव्यकृति का निर्माण तब ही होता है, जब अलौकिक दर्शन जिसमें निहित हो ऐसी कोई विषयवस्तु का चयन किया जाय । बाद में उस वस्तुगुम्फन में अलंकारादि रूप शोभाकर धर्मों की स्वाभाविक बुनावट करते हुए समुचित शब्दावली के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति की जाए । महाकवि कालिदास ने अपनी काव्यनिर्मिति में जिन शब्दावली का विन्यास किया है, उस पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कालिदासने वैदिक शब्दावली का प्रयोग करने में एक विशेष प्रकार की रुचि दिखाई है । कालिदास की पात्रसृष्टि में जहाँ भी देवताओं के पात्र आते हैं, उसके लिए कालिदास ने अनेक स्थानों पर, वैदिक मन्त्रसाहित्य में प्रचलित हो ऐसे शब्दों का ध्यानास्पद प्रयोग किया है । कालिदास की अनेक विशेषताओं में यह भी एक परिगणनीय विषय है।

कालिदास की कृतिओं के अनुरागी रसिकजनों के स्मृतिपट पर सद्यः उपस्थित होनेवाली वैदिक शब्दावली इस प्रकार की है: स्थाणु, नीललोहित, त्रियम्बक, शितिकण्ठ, रोदसी, मघवन्, कृशानु, पुरन्दर इत्यादि । यद्यपि देवता सृष्टि के लिए प्रयुक्त इन वैदिक शब्दों के साथ साथ, कालिदास ने पौराणिक शब्दों का प्रयोग भी बहुशः किया है । उदाहरण स्वरूप देखें तो – स्मरारि,

* कालिदास समारोह, विक्रम युनिवर्सिटी, उज्जयिनी (31 Oct' 98 to 6 Nov. 98) में प्रस्तुत शोधलेख ॥

मदनान्तक, चन्द्रमौलि, वृषराजकेतन, कुबेर इत्यादि । अब यह तो सुविदित है कि वैदिक पुराकथाशास्त्र की दृष्टि से इन्द्रादि देवताओं के साथ सम्बद्ध हो ऐसे उनके निश्चित स्वरूप एवं पराक्रमादि होते है । और यही देवताविषयक धारणायें आगे चलकर पुराणकाल में सुविकसित होती है । पुराणकाल में वैदिक देवताओं के परिवार रूप में अन्य पत्नी, पुत्रादि का भी कल्पन हुआ है, और नई नई अनेक प्रसंग शृंखलायें भी प्रस्तुत की गई है । अतः यह विचारणीय है कि कालिदास ने देवताओं के लिए जहाँ पर भी वैदिक शब्दावली का प्रयोग किया है वहाँ पर वही अर्थच्छाया विलसित है कि जो वेदों में दिखाई पडती थी ? प्रस्तुत अभ्यास से ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास द्वारा प्रयुक्त यह वैदिक शब्दावली कतिपय उदाहरणों में अभिनव अर्थों से अनुप्राणित है । अर्थात् वेद में उन शब्दों के जो अर्थ प्रचलित थे वह परिवर्तित हो रहे हैं ॥

कुमारसम्भव में भगवान् शंकर सप्तर्षिओं से कह रहे हैं कि हमारे लिए हिमालय के पास जाकर पार्वती के हाथ की याचना करो । क्योंकि तारकासुर से संतप्त देवगण मुझ से एक पुत्र की अपेक्षा रखते है :

अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीम् आत्मजन्मने ।
उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणिम् ॥ (कुमार. ६–२८)

हविर्भोक्ता अग्नि की उत्पत्ति के लिए यजमान जैसे अरणि लाना चाहता है, उसी तरह मैं अपने पुत्र की उत्पत्ति के लिए पार्वती को मांग रहा हुँ ।[१] यहाँ पर 'अरणिसंभूत' और 'हविर्भोक्ता' अग्नि का उल्लेख वेदमन्त्रानुसार है । परंतु अग्नि देवता के लिए, कालिदास जब कृशानु शब्द का प्रयोग करते हैं तब, वह शब्द वैदिक होते हुए भी, मूल अर्थ से हटकर प्रयुक्त है । जैसे की –

गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥
(कुमार. १–५१)

पार्वती प्रगल्भ वयस्का हो गई थी, फिर भी पिता हिमालय ने नारद

१. द्रष्टव्यः कालिदास–ग्रन्थावली सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रका. काशी हिन्दु विश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९७६

से जब सूना की पार्वती तो भविष्य में शंकर के साथ परिणीत होने वाली है, तब से उन्होंने अन्य वर का अभिलाष छोड़ दिया । यहाँ पर कालिदास ने उपमा दी है कि कृशानु नामक अग्नि को छोड़कर अन्य कोई भी तेज (अर्थात् आदित्यादि) मन्त्रपूत हव्य के योग्य नहीं है । इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि, महाकवि कालिदासने यहाँ पर यज्ञवेदी के अग्निदेवता, जिस में मन्त्रपूत हव्य का होम किया जाता है, उसके लिए 'कृशानु' शब्द का प्रयोग किया है ।[२] परंतु वेद में जहाँ 'कृशानु' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका पूर्वापर सन्दर्भ निम्नोक्त है :-

अव यच्छ्येनो अस्वनीदध द्योर्वि यद्यदि वात ऊहुः पुरंधिम् ।
सृजद्यदस्मा अव ह क्षिपज्ज्यां कृशानुरस्ता मनसा भुरण्यन् ॥
(ऋ.सं. ४-२७-३)

''जब श्येन ने द्युलोक में से शब्द किया, और (सोमपालोंने) इस (श्येन) से पुरंधि (=सोम) को हटाकर फेंक दिया । (तब) बाणों के फेंकनेवाला (=धनुर्धारी) और मनोवेग से जाने की इच्छा करनेवाले 'कृशानु' (नामक सोमपाल)ने धनुष्य की प्रत्यञ्चा को फेंका ॥'' - ऋषि वामदेव के चतुर्थ मण्डल में श्येन देवता का यह सत्ताईसवाँ सूक्त है । जिस में धनुर्धारी सोमपाल के लिए 'कृशानु' शब्द का प्रयोग हुआ है । प्रॉ. मेकडोनल ने भी 'वैदिक माइथोलोजी' में लिखा है कि इसके अतिरिक्त धनुर्धर 'कृशानु', जो सोम ले जाने वाले श्येन पक्षी पर बाण चलाता है (ऋ. ४-२७-३), एक गन्धर्व ही प्रतीत होता है, और तैत्तिरीय आरण्यक (१-९-३) में उसे स्पष्ट रूप से ऐसा ही कहा भी गया है ।[३] इस तरह, वेद में जो 'कृशानु' शब्द एक धनुर्धारी व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था, वही शब्द कालिदास ने यज्ञवेदी के अग्नि के लिए प्रयुक्त किया है ।

४

यह तो सुविदित है कि महाकवि कालिदास ने वैदिक काल के इन्द्र

२. कुमारसम्भव (७-७९) में विवाहविधि के अग्नि के लिए 'कुशानु' शब्द का प्रयोग किया है ।

३. ए.ए. मकडोनेलकृत वैदिक माइथोलोजी; अनुवादक: रामकुमार राय, चौखम्बा विद्या भवन, द्वितीयावृत्ति, १९८४, (पृ. २६०)

देवता को भी अपने काव्यजगत् में अनेक प्रसंग में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। परंतु वैदिक पुराकथा शास्त्रीय दृष्टि से, इन्द्र देव का वेदों में जो व्यक्तित्व है उस में प्रथम स्तर में वह आकाशीय गर्जन के और वृष्टि के देवता है । बिजली गिरने की नैसर्गिक प्रक्रिया को ही 'व्रज' नाम दिया गया है । और 'वृत्र' जैसे अवर्षण अथवा अन्धकार के दैत्यों पर विजय प्राप्त करना तथा उसके फलस्वरूप जल की मुक्ति (वर्षा) करना अथवा प्रकाश का विस्तरण करना वह इन्द्र का प्रमुख कर्तव्य है । इसी लिए इन्द्र को वारंवार वृत्रहन्, वृत्रघ्न और वज्रिन् कहा गया है । यास्क के 'निरुक्त' में भी - ''तत्को वृत्रः । त्वाष्ट्रोऽसुर इति ऐतिहासिकाः । मेघ इति नैरुक्ताः ॥'' (अ.७) कह कर 'वृत्र' अर्थात् 'मेघ', यह अर्थ पुरस्कृत किया है । क्योंकि वह जल को आवृत्त हो कर बैठता है । दूसरे स्तर पर वेंदो में इन्द्र को युद्ध के देवता के रूप में चित्रित किया गया है, जो इन्द्र भारतीय आदिवासियों पर विजय प्राप्त करने में विजेता आर्यों की सहायता करते है ।[४] इस सन्दर्भ में इन्द्र के लिए पुरन्दर, पुरभिद्, मघवन्, इत्यादि विशेषणों का प्रयोग किया गया है । युद्ध के दौरान शत्रुओं के नगर को तोड़ना स्वाभाविक है । अतः इन्द्र को 'पुरभिद्' कहा जाता है, और युद्धोपरांत धन-प्राप्ति होती है । अतः इन्द्र को 'मघवन्' कहना भी समुचित है ।

परंतु कालिदासीय साहित्य में जब दृष्टिपात करते हैं तो इन्द्र देवता के लिए पाकशासन, महेन्द्र, ऐरावतास्फालन, कर्कशाङ्गुलिः जैसे पौराणिक शब्दों का तो विनियोग किया ही गया है । और कहीं कहीं पर तुराषाट्, वज्री और मघवा जैसे वैदिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । परंतु इन शब्दप्रयोग के वैदिक सन्दर्भ अब बदलते दिखाई दे रहे हैं । जैसे कि 'मेघदूत' में मेघ की प्रशंसा में यक्ष कहता है :

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ॥ (पूर्वमेघ)

यहाँ पर वेदकाल का जो 'वृत्र' - अपर पर्याय मेघ-है, और जो इन्द्र का शत्रु है उसको ही इन्द्र का प्रकृति पुरुष - मूल या प्रधान पुरुष कहा गया

४. द्रष्टव्य: वैदिक माइथोलोजी; मेकडोनेल, (पृ. १०२)

है । एवमेव यहाँ पर इन्द्र को वृत्रहन्, वृत्रघ्न नहीं कहा है, परन्तु 'मघवन्' कहा गया है, कि जो नाम तो वेद में युद्धोपरान्त धन दिलाने वाले इन्द्र देव के लिए द्वितीय स्तर पर प्रयुक्त होता था । अतः यह स्पष्ट है कि वैदिकसन्दर्भों से हटकर भी कालिदास ने वैदिक शब्दों का प्रयोग शूरू किया था ।

एक दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है : 'विक्रमोवर्शीय' नाटक के आरंभ में केशी दानव अप्सरा उवर्शी का अपहरण करता है । सुरपक्षपाती राजा पुरूरवा उनके हाथों में से उर्वशी को बचा कर वापस ले आता है । यहाँ पर राजा पुरूरवा एवं चित्रलेखा के बीच जो संवाद होता है वह इस प्रकार है :

चित्रलेखा- महत् खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियम् अनुष्ठितं भवता । पश्य-

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्यहस्ताद् अपाच्छिद्य सुहृदा संप्रति त्वया ॥ १-१६

राजा - सखे मैवम् -

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद् ।
विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ॥ १-१८

यहाँ पर इन्द्र के लिए मघवा, मरुत्वान् एवं वज्री जैसे वैदिक शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है । परंतु प्रस्तुत प्रसंग में तो एक मनुष्य राजा ने केशी दानव को पराजित किया है । वज्रधारी इन्द्र तो स्वर्ग में ही सुख से बैठे हैं और उर्वशी की मुक्ति के लिए गन्धर्वसेना को भेजने का आदेश दे रहे हैं । कालिदास की पात्रसृष्टि में वैदिक देवता लोग अवश्य है, परंतु देव और दैत्य का परस्पर युद्ध जो वेदों में और पुराणों में वर्णित है वह कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' एवं 'शाकुन्तल' जैसे नाटकों में नहीं है । यहाँ तो मानव-नायक ही दैत्यों-असुरों को परास्त करके देवाधीश महेन्द्र का उपकार करते हैं । कालिदास की पात्रसृष्टि का यह भी एक वैशिष्ट्य है ।

५

कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में भगवान् शंकर के लिए एक 'शितिकण्ठ' शब्द का प्रयोग किया है । वैदिक साहित्य में देखें तो यह शब्द शुक्लयजुर्वेद

संहिता के सोलहवे रुद्राध्याय में प्रयुक्त हुआ है: - ....नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥ (१६-२८) इस मन्त्र के भाष्य में उवट ने लिखा है कि - नीलग्रीवः कृष्णग्रीवः, शितिकण्ठः श्वेतकण्ठः ॥ और इसी बात का विस्तार करते हुए महीधर ने लिखा है कि - विषभक्षणेन नीला नीलवर्णा ग्रीवा कण्ठैकदेशो यस्य स नीलग्रीवस्तस्मै नमः । शितिः श्वेतः कण्ठो नीलातिरिक्तभागो यस्य शितिकण्ठस्तस्मै नमः ।[५] यहाँ पर नीलग्रीव के विरुद्धार्थ में 'शितिकण्ठः' शब्द का प्रयोग हुआ है । अर्थात् यजुर्वेद में 'शितिकण्ठ' शब्द 'श्वेतकण्ठ' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है यह सुनिश्चित है । परंतु कवि कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में दो स्थानों पर शितिकण्ठ शब्द का प्रयोग नीलकण्ठ अर्थ में किया है :-

जैसे कि -

तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यमुपेत्य वः।
मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥ (कु. २-६१)

प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् ।
चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ॥ (कु. ६-८१)

यहाँ पर मल्लिनाथ ने शितिकण्ठ का पहेले रूढार्थ शिवाय दिया है, बाद में 'नीलकण्ठ' ऐसा पर्याय भी बताया है :

विबुधा देवाः शितिकण्ठाय शिवाय प्रणम्य तदनन्तरं नीलकण्ठ-प्रणामानन्तरम् अस्याश्चरणौ चूडामणिमरीचिभी रञ्जयन्तु ॥[६] प्रस्तुत चर्चा को विशद करने के लिए कहना चाहिए की शिती धवल मेचकौ ।'' इस कोशपंक्ति के आधार पर शिति शब्द के श्वेत एवं नील जैसे दोनों अर्थ संभवित है । अतः कालिदास ने नीलकण्ठ अर्थ में ही शितिकण्ठ शब्द का प्रयोग किया है । लेकिन हमने उपर्युक्त मन्त्र में वही शब्द 'श्वेतकण्ठ' अर्थ में प्रयुक्त था ऐसा देखा है ॥

---

५. शुक्लयजुर्वेदसंहिता (उवट-महीधरभाष्यसमेता) सं. वासुदेव शास्त्री पणशीकर, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई, १९१२ (पृ. ३०१)

६. कुमारसम्भव महाकाव्यम् (मल्लिनाथकृत संजीविनी एवं चारित्रवर्धनकृत शिशुहितैषिणी टीकया सहितम्), प्रकाशकः नाग पब्लिशर्स, दिल्ही, पुनर्मुद्रण, १९८९, पृ. १६२

६

शुक्ल यजुर्वेद में भगवान् शंकर के लिए एक 'नीललोहित' शब्द का भी प्रयोग हुआ है : द्रापे अन्धेसस्पते दरिद्र नीललोहितः । आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ्मो च नः किञ्चनाममत् ॥ (१६-४७) इस पर महीधर ने लिखा है कि - 'हे नीललोहित, कण्ठे नीलोऽन्यत्र लोहितः, हे शिव, नोऽस्माकमासां प्रजानां पुत्रादीनामेषां पशूनां गवादीनां त्वं मा भेः, भयं मा कुरु ॥ (पृ. ३०६)

शिव का कण्ठ नीलवर्ण का है, परंतु देहयष्टि पर अन्यत्र लोहितवर्ण है। अतः उनको नीललोहित कहा जाता है। अर्थात् यह शब्द मूल में तो महादेव के देह का वर्णन बतानेवाला है ।

परंतु महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के अन्तिम श्लोक - भरतवाक्य में जब इस 'नीललोहित' शब्द का प्रयोग किया है, तब पूर्वापर सन्दर्भ से 'नीललोहित' शब्द की एक चित्ताकर्षक अभिनव अर्थच्छाया विलसित होती दिखाई दे रही है ॥

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥ शाकु. VII ७-३५

इस पर टीकाकार घनश्याम ने लिखा है कि - नीललोहितश्चान्तकान्तक इत्यमरजयौ । मम पुनर्भवम् आगामि जन्म क्षपयतु ॥[७] यहाँ पर अमरकोश एवं जय नामक कोश के आधार पर 'नीललोहित' का अर्थ अन्तकान्तक - यमान्तक - बताया है। और 'पुनर्भवं क्षपयतु' जैसे शब्दों के साहचर्य में यही अर्थ कवि को भी अभीष्ट होगा ऐसा सिद्ध होता है ।

दूसरी ओर 'अर्थद्योतनिका' टीका देखने से मालूम होता है कि टीकाकार राघव भट्ट 'नीललोहित' शब्द के प्रयोग का मर्मोद्घाटन नहीं कर पाये हैं । उन्होंने लिखा है कि -

नीललोहितो महादेवो मम पुनर्भवं जन्मान्तरं क्षपयतु नाशयतु ।

७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । (घनश्यामकृत-संजीवनाख्यटिप्पण सहितम्) सं. डॉ. श्रीमती पूनम पंकजकुमार रावळ, प्रका. सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, १९९७, पृ. १८२

कीदृङ् नीललोहितः । आत्मना भवतीत्यात्मभूः ।

परितो गता व्याप्ता शक्तिः सामर्थ्यमस्येत्यनेन तत्तच्छक्तित्वं व्यज्यते ॥

अर्थात् राघव भट्ट की दृष्टि से नीललोहित शब्द महादेव जैसे रूढार्थ में प्रयुक्त हुआ है । परंतु टीकाकार श्री निवासाचार्य ने नीललोहित शब्द का अर्थ अर्धनारीश्वर किया है - वह ध्यानास्पद है । वह लिखते हैं कि -

परिगतशक्तिः प्राप्तशक्तिः अर्धनारीश्वर इति यावत् ।

अत एव नीललोहितः वामभागे नीलो, दक्षिण भागे लोहितः । तथा चोक्तम्-अर्धम् इन्द्रमणि मेचकमर्धम् ॥[८]

भगवान् शंकर वामभाग में नीलवर्णवाले है, परंतु शरीर के दक्षिणार्ध में पार्वती विराजमान है। अतः दक्षिणभाग में वह लोहितवर्ण के है। इस तरह से 'नीललोहित' शब्द से अर्धनारीश्वर शंकर की प्रतीति होती है । कवि कालिदास को यह अर्थ भी अभीष्ट हो सकता है । क्योंकि नीललोहित के विशेषणीभूत 'परिगतशक्तिः' शब्द का भी श्लोक में प्रयोग हुआ है; जिस में 'शक्तिः' शब्द पार्वती का वाचक हो सकता है । संक्षेपतः कहे तो महाकवि कालिदास ने अपनी काव्यकृतियाँ में वैदिक शब्दावली का विनियोग अवश्य किया है। परंतु वह अभिनव अर्थानुप्राणित भी है यह निःशंक एवं ध्यानास्पद है ॥

—x—

विशेष ज्ञातव्यः - अद्यावधि शाकुन्तलादि कृतियों के जो जो भाषान्तर हुए हैं, उनकी उपर्युक्त विचार को ध्यान में लेकर परीक्षा करने से सद्यः मालूम होगा कि हम कालिदास के अभीष्टार्थ से कितने दूर खड़े है ?! - अस्तु ॥

८. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (टीकाद्वयोपेतम्-राघव भट्ट एवं श्रीनिवासाचार्य तिरुमलाचार्य, मद्रास, १९५०, पृ. ४४७

उपक्रम-11

अभिज्ञानशाकुन्तल में व्यञ्जनाविलास*

कविकुलगुरु कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक का रसास्वाद कराने के लिए अनेकानेक टीकाएँ, व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं ।[१] उनमें से अन्यतम टीका या व्याख्या में नाटक का लक्षणानुसारी व्याख्यान किया है । जैसे कि – राघव भट्ट ने पञ्च सन्धियाँ एवं चौसठ सन्ध्यंग का प्रदर्शन करने के लिए टीका लिखी है । परंतु श्रीनिवासाचार्य नामक एक दाक्षिणात्य टीकाकार ने शाकुन्तल के प्रायः प्रत्येक श्लोक में, वाक्य में, पद में और अक्षर में कौन सा व्यङ्ग्यार्थ निहित है उसको स्फुट करने के लिए एक व्याख्या लिखी है। प्रस्तुत लेख में ऐसी व्यञ्जनाओं को सोदाहरण प्रस्तुत करके कालिदास का व्यञ्जनाविलास पुरस्कृत करना अभीष्ट है ।

श्रीनिवासाचार्य की 'अभिज्ञानशाकुन्तल–व्याख्या' की एक पाण्डुलिपि अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास में (MS. No. 70505, Complete in 173 pages) सुरक्षित है । तथा मद्रास में ई.स. १९५० में प्रकाशित भी हुई है । श्रीनिवासाचार्य

* कालिदास समारोह, (२४–३० दिसम्बर १९९३) विक्रम युनिवर्सिटी, उज्जयिनी में प्रस्तुत किया गया शोधपत्र.

१. काटयवेम की 'वसन्तराजिया' २. शंकर की रसचन्द्रिका ३. चंद्रशेखर की सन्दर्भदीपिका ४. अभिराम की दिङ् मात्रदर्शिनी ५. दक्षिणावर्तनाथ की टीका, ६. नीलकण्ठदीक्षित की शाकुन्तल व्याख्यनम् ७. घनश्याम की सञ्जीवन टिप्पण ८. राघव भट्ट की अर्थद्योतनिका ९. नरहरि की शकुन्तलव्याख्या १०. अज्ञातकर्तृक 'चर्चा' टीका इत्यादि ॥

ने अपने कुल का एवं अपना परिचय देते हुए लिखा है कि –

इति श्रीरमणवेङ्कटाचलेश्वर पादारविन्द समाराधक वैखानसकुलतिलक-कौशिकगोत्रवेंकटभट्ट इति गोत्रक्रमागत–भट्टबिरुद–श्रीतिम्मलाचार्यस्य पुत्रेण ध्वनि–प्रस्थानपरमाचार्याष्टभाषा–चक्रवर्ति – श्रीनिवासाचार्येण विरचितायाम् अभिज्ञान–शाकुन्तल–व्याख्यायां तृतीयोऽङ्कः समाप्तः ॥ (पृष्ठ – २२७)

इस पुष्पिका में बताया है कि कौशिक गोत्र में 'भट्ट' बिरुदवाले श्रीतिम्मालाचार्य उत्पन्न हुए थे । उनका जो 'श्रीनिवासाचार्य' नाम का पुत्र था, वह स्वयं 'ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य' था एवं अष्टभाषाओं का ज्ञाता था । उसने 'शाकुन्तल' पर जो व्याख्या लिखी है, वह प्रतिपद के ध्वन्यर्थों का विशदीकरण कर रही है ।

प्रस्तुत टीकाकार ने 'शाकुन्तल' की जो दाक्षिणात्य वाचना है, उनको स्वीकार करके अपनी व्याख्या लिखी है ।

सामान्य रूप से रूपक मात्र के नान्दी श्लोक एवं 'प्रस्तावना' से अभिनेय काव्य का काव्यार्थ कैसे अभिव्यक्त होता है ? प्रायः इसकी चर्चा प्रत्येक व्याख्याकार करते हैं । उदाहरण के रूप में: 'नटी–सुविहित प्रयोगतयार्यस्य न किमपि परिहास्यते ॥ सूत्रधारः– आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम् ।

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥ (१.२)

इस श्लोक पर श्रीनिवासाचार्य लिखते हैं कि प्रस्तुत वाक्य का जो वाच्यार्थ है उससे भिन्न एक दूसरा अर्थ संगत होता है । क्योंकि नाटक में सभी वाक्यों को प्रकृतार्थ पर्यवसायी बनाना चाहिए । अतः प्रस्तुत नटी–वाक्य का यह भी अर्थ है : आर्य दुष्यन्त की गान्धर्वविवाह रूप सुविहित अर्थात् शास्त्रीय प्रयुक्ति (–प्रयोग –क्रिया) के कारण कण्वादि मुनिजनों की असम्मति रूप कोई भी हानि होनेवाली नहीं है । – यह व्यङ्ग्यार्थ शब्दशक्ति की महिमा से सूचित होता है । इस वाक्य में शब्दशक्ति के द्वारा अनेकार्थ की योजना की गई है।

२. अभिज्ञानशाकुन्तलम् ॥ (राघवभट्टस्य श्रीनिवासाचार्यस्य च टीकाभ्याम् समलङ्कृतम्) । मद्रास, १९५०

अतः यह 'त्रिगत' नामका 'वीथ्यङ्ग' बनता है ।[३]

आपरितोषाद् विदुषाम् – श्लोक में से भी यही काव्यार्थ द्योतित होता है : दुष्यन्त के द्वारा किया गया गान्धर्वविवाह यद्यपि शास्त्रीय था, तथापि जब तक कण्व मुनि उसको अनुज्ञा न दे तब तक उसकी साधुता निश्चित नहीं होनेवाली थी । अतः दुष्यन्त शकुन्तला को अपने साथ नगर में नहीं ले जाता है, और कण्वाश्रम में रखता है । दुष्यन्त भी अपना गान्धर्वविवाह रूप प्रयोगविज्ञान, विद्वान् अर्थात् कण्व के परितोषावधि पर्यन्त साधु उचित नहीं मानता है ।[४] यह अर्थ शब्दशक्ति की महिमा से द्योतित होता है ॥

१.१ 'शाकुन्तल की प्रस्तावना' में सूत्रधार की एक दूसरी उक्ति भी व्यङ्ग्यार्थ से खचित है :- सूत्रधारः- तदिममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम् । सम्प्रति हि –

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥ (१-३)

यहां पर व्याख्याकार श्रीनिवासाचार्य बताते हैं कि इस श्लोक में पाटलपुष्प, मलयमारुतादि का कथन करके ग्रीष्म ऋतु का असाधारण गुण बताया है । इस से ग्रीष्म ऋतु कामदशा की परम उद्दीपक बनने से प्रणकलहादि से कुपित नायिका का माननिरसन करने के लिए यह ऋतु अमोघ है ऐसा सूचित होता है । 'वन' शब्द के प्रयोग से विविध क्रीडा करने के लिए यह विविक्त स्थल है ऐसा ज्ञापित होता है । और यहाँ पर निःशंक रूप से निरर्गल कामप्रवृत्ति

---

३. आर्यस्य दुष्यन्तस्य सुविहितप्रयोगतया प्रयुक्तिः प्रयोगः क्रिया गान्धर्व विवाहः तस्य सुविहतत्वं शास्त्रीय तद्वत्तया किमपि कण्वाद्यसंमत्यादिकं न परिहापयिष्यति हानिं न कारयिष्यति । गान्धर्वविवाहस्य शास्त्रीयत्वाद् इति शब्दशक्तिमहिम्ना सूच्यते । अस्मिन्वाक्ये शब्दशक्तेरनेकार्थयोजना त्रिगतं नाम वीथ्यंगमुक्तम् ॥ (पृ. २९)

४. अत्र श्लोके काव्यार्थोऽपि किंचिद्द्योत्यते । तथा हि – दुष्यन्तविहित-गान्धर्वविवाहो यद्यपि शास्त्रीयस्तथापि कण्वमुन्यभ्यनुज्ञावधि तस्य साधुतामनिश्चिन्वन् दुष्यन्तः शकुन्तलां स्वनगरमनीत्वा कण्वाश्रमे स्थापयामासेति शब्दशक्तिमहिम्ना द्योत्यते । तथाहि- विदुषां शास्त्रार्थ-तत्त्वविदां दुष्यन्तादिनृपाणां प्रयोगविज्ञानं प्रयुक्तिः प्रयोगः गान्धर्वविवाहः- तदाचरणं तद्विषयं ज्ञानम् आपरितोषात् कण्वपरितोषावधि साधु न मन्ये हितं न विचारयामि ॥ (पृ. ३२)

करनी चाहिए ऐसा भी ध्वनित होता है ।

'वात' पद से विविध रतिक्रीडा से परिश्रान्त नायक-नायिका के लिए अनायास मलय मारुत का स्पर्श होने से व्यजनवात की अपेक्षा नहीं रहेगी ऐसा भी व्यञ्जित होता है । अथवा 'वनवात' शब्द के द्वारा ऐसा भी व्यक्त होता है कि फलमूलादि का परिमित आहार करनेवाले तपस्विजनों के लिए भी यह 'वनवात' विकारजनक सिद्ध होगा; अतः दुष्यन्त जैसे नागरिक मदनाकुलित होंगे ही उस में कोई प्रश्न नहीं ऊठता है । अथवा, 'वन' शब्द उद्यान का भी वाचक हो सकता है । तो उपवन में निवास, क्रीडा, पुष्पावचय, किसलयनिर्मित शय्या और कुसुमधारण करना इत्यादि विलासों करने का यह सुयोग्य समय है ऐसा भी ध्वनित होता है । संक्षेप में कहे तो यह मदन का उद्दीपक काल उद्यत हो गया है ।

यहाँ पर भी जो काव्यार्थ द्योतित होता है वह व्याख्याकार श्रीनिवासाचार्य बताते है : 'नातिचिर प्रवृत्तम्' इन शब्दों से प्रकृत नायिका की यौवनदशा सूचित होती है । 'उपभोगक्षमम्' शब्द से उस शकुन्तला की उपादेयता ध्वनित होती है । और साथ में 'ग्रीष्मम्' से वह अतिसंताप के बाद लभ्य है ऐसा भी सूचित होता है । उपर्युक्त श्लोक के 'सलिलावगाह' शब्द से अंगुलीयक का अप्सर तीर्थ में पतन होगा ऐसा ध्वनन होता है । 'निद्रा' पद से दुर्वासा के शाप से व्यामोह उत्पन्न होगा और परिणामरमणीय इन शब्दों से, अन्त में मारिच के आश्रम में शकुन्तला-दुष्यन्त का मिलन होगा यह सूचित होता है ।[५]

२.० श्रीनिवासाचार्य ने अपने आप को ध्वनिप्रस्थानपरमाचार्य कहा है । इस आत्मश्लाघा को चरितार्थ करनेवाला व्याख्यान तृतीय अंक में १७ वें श्लोक पर मिलता है । शकुन्तला ने मदनलेख में लिखा है :-

तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि ।
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि ॥ (३-१७)

---

५. अत्र काव्यार्थोऽपि किञ्चिद्द्योत्यते । नातिचिरप्रवृत्तमित्यनेन प्रकृतनायिकाया यौवनदशा सूच्यते । अत एवोपभोगक्षममित्यनेनोपदेयता ध्वन्यते । ग्रीष्ममित्यनेनातिसंतापलभ्यत्वं सूच्यते । सलिलावगाह इत्यनेनांगुलीयकस्याप्सरसतीर्थपतनं ध्वन्यते । निद्रापदेन दुर्वाससः शापव्यामोहित्वं, परिणामरमणीया इत्यनेनान्ते मारीचाश्रमे शकुन्तला-दुष्यन्तयोः प्राप्तिः सूच्यते ॥ (पृ. ३५)

यहाँ पर 'हे निर्घृण' ऐसी दैन्योक्ति से सम्बोधन किया गया है क्योंकि अनुरागजनित कामज्वर से शरीर कृश हुआ है उसको देख कर भी तेरे मन में दया उत्पन्न नहीं होती है। दुष्यन्त के मन में शकुन्तला के प्रति स्थिरानुराग है कि नहीं ? यह चिर सहवास के अभाव में ज्ञात नहीं है - ऐसा 'न जाने' पदों से द्योतित होता है। यदि दुष्यन्त भी शकुन्तलामें गाढासक्त हो तो वह क्यों उपेक्षा कर रहा है ? वह उपेक्षा कर रहा है इस लिए नामग्रहण के योग्य नहीं है। अतः 'तव' सर्वनाम से दुष्यन्त का निर्देश किया गया है।

'दिवारात्रम्' शब्द से मन्दमारुत, कोकिल का आलाप और चन्द्रकिरणादि का दर्शन असह्य होने से परमोद्दीपन-विभाव कहा गया है। मदन यदि मेरी तरह तुझे भी संताप देता है तो मेरा - शकुन्तला-का दुःख जान सकता है। अर्थात् मदन पक्षपाती है। 'अङ्गानि' ऐसे बहुवचनान्त प्रयोग से मदन सभी लक्ष्य स्थानों में सावधान है ऐसा ध्वनित होता है। एवञ्च कर्ण, हस्त इत्यादि अवयवों को एकांत में श्रवण, गाढ आलिंगनादि का औत्सुक्य है ऐसा ज्ञापित होता है।

इस एक ही श्लोक में ३३ व्यभिचारीभावों, अष्ट सात्त्विकभावों एवं अष्ट स्थायिभावों मिलकर ४९ भावों यथासम्भव प्रतीत होते हैं ऐसा भी व्याख्याकार ने प्रदर्शित किया है:- जैसे कि - 'तव' पद से दुष्यन्त का **स्मरण**। 'हृदयं न जाने' पदों से दुष्यन्त के अभिप्राय का अज्ञान है, अतः **भय** (उप स्थायिभाव) का अनुभव होता है। दुष्यन्त के हृदय के भाव का ज्ञान नहीं है, फिर भी लेख क्यों भेजा जा रहा है ? ऐसी **शंका** भी प्रतीत होती है। ''तव हृदयं न जाने'' पदों से दुष्यन्त के मन में स्थिर अनुराग है या नहीं ? ऐसा **वितर्क** उत्पन्न होता है। परंतु मेरा हृदय स्थिर अनुराग युक्त है ऐसा व्यंग्यार्थ प्रकट होने से लज्जा छोड़कर कह दिया है। अतः **शान्ति** प्रतीत होती है। प्रियजन को प्रार्थना करके **चपलता** का भी प्रदर्शन कर दिया है। 'तव हृदयं न जाने' इन शब्दों से दुष्यन्त का चित्त जानने के लिए सखियाँ पर्याप्त चतुर नहीं हैं - ऐसी सखियाँ के प्रति **असूया** है। 'तव' सर्वनाम प्रयोग के कारण दुष्यन्त का नाम-ग्रहण करना नहीं चाहती है - इस तरह से **अवहित्थ** प्रदर्शित होता है। दुष्यन्त के हृदय का ज्ञान न होते हुए भी लेखप्रेषण की

क्रिया से **हास** (रूप स्थायिभाव) का उद्भव होता है। 'तव हृदयं न जाने' से **विषाद** और **चिन्ता** प्रतीत होती है। 'तव' शब्द से, जो व्यक्ति हमारी ऐसी अवस्था की उपेक्षा कर रहा है, अतः वह नामग्रहण के योग्य भी नहीं है ऐसी शकुन्तला की **मति** है, **गर्व** है या तो **मद** है ऐसा व्यक्त होता है। 'मदन' - जो उन्मादित करता है - शब्द के प्रयोग से **त्रास** का अनुभव होता है। उस उन्माद में **रोमांच** और **वेपथु** भी है। 'निर्घृण' इस सम्बोधन में **दैन्य** है, जिस के कारण **गद्गदत्व**, **अश्रुपात** एवं **वैस्वर्य** भी प्रविष्ट होता है।

'त्वपि युक्तमनोरथानि' पदों से **औत्सुक्य** और त्वयि शब्द से **रति** (रूप स्थायिभाव) एवं **अभिलाष** प्रकट होता है। 'बलवत् तपति' से जीवनविषयक निराशा प्रदर्शित की जाती है। जिस में **धृति, निर्वेद** और **शोक** संलग्न है। 'अंगानि' शब्द से **जुगुप्सा** बताई जाती है, क्योंकि प्रियविरह में भी 'जीवति' जैसी क्रिया हो रही है। 'दिवारात्रमपि' से इन्दु, मलयानिल आदि की **उग्रता** दिखाई जाती है। अतः आहार, निद्रा, इत्यादि का भी अभाव होने **व्याधि** प्रकट होता है। और परिणामस्वरूप सभी काल में **अलसता** और **जड़ता** रहती है। तपति क्रियापद में वर्तमान काल के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन संशय में पड़ा है, फिर भी मदन बाधा होती है, यह एक **विस्मय** है। 'तव हृदयं न जाने' कहा है, परंतु ''मम हृदयं स्थिरानुरागम्' ऐसा साक्षात् नहीं कहा है तो यह **व्रीड़ा** है। 'निर्घृण' विशेषण का कोई विशेष्य नहीं बताया है, अतः दुष्यन्त के नामोच्चारण में **ग्लानि** दिखाई है। चित्तविभ्रम से **उन्माद** प्रकट होता है। दुष्यन्त सन्मुख नहीं दिखाई दे रहा है, फिर भी 'तव' ऐसे पद से साक्षात निर्देश किया है, उस में **मोह** प्रदर्शित होता है। एवञ्च निर्घृण पद रूप दैन्य उक्ति में **वैवर्ण्य** है। 'मम पुनर्' से मुझे विशेष संताप होता है ऐसा कहकर दुष्यन्त को भी कुछ मदनबाधा की संभावना है - इस विचार से **हर्ष** प्रकट होता है। - और अन्य भी व्यभिचारीत्यादि भावों का अनुमान करना चाहिए।[६]

*

व्याख्याकार श्रीनिवासाचार्य इस तरह से एक ही श्लोक में से

६. अत्र श्लोके त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभावाः। अष्टौ सात्त्विकाः अष्टौ स्थायिनः आहत्यैकोन-पंचाशत्भावाच्च यथासम्भवं प्रतीयन्ते ॥ (पृ. २०५)

सात्त्विक, व्यभिचारि इत्यादि भावों का प्रदर्शन करके महाकवि कालिदास की प्रति का अनुपम व्यञ्जना-सौंदर्य उद्घाटित करते हैं ।

३.० श्रीनिवासाचार्य कभी कभी परम्पराप्राप्त ध्वन्यर्थ से भिन्न ध्वन्यर्थ भी नीकालते है । जैसे कि –

मुहुरङ्गुलिसंवृत्ताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥ २६

इस श्लोक पर टीकाकार राघव भट्ट ने लिखा है कि – कथमपि महता कष्टेन उन्नमितं चुम्बनार्थमूर्ध्वीकृतम् । न चुम्बितम् । 'तु' पश्चात्तापे । तेन तावन्मात्रचुम्बनलाभेनापि कृतकृत्यता स्यादिति ध्वन्यते ॥[७] अर्थात् – दुष्यन्त ने शकुन्तला का मुख कष्ट से उन्नत तो किया, परंतु वह चुम्बन नहीं कर पाया। यहाँ चुम्बन नहीं कर सकने का जो पश्चात्ताप है वह 'तु' ऐसे एक विशिष्ट निपात से प्रदर्शित किया है ।

इस 'तु' कि विशिष्ट व्याख्या करते हुए श्रीनिवासाचार्य ने लिखा है कि – 'न चुम्बितं तु' इस पंक्ति में आया हुआ 'तु' शब्द पुनः शब्द के अर्थ का वाचक है। परिणाम स्वरूप 'न चुम्बितं तु' का अब अर्थ होगा कि शकुन्तला को एक बार ही चुम्बन किया, पुनः दूसरी बार वह चुम्बन नहीं कर पाया ऐसा व्यञ्जित होता है । चिरप्रार्थित प्रिय व्यक्ति मिलने पर अर्थात् प्रिय शकुन्तला जैसी नायिका मिलने पर तो अनेक बार संभोग करना समुचित है । लेकिन गौतमी के आगमन के कारण वह एक बार ही हो पाया है; पुनः नहीं । अब 'तु' का 'पुनः' अर्थ लेने से यह भी ध्वनित होता है कि – मध्याह्न में संगत हुए दुष्यन्त-शकुन्तला का सायंकाल पर्यन्त प्रवर्तित एक बार का संभोग ही संपन्न हुआ था अर्थात् दुष्यन्त का मन्मथकलाप्रावीण्य ऐसा था की बहुविध क्रिया युक्त यह सुरत दीर्घकाल पर्यन्त प्रवृत्त रहा था । श्रीनिवासाचार्य हमें स्मरण करवाते है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी 'निपातों का रसाभिव्यञ्जकत्व होता है' उसके उदाहरण में इसी श्लोक को उद्धृत किया है – 'न चुम्बितं तु' । यहाँ पर कोई पाठपरम्परा 'न चुम्बितं तत्' ऐसा पाठान्तर बताती है । परंतु

७. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । (राघवभट्ट-कृतार्थ-द्योतनिकया समेतम्) सं. गोडबोले नारायण बालकृष्ण, निर्णयसागर मंत्रालय, मुंबई, शक सं. १८३८.

श्रीनिवासाचार्य कहते है कि वह योग्य नहीं है ।[८]

४.० श्रीनिवासाचार्य ने अपनी व्याख्य में तो कहीं कहीं व्यञ्जना का दीर्घ, दीर्घतर व्यापार कैसे विलसित हो रहा है उसका भी दिग्दर्शन किया है।

'शाकुन्तल' के चतुर्थ अंक में प्रियंवदा कहती है कि अशरीरिणी वाणी ने कण्व को बताया है कि शकुन्तला आपन्नसत्वा है ।

प्रियंवदा – अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या –

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥ (अंक-४)

इस उक्ति पर व्याख्या करते हुए श्रीनिवासाचार्य लिखते है की – 'दुष्यन्त' पद का प्रयोग करके कविने सूचित किया है कि राजर्षि विश्वामित्र की कन्या शकुन्तला दुष्यन्त नामक राजर्षि के साथे विवाहित हुई है । अब शकुन्तला को अनुरूप वर की प्राप्ति हो गई है । अब यह प्रश्न उठ सकता है कि तो फिर हमारी – यानि कण्वमुनि की अनुमति प्राप्त किये बिना दुष्यन्त ने शकुन्तला का परिग्रह कैसे किया ? तो उपर्युक्त श्लोक में बताया है कि दुष्यन्त ने वीर्याधान किया है, अर्थात् गान्धर्वविवाह किया है; जो कि शास्त्रसम्मत भी है। पितृआदि अननुमति होते हुए भी गान्धर्वविवाह में परस्पर के संकेत से तात्कालिक संभोग करना उचित है । एवञ्च सद्यः गर्भाधान हो जाने से दुष्यन्त का अमोघवीर्यत्व भी ज्ञापित हो जाता है ।

'भूतये भुवः' इन शब्दों से शकुन्तला ही पट्टमहिषी बनेगी; और उनसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र ही साम्राज्य को प्राप्त करेगा – ऐसा ज्ञापित होता है। दुष्यन्त धर्मप्रजा प्राप्त करने के लिए शकुन्तला के साथ विवाह करता है, यह विवाह भोगार्थ नहीं किया है, एवञ्च 'भूतये भुवः' शब्दों के द्वारा उत्पन्न होनेवाला गर्भ पुत्र ही होगा, पुत्री नहीं होगी–ऐसी व्यञ्जना स्फुरती है । क्योंकि पुत्री होगी तो,

८. न चुम्बितं त्विति तुशब्दः पुनश्शब्दार्थवाचकः । तु पुनर् न चुम्बितमित्यनेन एकबारमेव चुम्बितमिति व्यज्यते । चिरप्रार्थितकृच्छलब्धनायिकायाः बहुवारसंभोगस्य समुचितत्वात् गौतम्यागमनेन एकवारसंभोगो जात इत्यर्थः । तेन च मध्याहने संगतयोः स्त्रीपुंसोरासायमेकवार संभोग कथनेन स्वस्य मन्मथकलाप्रावीण्येन दीर्घसुरतं बहुविधक्रीडाश्च सूच्यन्ते । ध्वनिकारेणापि निपातानां रसाभिव्यंजकत्वोदाहरणे अयं श्लोकस्तु न चुम्बितं त्वित्येवोदाहृतः । केचिन्न चुम्बितं तदिति पठन्ति । तदयुक्तम् ॥ (पृ. २२४)

स्त्री का तो राज्य में अधिकार होता नहीं है । तो, पुत्री कैसे पृथिवी की भूति बढायेगी ? । अतः जनिष्यमाण गर्भ पुत्र ही होगा यह स्पष्ट है ।

'भू' शब्द से भूमि के लोग लक्षित होते हैं । उन जनसमुदाय की समृद्धि-कथन किया है, इस लिए उत्पन्न होनेवाला भरत प्रजासे षष्ठांश कर ग्रहण करना इत्यादि समुचित राजधर्म का पालन करेगा यह भी सूचित होता है ।

'शमी' शब्द से शकुन्तला में यज्ञादि कर्म के अनुकूल पत्नीत्व होगा यह भी व्यञ्जित होगा । 'अग्निगर्भाम्' शब्द से भरत का तेजस्वित्व, अप्रतिरथत्व इत्यादि सामर्थ्य अभिव्यक्त होता है । 'ब्रह्मन्' शब्द से यह कहा गया कि शकुन्तला तो राजर्षि कन्या थी, और दुष्यन्त भी राजर्षि है तो यह गान्धर्वविवाह शास्त्रसम्मत है; और इस लिए शाप भी नहीं देना चाहिए ॥[९] इस तरह प्रकृत श्लोक में व्यञ्जना का जो दीर्घ-सुदीर्घ विस्तरण होता जाता है वह देखकर महाकवि कालिदास को कविकुलगुरुत्व एवं व्यञ्जनाविलास का स्वामित्व प्राप्त होना सहज-स्वाभाविक है ॥

९. दुष्यन्तपदेन राजर्षिकन्यायाः शकुन्तलायाः राजर्षिवरगामितायाः गत्वाद्राजर्षिदुष्यन्त परिग्रहादनुरूपवर प्राप्तिः सूच्यते । तर्ह्यस्मद (न) नुमत्या दुष्यन्तेन परिगृहीतेत्यत आह आहितं निषिक्तं तेजो वीर्यं दधानाम् अनेन गान्धर्वविवाहः सूचितः । गान्धर्वविवाहस्य पित्राद्यननुमत्यापि पस्परसंकेतित तात्कालिक संभोगस्य युक्तत्वात् । सद्यो गर्भधारणेन दुष्यन्तस्यामोघवीर्यत्वं ज्ञाप्यते । भुवः भूमेः भूतये समृद्धये इत्यनेन शकुन्तला एव पट्टमहिषीत्वं तज्जनितपुत्रस्यैव साम्राज्यमिति ज्ञाप्यते । धर्म प्रजार्थमेव परिणीता, न तु भोगार्थमिति भावः । किंच भुवो भूतये इत्यनेन जनिष्यमाणो गर्भः पुत्रः, न तु पुत्रीति व्यज्यते । स्त्रिया राज्याधिकाराभावादिति भावः । भूशब्देन भूमिस्थजना लक्ष्यन्ते । तत्समृद्धिकथनेन उपत्स्यमानस्य भरतस्य षष्ठांशकरग्रहाद्युचित राजधर्मानुष्ठानन्यायप्रवृत्तित्वं सूचितम् .... ॥ (पृ. २४६-२४७)

उपक्रम-12

कालिदास के कतिपय श्लोकों का संरचनात्मक अनुशीलन

संस्कृतभाषा की वाक्यरचना में पदक्रम (प्रायः) निश्चित नहीं होता । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो संस्कृतभाषा के वाक्यों मे पदक्रम यादृच्छिक होता है; वक्ता की विवक्षा के अधीन होता है । जैसे कि "दुष्यन्तः शकुन्तलायां स्निह्यति" कहो, या "स्निह्यति शकुन्तलायां दुष्यन्तः" । यहाँ पर दोनों वाक्यों में पदक्रम भिन्न होते हुये भी, ये दोनों वाक्य समानार्थक है । किन्तु संस्कृतभाषा के वाक्यों की बाह्य संरचना (Surface Structure) यादृच्छिक (वक्तृविवक्षाधीन) होते हुये भी, श्रोताओं की मनोगत अर्थोपस्थिति में तो निश्चित पदक्रम की आवश्यकता है ही । दूसरे शब्दों में कहें तो - संस्कृत भाषा का आन्तरिक स्वरूप (Deep Structure) निश्चित तार्किक पदक्रम से ही अर्थाभिधायक बनता है । अतः, यदि वाक्यस्थ पदों की बाह्यरचना करते समय, कविओं के द्वारा अर्थप्रतीति में आवश्यक हो ऐसा निश्चित पदक्रम सुचारु रूप से गुम्फित हो जाय तो प्रक्रमभंग आदि दोष उद्‌भुत ही नहीं होते ।

प्रस्तुत लेख में 'शाकुन्तल' के कतिपय श्लोकों को निमित्त बनाकर, संस्कृत भाषा की अर्थाभिधायक आन्तरिक संरचना क्या है इसे प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास यहाँ किया गया है ॥

तव कुसुमशरत्वं, शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्‌विधेषु ।

विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान्वज्रसारीकरोषि ॥ (शाकु० ३-३)

कालिदास के इस श्लोक में ''(कामदेवस्य) कुसुमशरत्वम्'' पद प्रथम उद्देश्य (क्रमांक-१) है, और ''इन्दोः शीतरश्मित्वम्'' पद द्वितीय उद्देश्य (क्रमांक-२) है। अब श्लोक के तृतीय चरण में प्रतिनिर्देश्य रूप से ''इन्दुः हिमगर्भैः मयूखैः अग्निम् विसृजति'' का उल्लेख है, जो श्रोता की मनोगत अर्थप्रतीति में उद्देश्य (क्रमांक-२) के साथ अन्वित होता है। और श्लोक के जो चतुर्थ चरण में प्रतिनिर्देश्य के रूप में ''त्वमपि (कामदेवः) कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि'' का निर्देश है, वह प्रथम उद्देश्य (क्रमांक-१) के साथ संलग्न होता है। इस तरह यहाँ उद्देश्य एवं प्रतिनिर्देश्य में 'क्रमप्रक्रमभङ्ग'' दृष्टिगोचर होता है। अतः शाकुन्तल के एक टीकाकार राघव भट्ट 'अर्थद्योतनिका' में लिखते है कि -

त्वमिह कुसुमबाणान् वज्रसारान्विधत्से
विसृजति स च वह्निं शीतगर्भैर्मयूखैः ॥ इति वा पाठः

१ (पृष्ठांक ९)[१] ऐसे नये सूचित पाठ से, श्लोक के आरंभ में जो ''तव कुसुमशरत्वं'' उद्देश्य (क्रम-१) और ''शीतरश्मित्वम् इन्दोः'' उद्देश्य (क्रम-२) श्रुतिगोचर हुये है, उसी क्रमसे प्रतिनिर्देश्य पदों (उदाहणार्थ- 'त्वमिह कुसुमबाणान् वज्रसारान्विधत्से,'' और ''विसृजति स च वह्निं शीतगर्भैर्मयूखैः) से प्रतिनिर्देश्य पदों की अपेक्षित क्रमिकता आ जाती है और श्रोता की अर्थबोधप्रक्रिया में ऋजुता पैदा हो जाती है।

किन्तु कालिदास कवि है, और कवि है इसीलिए निरंकुश भी है। वे व्याकरण के अधीन रह कर श्लोक रचना नहीं भी करते। कवि की प्रतिभा यह देखती है कि नायक दुष्यन्त इस समय प्रेमाकुल है, अतः उसकी वाणी में तार्किक क्रम का अभाव रहेगा तो वह दूषण नहीं, भूषण है। उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य के क्रमभङ्ग से यथासंख्यालंङ्कार के शिल्प में कोई हानि आनेवाली नहीं। टीकाकार राघव भट्ट ने भी लिखा है कि - ''उत्तरार्ध क्रमप्रक्रमभङ्गो विरहिणः राज्ञः वचनमिति परिहर्तव्यः ।[२] फिर भी अर्थबोध की दृष्टि से इस

१. द्रष्टव्य-अभिज्ञानशाकुन्तलम्, Ed. by Kale M.R., Booksellers' Publishing Co., Bombay, (Ninth-Edition), 1961. (Page 89)

श्लोक में 'क्रमप्रक्रमभङ्ग' है, इस में कोई सन्देह नहीं। [**विशेष-विमर्शः** - यहाँ पर रुय्यक नामके आलंकारिक ने लिखा है कि - इस पद्य में ''क्रम-प्रक्रम-भंग नामक दोष देखना उचित नहीं है। यहाँ तो ''चूलिका-क्रम'' ही उचित है। अर्थात् जिस क्रम में कंकण पहने जाते हैं, उससे विपरीत क्रम में ही, उनको निकाले जाते हैं। इस न्याय से यह पद्य अनवद्य है।]

इसी प्रकार दूसरे एक श्लोक में भी उद्देश्य प्रक्रमभङ्ग दृष्टिगोचर होता है।

राजा- अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ॥ (शाकु० ३-१२)

इस श्लोक के पूर्वार्ध में नायिका शकुन्तला के लिए ''अयम् सः'' पदों के द्वारा निर्दिष्ट दुष्यन्त (नायक) प्राप्त है'' ऐसा निरूपण है। लेकिन श्लोक के उत्तरार्ध में जो अर्थान्तरन्यास का उपनिबन्धन हुआ है, उसमें पहले ''लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियम्'' शब्दों से 'दुष्यन्त के लिए लक्ष्मी रूपा नायिका शकुन्तला प्राप्य है' ऐसा उद्देश्यप्रक्रमभङ्ग करने वाला वाक्य आया है। अतः टीकाकार राघव भट्ट लिखते हैं कि

पूर्वापरचरणयोर्व्यत्ययपाठेन उद्देश्यप्रक्रमभङ्गः
परिहरणीयः ।....व्यत्ययपठितस्य पूर्ववाक्यस्य
पूर्ववाक्य समक्षकम् । तादृश उत्तरस्योत्तरं
समर्थकमिति विवेकः । (पृष्ठाङ्क- १०३)

जैसे कि -

१. अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
२. विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम् ।
३. लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियय् ॥
४. श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत् ।

यहाँ प्रथम एवं तृतीय चरण में, तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण में ''प्राप्त

२. प्रस्तुत लेख में सर्वत्र, पादटीप-१ में उल्लेखित एम.आर. काले, १९६१ की आवृत्ति के पृष्ठाङ्क का निर्देश है।

करने वाला व्यक्ति' एवं ''प्राप्त व्यक्ति'' का क्रम अखंड दृष्टिगोचर होता है ।

राघव भट्ट ने श्लोक के उत्तरार्ध में एक और भी ''पर्य्याय प्रक्रमभङ्ग'' को उद्भूत होता हुआ बताया है । जैसे कि – कवि ने तृतीय चरण में ''प्रार्थयिता'' पद का प्रयोग किया है, और चतुर्थ चरण में ''ईप्सितः'' पद का प्रयोग किया है । अतः यहाँ पर्य्यायप्रक्रमभङ्ग हुआ । इस दोष को निर्मूल करने के लिए राघव भट्ट ने एक पाठान्तर की कल्पना की है । जैसे कि–

'कथं न लभ्येत नरः श्रियार्थितः ॥'

यहाँ पर कालिदास के प्रस्तुत श्लोक का बाह्य शिल्प कितना ही सुन्दर क्यों न हो, लेकिन श्रोता को होने वाली मानसिक अर्थप्रतीति में यह निश्चित है कि – प्रथम चरण में नायक दुष्यन्त को प्राप्त व्यक्ति के रूप में वर्णित करने के बाद, तृतीय चरण में नायिका शकुन्तला प्राप्य व्यक्ति के रूप में वर्णित नहीं की जा सकती । एवञ्च तृतीय चरण में ''प्रार्थयिता'' शब्द का प्रयोग सुनने के बाद चतुर्थ चरण में ''(श्रिया) अर्थितः'' जैसा पाठ होना चाहिए ॥

संस्कृत वाक्य में पदक्रम यादृच्छिक होते हुये भी 'इव' जैसे उपमा प्रतिपादक शब्दों के विषय में, वाक्य में उनके प्रयोग का नियम (क्रम) निश्चित है । जैसे कि – ''इवादयो यत्पुरः (जिसको पूर्व में रख कर) श्रूयन्ते, तस्य एवोपमानत्वं कल्पयन्ति ।'' (पृष्ठाङ्क–६४) अर्थात् 'इव' इत्यादि उपमा प्रतिपादक शब्द जिसको पूर्व में रख कर प्रयुक्त होते हैं, इसी का उपमानत्व सिद्ध होता है । अब कालिदास का एक श्लोक देखिए – जिसमें पूर्वोक्त 'प्रयोगनियम' का भंग हुआ है :-

अनवतरधनुर्ज्या स्फालनक्रूरपूर्वं
रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नम् ।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥ (शाकु० २–४)

यहाँ पर 'गिरिचरः' ऐसे विशेषणवाचक शब्द के पश्चात् प्रयुक्त 'इव' शब्द 'गिरिचरः' में उपमानबुद्धि उत्पन्न नहीं कर सकता । 'इव' शब्द तो 'गात्र' विशेष्य के पश्चात् ही होना चाहिए । अतः राघव भट्ट कहते हैं कि 'शिरपरिचरकरीव प्राणसारम्'' इति पठित्वा प्रयोगभङ्गः परिहर्तव्यः ॥ (पृष्ठाङ्क–६४) यद्यपि

अगतिकतया विशेषण में उपमानबुद्धि हो ही नहीं सकती, इस लिये, अन्ततोगत्वा विशेष्य में ही 'इव' का अन्वय पर्यवसित हो कर, यहाँ अर्थबोध होता है । फिर भी 'इव' के प्रयोग में पूर्वोक्त नियम का परिपालन उपमार्थ की प्रतीति में आवश्यक तो है ही ।

इसी तरह 'शाकुन्तल' के पञ्चम अंक से एक श्लोक लेते हैं :- शारद्वत हस्तिनापुर में आकर बोलता है –

अभ्यक्तमिव स्नातः, शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम् ।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसङ्गिनमवैमि ॥ (शाकु० ५–११)

यहाँ पर 'स्नातोऽभ्यक्तमिव' एवं 'स्वैरगतिः संयतमिव' ऐसा क्रम अर्थोपस्थिति की बेला में अपेक्षित है । उस क्रम के अभाव में उक्त दोनों वाक्यों में प्रक्रमभङ्ग दृष्टिगोचर होता है ॥

अन्त में एक कर्तृत्वप्रक्रमभङ्ग का उदाहरण इस प्रकार है :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥ (शाकु० १–१८)

यहाँ पर 'शैवलेन अनुविद्धमपि सरसिजं रम्यं (प्रतिभाति)'' और 'वल्कलेन (आवृता) अपि वाक्यों में 'शैवलेन'', एवं ''वल्कलेन'' ऐसे कर्तृकारक वाचक तृतीयान्त पद श्रुतिगोचर होने पर ''हिमांशु'' केन लक्ष्मीं तनोति ?'' ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है । अतः राघव भट्ट एक पाठान्तर सूचित करते हैं । तद्यथा – ''शिशिरकिरणमाली सुन्दरो लक्ष्मणाऽपि ।'' (पृष्ठाङ्क–३०) इस तरह तीनों चरणों मे कर्तरि तृतीयान्त पद होने पर ही कर्तृत्वप्रक्रमभङ्ग परिहरित हो सकता है ।

एक अंतिम उदाहरण देखते हैं । शाकुन्तल के दूसरे अङ्क में विदूषक की उक्ति है : ''कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि ।'' [हे राजन् (दुष्यन्त)! आपने तो उपवन ही बना दिया इस तपोवन को – ऐसा मुझे दिखता हा ।] यहाँ पर वाक्य के बाह्यस्तर पर जो पदक्रम है, वही क्रम से उद्देश्य विधेयभाव का आकलन करना अनिष्ट है । अतः राघव भट्ट लिखते है कि – उद्देश्यविधेयभावे

व्यत्ययो ज्ञेयः। (पृष्टाङ्क-७७) अर्थात् विदूषक की उक्ति में ''कृतं त्वया तपोवनम् उपवनमिति पश्यामि।'' इस पदक्रम से उद्देश्य विधेयभाव की योजना करने से ही इष्टार्थ की प्रतीति सम्भव है।

उपसंहार :

इस तरह, संस्कृत भाषा के वाक्यों में पदक्रम यादृच्छिक होते हुये भी श्रोता को अर्थप्रतीति में सौकर्यार्थ तर्कनिष्ठ निश्चित पदक्रम की अपेक्षा रहती है। जैसे कि विशेषणविशिष्ट उद्देश्य पद का प्राथम्य रखते हुए विधेयांश का प्रदर्शन करना चाहिए। तथा इवादि के प्रयोग में शास्त्रप्रमाणित जो नियम है, इसका परिपालन करना चाहिए। क्योंकि कालिदास जैसे कवियों के श्लोक में काव्यत्व होते हुये भी अर्थोपस्थिति के समय जो पर्यायप्रक्रमभङ्ग, इवादि के प्रयोगनियम का भङ्ग, उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्यप्रक्रमभङ्गादि कर्णगोचर होते है, तो कुछ बाधाएँ भी उपस्थित होती हैं। जिसके लिए राघव भट्ट जैसे टीकाकार (महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' में से प्रेरणा ले कर)नये पाठान्तर की प्रकल्पना करते है। राघव भट्ट ने जो कालिदास जैसे महाकवि की सर्वोत्तम कृति में भी प्रक्रमभंगादिका प्रदर्शन किया है, और संस्कृत आलंकारिकों ने संवादात्मक गद्य वाक्यों के साथ साथ पद्यात्मक रचनाओं में भी उद्देश्यप्रक्रमभङ्गादि को ''काव्यदोष'' के रूप में उल्लिखित किया है, इससे प्रस्तुत विचार की पुष्टि होती है कि - संस्कृतवाक्यों के अर्थबोध में निश्चित पदक्रम अपेक्षित है। ऐसे निश्चित पदक्रम से (ही) अर्थबोध अक्लेषकर एवं सुगम बन सकता है॥

उपक्रम-13

शाकुन्तल के विदूषक की उक्तियों में पाठान्तरों का समीक्षात्मक अध्ययन*

०.१ अद्यावधि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की अनेक आवृत्तियाँ प्रकाशित हुई हैं। जिन में से कतिपय आवृत्तियाँ तो राघव भट्टादि की टीका-टिप्पण के साथ प्रकाशित हुई हैं। गुजरात विश्वविद्यालय (अहमदाबाद) में श्रीमती पूनम पंकज रावळ के द्वारा ''घनश्यामकृत अभिज्ञानशाकुन्तल-संजीवन-टिप्पण का समीक्षित पाठसम्पादन'' (A.D.1991) शीर्षकवाला एक महानिबंध प्रस्तुत हुआ है और Ph. D. की उपाधि के लिए स्वीकृत भी हुआ है। प्रोफे. डॉ. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदीजी के द्वारा भी ''कालिदासग्रन्थावली'' में अभिज्ञानशाकुन्तलम्' की एक आवृत्ति प्रस्तुत हुई है। शाकुन्तल की जो प्रमुख आवृत्तियाँ है और जो प्रकाशित टीकाटिप्पणादि है वह निम्नोक्त है :

१. (क) SAKUNTĀLA BY KĀLIDĀSA
(The Deva-nagari Recension of the text)
Ed. Monier Williams,
Chowkhamba Samskrit Series Office,
3rd edition, Varanasi, 1961.

* The "Dr. V. Raghvan Prize" was awarded for this paper, in the classical Sanskrit section of the 36th Session of the All India Oriental Conference, May 28-30, 1993, Poona.

(ख) KĀLIDĀSA'S ŚAKUNTALĀ
(Critical edition of the Bengali Recension)
Ed. Pischel Richard, Second edition,
Harvard University Press, 1922.

(ग) ABHIJÑĀNA-ŚAKUNTALA OF KĀLIDĀSA
(The Kashmiri recension)
Ed. Belvalkar S.K.
Sahitya Akademi, New Delhi, 1965.

(घ) कालिदास-ग्रन्थावली
सम्पादक : द्विवेदी रेवाप्रसाद
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
(द्वितीयं संस्करणम् वाराणसी, १९८६.

२. टीका-टिप्पणादि (प्रकाशित)

(क) अभिज्ञानशकुन्तलम् । (मैथिलपाठानुगम्)
(शंकर-नरहरिकृतव्याख्याद्वय-समेतम्)
सम्पा. उपाध्याय श्री रमानाथ शर्मा
मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा, १९५७.

(ख) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (काटयवेमविरचितया वसंतराजीया व्याख्यया समेतम्) सम्पा. रंगाचार्य श्री चेलमचेर्ल, आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकाडमी, हैदराबाद, १९८२.

(ग) अभिज्ञानशकुन्तल-चर्चा (अज्ञातकर्तृका) (१९६१ तमे क्रैस्ताब्दे अनंतशयन संस्कृत ग्रन्थावल्यां १९४ तमांकेन प्रकाशितस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणम्) Published by University of Kerala, Trivandrum, Reprinted-1977.

(घ) अभिज्ञानशाकुन्तलम्
(अभिरामकृतया दिङ्मात्रदर्शनाख्यया टीकया संभूषितम्) श्रीवाणीविलास-मुद्रा-यन्त्रालय, श्रीरङ्गम् । (समय अनुल्लिखित)

(ङ) अभिज्ञानशाकुन्तलम् (टीकाद्वयोपेतम् - राघव भट्ट एवं श्रीनिवासचार्य तिरुमलाचार्य) मद्रास, १९५०.

(च) घनश्यामकृत अभिज्ञानशाकुन्तलम्-सञ्जीवनटिप्पण का समीक्षित सम्पादन
सम्पादिका: श्रीमती पूनम पंकज रावळ,
यह शोधप्रबन्ध सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदावाद, १९९७ से प्रकाशित है ।[१]

इन में मोनीयर विलीयम्स की जो आवृत्ति है उसमें देवनागरी-वाचना का पाठ है ।[२] रिचार्ड पिशेल ने बंगाली वाचना का पाठ सम्पादित किया है। डॉ. एस. के. बेलवेलकरजी ने काश्मीरी वाचनानुसार पाठसम्पादन किया है[३] और प्रॉफे. रेवाप्रसाद द्विवेदी ने देवनागरी वाचना का ही अपनी मनीषा के अनुसार पुनः सम्पादन किया है । (यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि अद्यावधि दाक्षिणात्य हस्तलिखित प्रतियाँ के आधार पर कोई दाक्षिणात्यवाचना का स्वतंत्र समीक्षित पाठसम्पादन करने का प्रयत्न नहीं हुआ है ।)

'अभिज्ञानशाकुन्तल' पर जो टीकाटिप्पणादि साहित्य लिखा गया है, वह कौन सी वाचना का अनुसरण करनेवाला है यह भी द्रष्टव्य है : (१) शंकर और नरहरि की टीकाएँ मैथिली पाठ परम्परा का अनुसरण करनेवाली है, (यह दोनों टीकाएँ प्रायः बंगाली-गौडी-वाचना के साथ अधिक साम्य रखती है) । और शुद्ध बंगाली वाचना में संक्रमित होनेवाले अभिज्ञानशकुन्तल पर जो चन्द्रशेखर की 'सन्दर्भदीपिका' टीका है, वह अद्यावधि अप्रकाशित ही है[४]। (२) राघव भट्ट की व्याख्या देवनागरी वाचना का प्रतिनिधित्व करती है । और (३) अभिराम, चर्चा, काटयवेम, घनश्याम एवं श्रीनिवास की टीकाएँ यद्यपि दाक्षिणात्य की कही जाती है फिर भी वह नागरीपाठ परम्परा के साथ अधिक साम्य रखती है; (अतः श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी ने तो उसको पृथक् वाचना मानी

१. प्रस्तुत लेख में इन्हीं आवृत्तियाँ के पृष्ठांक दिये हैं ।
२. मोनियर विलीयम्स ने जो सामग्री का उपयोग किया है (द्रष्टव्य : प्रस्तावना, पृ. IX) उसमें बंगाली पाण्डुलिपि भी है, और राघव भट्ट की व्याख्या का समावेश नहीं है ।
३. डॉ. बेलवेलकरजी ने कौन सी पाण्डुलिपियाँ का उपयोग किया था ? वह इस सम्पादन के प्रकाशक डॉ. वी. राघवन के द्वारा भी अज्ञेय रहा है । (द्रष्टव्य : Preface, p. iii)
४. द्रष्टव्य : New Catalogus Catalogorum, Vol. First, (Revised Edition, University of Madras, 1969; (pp. 281-287).

ही नहीं है ।)

[(४) शारदा अर्थात् काश्मीरी वाचना के शाकुन्तल पर लिखी गई कोई भी टीका ज्ञात नहीं है ।]

सारांश यह है कि अभिज्ञानशाकुन्तल की प्रायः पाँच वाचनाएँ उपलब्ध होती हैं। (क) बंगाली वाचना (पिशेल द्वारा सम्पादित) (ख) मैथिली वाचना[५], (ग) काश्मीरी वाचना (डॉ. बेलवेलकरजी द्वारा सम्पादित), (घ) देवनागरी वाचना और (ङ) दाक्षिणात्य वाचना ॥

२. इन में से कौन सी वाचना में संक्रमित हुआ या सुरक्षित रहा पाठ अधिक श्रद्धेय है, और कौन सी पाठपरम्परा प्राचीनतम है ? इस प्रश्न का कोई निर्विवाद समाधान मिलना सरल नहीं है । साथ में यह भी सत्य है कि जब तक संस्कृत वाङ्मय की 'अभिज्ञानशाकुन्तल' आदि जैसी श्रेष्ठ काव्यकृतियाँ का समीक्षित पाठसम्पादन हमारे सामने नहीं आयेगा तब तक किसी भी काव्यकृति का समीचीन एवं चिरस्थायी मूल्यांकन नहीं हो सकेगा ॥ प्रस्तुत लेख में, शाकुन्तल के टीकाटिप्पण साहित्य को आधार बनाकर[६] और केवल विदूषक की उक्तियाँ लेकर[७] हम- (क) कतिपय पाठान्तरों के उद्भव-हेतु ढूँढने का आयास करेंगे । तथा विभिन्न वाचनाओं में पाठान्तरों का संक्रमण कहाँ से शुरू हुआ होगा इस सन्दर्भ में कुछ अनुमान प्रस्तु करेंगे ॥

१. विदूषक की उक्तियाँ में प्राप्त होते हुए कतिपय पाठान्तर और उनका विश्लेषण अब प्रस्तुत है :

१. 'शाकुन्तल' के द्वितीय अंक के प्रारंभ में एकाकी विदूषक की एक लम्बी उक्ति है । उसमें वह कहता है कि -

---

५. कतिपय विद्वान् उसे पृथक्वाचना नहीं मानते है । परंतु उसका बंगाली वाचना में ही समावेश होता है ऐसा कहना है ।

६. यह सुविदित है कि संस्कृत नाट्यसाहित्य के टीकाकारों ने श्लोकों के शब्दार्थ, अन्वय और सन्धिसन्ध्यङ्गादि का विवरण करने के साथ साथ विदूषकादि नीच पात्रों की प्रत्येक प्राकृत उक्तियाँ का संस्कृत छायानुवाद भी दिया है । अतः वह उक्तियाँ हमारे लिए पाण्डुलिपि की तरह उपादेय है ।

७. केवल विदूषक की उक्तियाँ इसलिए ली जाती है कि प्रस्तुत अभ्यासलेख अनतिविस्तृत बना रहे। (शाकुन्तल में प्रयुक्त प्राकृतभाषा के वैविध्य की चर्चा इस ग्रन्थ में अन्यत्र है।)

A. अअं मिओ अअं वराहो त्ति मज्झंदिणे वि गिम्हे ।
(अयं मृगः अयं वराह इति मध्यंदिनेऽपि ग्रीष्मे.)
(-पिशेल, पृ. १७)

B. अयं मृगोऽयं वराह इति...। (-शंकर, पृ. १९३)

C. अयं मृगोऽयं वराह इति...। (-नरहरि, पृ. ३११)

D. अयं मृगोऽयं वराह इति...। काश्मीरी, पृ. २६

E. अयं मृगोऽयं वराहो-ऽयं शार्दूल इति...। काटयवेम, पृ. ३४

F. अयं मृगः, अयं वराहः, अयं शार्दूल इत्यत्र. । चर्चा, पृ. ७९

G. अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति...। अभिराम, पृ. ६९

H. अयं मृगोऽयं वराहोऽयं शार्दूल इति...। घनश्याम, पृ. १०२

I. अयं मओ मृगः ।...अयं वराहोऽयं शार्दूल इति
- राघव भट्ट, पृ. १२४

J. अअं मिओ इत्यादिना अयं मृग... पुनरयं वराह इति तदलाभे अयं शार्दूल इति... - श्रीनिवास, पृ. १२४

यहाँ पर बंगाली वाचना एवं मैथिलीवाचना में केवल 'मृग' तथा 'वराह' का उल्लेख है, लेकिन देवनागरी वाचना के टीकाकार राघव भट्ट एवं दाक्षिणात्य वाचना के अन्य टीकाकारों ने 'मृग', 'वराह' के साथ 'शार्दूल' का भी निर्देश किया है । अतः हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि विदूषक जब रंगभूमि पर प्रवेश करता होगा, तब व्याधलोगों की अनुकृति करता हुआ साभिनय यह वाक्य बोलता होगा । उस में कुछ और नया अभिनय जोड़ने के लिए दाक्षिणात्य नटमण्डलियाँ ने यह ''अयं शार्दूलः'' वाला नया पाठ्यांश प्रक्षिप्त कर दिया होगा ।

२. उपर्युक्त सन्दर्भ में उसका एक वाक्य इस प्रकार है :

A. ...मम अधण्णदाए सउन्तला णाम का वि तावसकण्णआ दिट्ठा। पिशेल, पृ. १७
(मम अधन्यतया शकुन्तला नाम कापि...)

B. ....ममाधन्यताऽभाग्येन शकुन्तला नाम ... । शंकर, पृ. १९४

C. ....प्रविष्टेनाधन्यतया शकुन्तला नाम ... । नरहरि, पृ. ३१२

D. ....तावसकन्यका शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता ... । काश्मीरी, पृ. २७

E. ....तापसकन्यका शकुन्तला नाम ममाधन्यतया दर्शिता ... । काटयवेम, पृ. ३४

F. ....उदरस्याधन्यतया दर्शितेत्यनेन ... । चर्चा, पृ. ८१

G. ....अत्र राजकर्तृके शकुन्तलादर्शने निजोदरनिर्भाग्यतायाः प्रयोजक ... अभिराम, पृ. ७१

H. ....शकुन्तला नाम ममाधन्यतया दर्शिता ... । घनश्याम, पृ. १०४

I. .... शकुन्तला ममाधन्यतया दर्शिता ... । राघव भट्ट, पृ. १२६.

J. ....अधन्यतयेति । असंभाव्यस्थले राज्ञो युवतिदर्शने स्वस्याधन्यतयैव हेतुरिति... । श्रीनिवास, पृ. १२६

यहाँ पर भी बंगाली वाचना, मैथिलीवाचना और काश्मीरीवाचना में केवल 'ममाधन्यतया' ऐसा पाठ है; लेकिन दाक्षिणात्य वाचना के दो टीकाकार– एक चर्चाकार और दूसरे अभिराम ''मम उदरस्य अधन्यतया'' या ''निजोदर-निर्भाग्यतायाः'' ऐसा पाठान्तर प्रस्तुत करते हैं । दूसरी ओर देवनागरी वाचना के टीकाकार राघव भट्ट, एवं दाक्षिणात्य वाचना के अन्य टीकाकार – काटयवेम, घनश्याम तथा श्रीनिवास भी केवल 'ममाधन्यतया' ऐसा पाठ ही देते हैं । इस से यह प्रतीत होता है कि नाट्यप्रयोग के समय कोई अज्ञात नटमण्डली के द्वारा सामाजिकों को हसाने के लिए ही 'ममाधन्यतया' में 'ममोदरस्य अधन्यतया' ऐसा शब्दविशेष प्रक्षिप्त कर दिया होगा । क्योंकि संस्कृत नाटकों में विदूषक का ही आम जनता के साथ संबंध होता है; और लोकानुरञ्जन कराने के लिए सूत्रधार के पास उसकी उक्तियाँ में प्रक्षेप या परिवर्तन की अधिकतर सम्भावना रहती है ।

३. द्वितीय अंक की इसी लंबी उक्ति में विदूषक एक वाक्य और भी बोलता है, जिसमें रंगक्षमता बढाने के लिए कुछ पाठपरिवर्तन हुआ है ऐसा स्पष्टरूप से दिखाई पडता है । जैसे कि –

A. ऐसो बाणासणहत्थो हिअअणिहिदपिअअणो वणपुष्फमालाधारी इदो ज्जेव आअच्छदि पिअवअस्सो । (एषः बाणासनहस्तो हृदयनिहितप्रियजनः वनपुष्पमालाधारी इतः एव आगच्छति । – पिशेल पृ. ११७

B. एष बाणासनहस्तः.... हृदयनिहितप्रियजनः पुष्पमालाधारी इत एवागच्छति प्रियवयस्यः । – शंकर, १९४.

C. एष बाणासनहस्तो...हृदयविनिहितप्रियतमो वनपुष्पमालाधारी इत एवागच्छति प्रियवयस्यः । नरहरि, पृ. ३१२.

D. एष राजा बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिः परिवृत्तो वनपुष्पमालाधारी इत एवागच्छति । – काश्मीरी, २७.

E. एष बाणासनहस्ताभिः वनपुष्पमालाधारिणीभिः यवनीभिः परिवृत्त इत एवागच्छति... । काटयवेम, ३४

F. यवनिकाभिः परिवृत्तः इत्यनेन... । चर्चा, पृ. ८२

G. यवनिकाभिः आसन्नपरिचारिकाभिः । वनपुष्पमालाधारिणीभिरिति देशौचित्यात् । अभिराम, पृ. ७२

H. एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर् वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत्तः इत...।– घनश्याम, पृ. १०४

I. एष बाणासनं धनुर्हस्ते यासां ताभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिरित... यवनीभि परिवृत्तः इत एवागच्छति । राघव भट्ट, पृ. १२७.

J. यवनीशब्देन राज्ञः शस्त्रधारिण्य उच्यन्ते । श्रीनिवास, पृ. १२७.

यहाँ पर बंगाली एवं मैथिली वाचना में जो पाठ है वह प्रायः एकरूप है, लेकिन काश्मीरी वाचना से शूरु करके देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना में एक नया ही पाठपरिवर्तन दिखाई रहा है । प्रथम प्रकार के पाठानुसार रंगभूमि पर केवल पुष्पमाला को धारण करके हाथ में धनुष्यबाण लिया हुआ राजा दुष्यन्त प्रविष्ट होगा । परंतु दूसरे प्रकार के पाठानुसार तो शस्त्रधारिणी और पुष्पमाला पहनी हुई यवनीस्त्रियाँ से परिवृत्त हुआ राजा दुष्यन्त रंगभूमि पर प्रविष्ट होगा । तो यह दूसरे पाठ में रंगक्षमता बढ़ाने का आयास है । (अथवा

यह भी सम्भव है कि अल्पसंख्यक पात्रसृष्टि के द्वारा यदि कोई सूत्रधार ने इस नाटक का प्रयोग करने का उपक्रम लिया होगा तो उसने ''यवनीभिः परिवृत्तः'' वाला पाठ बदल दिया होगा । जो बंगाली वाचना में प्रतिम्बिबित हुआ है ।)

४. मृगया के लिए प्रोत्साहन देनेवाले सेनापति पर क्रुद्ध होता हुआ विदूषक बोलता है कि

A. .... जाव सिआलमिअलोलुवस्य कस्स वि जुण्णरिच्छस्स मुहे णिवडिदो होसि । पिशेल. पृ. २०.
(....यावत् शृगालमृगलोलुपस्य कस्यापि जीर्णर्क्षस्य मुखे निपतितः भवसि)

B. यावत् शृगाललोलुपस्य कस्यापि जीर्णभल्लूकस्य मुखे निपतितोऽसीति । शंकर, पृ. १९७.

C. यावन्नासिकाया लोलुपस्य कस्यापि जीर्णर्क्षस्य मुखे न निपतितो भवसीति । नरहरि, पृ. ३१३.

D. यावत्सीमाशृगाल इव जीर्णर्क्षस्य मुखे... । काश्मीरी, ३१.

E. नरमांसलोलुपस्य कस्यापि जीर्णऋर्क्षस्य मुखे निपतिष्यसि ।. - काटयवेम, पृ. ८०

F. आहिण्ड्य गत्वा, तीक्ष्णर्क्षस्य क्रूरभल्लूकस्य । पतितो भवेति शपनम् । - चर्चा, पृ. ९१

G. मुखे पतितोऽसि, जीर्णऋक्षस्ते नासां भक्षयति इति भावः । - अभिराम, पृ. ८४.

H. ... इदानीं नासिकामांसलोलुपस्य कस्यापि जीर्णऋक्षस्य मुखे पतितो भवसि । - घनश्याम, ११०.

I. ...नरनासिकालोलुपस्येति स्वभावोक्तिः । जीर्णऋक्षस्य वृद्धभल्लू-कस्य कस्यापि मुखे पतसि पतिष्यसि । -राघव भट्ट, पृ. १४२.

J. जीर्णऋक्षस्य वृद्धभल्लूकस्य... । - श्रीनिवास पृ. १४२

यहाँ पर बंगाली इत्यादि सभी वाचनाओं में 'जीर्णक्ष्र्यस्य' ऐसा पाठ है । परंतु मैथिलीवाचना का अनुसरण करनेवाला टीकाकार शंकर ने

'जीर्णभल्लूकस्य' ऐसा पाठान्तर दिया है; जिसमें 'ऋक्ष्य' के लिए मिथिलाप्रान्त - बिहार - में प्रयुक्त होनेवाला 'भल्लूक' शब्द स्वीकारा है । सम्भव है कि विदूषक की उक्तियाँ प्राकृत में उच्चरित होती थी, तो जहाँ पर यह शाकुन्तल खेला गया होगा, वहाँ की प्रादेशिक बोली के अनुसार यह शब्द रखा गया होगा ।

यहाँ जो बंगाली वाचना में 'शृगालमृगलोलुपस्य' ऐसा दूसरा पाठ है, उसके स्थान पर अंशतः परिवर्तनवाले अनेक पाठान्तर मिलते हैं । लेकिन यहाँ पर जो 'नरमांसलोलुपस्य' या 'नरनासिकामांसलोलुपस्य' ऐसे पाठान्तर दिखाई देते हैं, वह प्रसंगोचित्त लगते हैं । क्रुद्ध होकर ब्राह्मण विदूषक आखेट की स्तुति करनेवाले सेनापति को यही शाप दे वह अधिक उचित है । एवमेव यह दूसरा पाठान्तर देवनागरी एवं दाक्षिणात्य दोनों वाचनाओं में प्रचलित है; अधिक व्याख्याकारों के द्वारा स्वीकृत है ।

५. विदूषक को जब ज्ञात होता है कि राजा दुष्यन्त कोई आश्रमनिवासिनी तापसकन्या में अनुरक्त हुआ है तो वह कहता है कि -

A. भो । जधा कस्स वि पिण्डखज्जूरेहिं उव्वेइदस्स तिन्तिडिआए सद्धा भोदि तथा अन्तेउरइत्थीरदणपरिभोइणो भवदो इअं पत्थणा । - पिशेल २२.

(भोः यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरैः उद्वेजितस्य तिन्तिडिकायाम् श्रद्धा भवति, तथा अन्तःपुरस्त्रीरत्नपरिभोगिनः भवतः इयं प्रार्थना ।)

B. तिन्तिडाभिलाषो भवति तथा स्त्रीरत्नपरिभोगिनो भवत इयमभ्यर्थना । - शंकर, १९९.

C. तिन्तिलिकाभिलाषो भवति तथा स्त्रीरत्नहारिणो भवत इयमभ्यर्थना । - नरहरि, पृ. ३१४.

D. तिन्तिडिक्यामभिलाषो भवति तथा स्त्रीरत्नपरिभोगिनो भवत इयं प्रार्थना । काश्मीरी, ३३.

E. तिन्त्रिणीफले अभिलाषो भवेत्, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयम् अभ्यर्थना । - काटयवेम - पृ. ४४

F. अत्र बहुत्वं तिन्त्रिण्यामेकत्वं च विवक्षितम् । ...स्त्रीरत्नपरिभाविन इति । - चर्चा, पृ. ९४.

G. तिन्त्रिणीफलेऽभिलाषः - स्त्रीरत्नानि परिभवितुमतिपरिचयादवज्ञातुं शीलवतः । - अभिराम, पृ. ९०.

H. तिन्त्रिण्याम् अभिलाषो भवेत्तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना । - घनश्याम, ११३.

I. तिन्तिण्यां चिञ्चायामभिलाषो भवेत्तथा स्त्रीरत्नानि परिभवितुं तिरस्कर्तुम् शीलं यस्य तस्य भवत इयमभ्यर्थना । - राघव भट्ट, पृ. १५०.

J. तिंत्रिण्याम् ... । - श्रीनिवास, पृ. १५०.

यहाँ पर दो शब्दो के पाठान्तर समीक्ष्य है : (क) 'तिन्तिडिकायाम्' (tamarind) शब्द बंगाली, मैथिली एवं काश्मीरी वाचनाओं में प्रचलित है; दूसरी और देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में 'तिन्त्रिणीफले' ऐसा पाठान्तर दिखाई पडता है । सम्भव है कि सूत्रधारों ने अपने प्रदेश का जो प्रचलित शब्द होगा वही परिवर्तित करके रखा होगा । (ख) दूसरा जो शब्द है वह 'स्त्रीरत्नपरिभोगनः' (=दुष्यन्त एकाधिक स्त्रीरत्नों का भोग करनेवाला) है; वह उपमानभूत 'पिण्डखर्जूर' के भोक्ता' के साथ अन्वय रखता है । लेकिन देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में 'स्त्रीरत्नपरिभाविनो' (=अन्तःपुर में एकत्र किये गये स्त्रीरत्नों = अन्य रानिओं का तिरस्कार करनेवाला दुष्यन्त) ऐसा पाठ मिलता है; जिसका 'उद्वेजितस्य' शब्द के साथ संबंध जोड़ना है । अब यहाँ पर विदूषक की जो मजाक उड़ाने की आदत है उसको देखते हुए तो वह 'स्त्रीरत्नपरिभाविनः' वाला (दूसरा पाठान्तरवाला) शब्दप्रयोग ही करेगा ऐसा प्रतीत होता है । और वही पाठ अधिक क्षेत्रों में प्रचलित लगता है । अथवा जिन सूत्रधारों ने 'स्त्रीरत्नपरिभोगिनः' का 'तिन्त्रिण्याम्' अभिलाषः' कैसे हो सकता है ? ऐसा सोचा होगा, उन्होंने उसे बदल कर 'स्त्रीरत्नपरिभाविनः' बनाया होगा । ऐसा करने पर भी 'पिण्डखर्जूर के भोक्ता' के साथ अन्वय बन जाता है । और, यह भी ध्यानास्पद है कि 'स्त्रीरत्नपरिभाविनः' वाला पाठ ही दुष्यन्त की भ्रमरवृत्ति को ध्वनित करने में समर्थ है । अतः यही पाठ आन्तरिक

सम्भावनायुक्त कहा जायेगा ॥

६. द्वितीय अंक में दुष्यन्त का प्रेमप्रकरण सुनने के बाद विदूषक बताता है कि -

A. गहिदपाधेओ किदो सि ताए । ता अणुरतं तवोवणेतुमं तक्केमि । (पिशेल, पृ. २३)

(गृहीतपाथेयः कृतोऽसि तया । तत् अनुरक्तं तपोवने त्वां तर्कयामि ।)

B. गृहीतपाथेयो भवान् कृतस्तयेति । अनुरक्तं तपोवनमिति तर्कयामि । - शंकर, पृ. २०३.

C. गृहीतपाथेयो भवान् कृतस्तया । अनुरञ्जितं त्वया तपोवनमिति तर्कयामि । - नरहरि. पृ. ३२६.

D. भो गृहीतपाथेयो भव । कृतं त्वयानुरूपं तपोवनमिति तर्कयामि । - काश्मीरी, पृ. ३५.

E. यद्येवं गृहीतपाथेयो भव । कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि । - काटयवेम, पृ. ४७.

F. तर्हि गृहीतपाथेयो भवसीति । ... अनुपसर्गं निरूपद्रवम् । - चर्चा, पृ. १००

G. यद्येवं गृहीतपाथेयो भवसि... कृतं त्वयानुपसर्गं तपोवनमिति पश्यामि । - अभिराम, पृ. ९७.

H. यद्येवं गृहीतपाथेयो भव ।... कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिव पश्यामि । - घनश्याम, पृ. ११६.

I. तेन हि गृहीतपाथेयो भव । ... कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि । - राघव भट्ट, पृ. १६०.

J. गृहीतपाथेयो भवेत्यनेन... तपोवनमुपवनमिति अनेन शांतिप्रधाने.... । - श्रीनिवास, पृ. १६०.

उपर दाक्षिणात्य वाचना के चार व्याख्याकारों ने "गृहीतपाथेयो भव, कृतं त्वया उपवनं तपोवनमिति पश्यामि ।" वाला पाठ स्वीकारा है । यहाँ पर

विदूषक दुष्यन्त को एक सलाह देता है कि - यदि शकुन्तला में तुम अनुरक्त हुए हो तो तुम्हारी यह आखेटयात्रा लम्बे दिन चलेगी, और मार्ग में पाथेय की जरूरत होगी, सो उसे इकट्ठा कर लो । एवं वह दुष्यन्त को अभिनंदन भी देता है कि तुमने तपोवन को उपवन बना दिया है । यद्यपि राघव भट्ट के मतानुसार 'कृतं त्वयोपवनं तपोवनम् इति' इस वाक्य में ''उद्देश्यविधेयभावे व्यत्ययो ज्ञेयः'' (पृ. १६०) अर्थात् उद्देश्य रूप 'तपोवन' का और विधेय रूप 'उपवन' का पदक्रम विपरीत हो गया है । तथापि वह विशेष वाक्यभंगी से बोलने पर अभीष्टार्थ की प्रतीति करायेगा । इस सन्दर्भ में दाक्षिणात्य पाठपरंपरा का अनुसरण करनेवाले अभिराम एवं चर्चा टीकाकार ने जो पाठान्तर स्वीकारा है, वह प्रसंगानुरूप नहीं दिखाई पड़ता । दूसरी ओर बंगाली वाचना का पाठान्तर सन्दर्भानुसारी होते हुए भी सरल है । उसमें विदूषक के व्यक्तित्व की कोई आभा प्रतिबिम्बित नहीं होती है । शंकर के द्वारा प्रदर्शित उत्तरार्ध का वाक्य किसी भी तरह से चारु अर्थवाला नहीं है । नरहरि ने 'तया' के उपरान्त 'त्वया' शब्द को भी उत्तरार्ध में रखकर परिशुद्धवाक्य बनाया है । काश्मीरी वाचना का पाठ भी विदूषक के व्यक्तित्व के अनुरूप है । लेकिन बंगाली एवं काश्मीरी इन दोनों वाचनाओं में राघव भट्ट द्वारा प्रदर्शित उद्देश्यविधेय भाव का भंग परिहृत करने का प्रयास हो सकता है ।

७. द्वितीय अंक के अंत में विदूषक के मन में शकुन्तला के रूपातिशय को देखने की इच्छा-कौतुक-है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विदूषक कहता है कि -

A. पढमं अपरिबाधं आसि । संपदं रक्खसवुत्तन्तेण सपरिबाधं । - पिशेल, पृ. २५.

(प्रथममपरिबाधमासीत् । सांप्रतं राक्षसवृत्तान्तेन सपरिबाधम् ।)

B. प्रथमपरिबाधमप्रत्यूहमासीत् साम्प्रतं राक्षसवृत्तान्तेन सप्रत्यूहं सविघ्नं कुतूहलमिति । - शंकर, पृ. २०५.

C. प्रथमममनपबाधमासीत् साम्प्रतं राक्षसवृत्तान्तेन सापबाधं कौतूहलतम्... । - नरहरि, पृ. ३१६.

D. प्रथमं सपरिवाहमासीत् । राक्षसवृत्तान्तेन पुनः सांप्रतं बिन्दुरपि नावशेषितः । - काश्मीरी, पृ. ३८.

E. प्रथमं सपरिवाहमासीत् । इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषतः । - काट्यवेम, पृ. ५०.

F. प्रथमं सपरिवाहमसीत् । राक्षसवृत्तान्तेन पुनरस्य बिन्दुरपि नावशिष्टः । - चर्चा, पृ. १०४.

G. सपरिवाहमासीत् बिन्दुः तस्य लेशः । - अभिराम, पृ. १०३

H. प्रथमं सपरिवाहम् आसीदिदानीं राक्षसवृत्तान्तेन पुनरस्य बिन्दुरपि नावशेषितः । - घनश्याम, पृ. ११९

I. प्रथमं सपरिवाहमासीत् । .... इदानीं राक्षसवृत्तान्तेन बिन्दुरपि नावशेषितः । - राघव भट्ट, पृ. १६८.

J. प्रथमं... सपरिवाहं... बिन्दुरपि बिन्दुमात्रमपि । - श्रीनिवास, पृ. १६८.

यहाँ पर बंगाली एवं मैथिली वाचना में विदूषक कहता है कि पहेले तो शकुन्तला को बिना कोई विघ्न देखना था, लेकिन अब राक्षसों का वहाँ होना सून कर लगता है कि कोई विघ्न के साथ ही शकुन्तला को देखनी होगी । दूसरी और काश्मीरी, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में विदूषक की उक्ति है कि पहले तो शकुन्तला को देखने का कुतूहल (नदी के) परिवाह (=बाढ़) की तरह था । लेकिन राक्षसवृतान्त को सून कर मेरे मन में अब कौतूक का एक बिन्दु भी अवशिष्ट नहीं रहा है । इस उक्ति में से विदूषक का भीरु स्वभाव भी उभर कर बाहर आता है और सामाजिकों को हास्य मिलता है ।

सम्भव है कि यहाँ विदूषक की उक्ति में जो शब्द 'सपरिवाहम्' है, उसमें 'व' कार का 'ब' कार, और 'ह' कार का 'ध' कार करने के बाद - अर्थात् 'सपरिवाहम्' का 'सपरिबाधम्' ऐसा अनुवाद होने का बाद - बंगाली वाचना का अनुसरण करनेवाले पाण्डुलिपियाँ के लेखकों ने उनमें से 'बिन्दु' शब्द को भी हटा दिया होगा ॥ यह एक अनुलेखनीय सम्भावनावाला पाठभेद है ।

८. पंचम अंक के आरंभ में जब दुष्यन्त विदूषक को हंसवती / हंसपदिका के पास भेजता है तब वह बोलता है कि -

A. गहिदो तए परकेरणहिं हत्थेहिं सिहण्डए अच्छभल्लते । ता अवीदराअस्स विअ समणस्स णत्थि दाणिं मे मोकखो । – पिशेल, पृ. ४९

(गृहीतस्त्वया परकीयैः हस्तैः शिखण्डके अच्छभल्लः ॥ तत् अवीतरागस्य इव श्रमणस्य नास्तीदानीं मे मोक्षः ।)

B. गृहीतस्तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके अच्छभल्लः ।... विगतरागस्येव अप्सरसा गृहीतस्य नास्ति मे मोक्षः ।
– शंकर, पृ. २५४-२५५.

C. गृहीतस्तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके अच्छभल्लः । अविगत-रागस्यापि सुजनस्य नास्ति मे मोक्षः । (नरहरि, पृ. ३४०)

D. गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके अप्सरसा वीतरास्येव नास्ति मे मोक्षः । – काश्मीरी, पृ. ७७.

E. गृहीतस्य तया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके अप्सरसेव वीतरागस्य नास्ति मे मोक्षः । काटयवेम, ९८.

F. गृहीतस्य तया परकेरकाभ्यां हस्ताभ्यां शिखण्डाज्जले अप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मे मोक्षः । – चर्चा, पृ. १६४.

G परकेरकैः परकीयैः ।... शिखण्डाज्जले शिखण्डाग्रे । वीतरागस्य तपस्विनः । मोक्षः मोचनम् । – अभिराम, १९०.

H. गृहीतस्य तया परकीयाभ्यां हस्ताभ्यां शिखण्डेऽप्सरसेवावी-तरागस्य नास्ति मे मोक्षः । – घनश्याम, १६९.

I. गृहीतस्य तथा परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके... अप्सरसा वीतरागस्येव नास्तीदानीं मोक्षो मोचनं कैवल्यं च । –राघव भट्ट, पृ. २८७

J. मौनम् । – श्रीनिवास, पृ. २८७.

यहाँ पर काश्मीरी, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में 'वीतरागस्येव अप्सरसा' वाला पाठ प्रसिद्ध है और जो सन्दर्भानुसारी ही है । विदूषक अपने को 'वीतराग' जैसा कहता है । क्योंकि उसके मन में अंशमात्र भी स्त्री–आसक्ति नहीं है और सामने जो हंसपदिका है वह अप्सरा जैसी है; जो वीतराग ऋषि

को पकडनेवाली–अनुरक्त करनेवाली–होती है । तो यह उपमा कालिदासीय ही है । परंतु बंगाली वाचना का पाठ कुछ अपपाठ जैसा लगता है । क्योंकि 'अवीतरागस्य इव श्रमणस्य' में श्रमणसम्प्रदाय के यति की और जरूर आक्षेप है; लेकिन वह प्रहसन या भाण प्रकार के रूपक में हो तो सुसंगत लगेगा । यहाँ पर नाटक में, और वह भी कालिदास के नाटक में अस्वाभाविक लगता है । एवं यह भी ध्यानास्पद है कि मैथिली वाचना का अनुसरण करनेवाला टीकाकार शंकर भी 'अप्सरसा' वाला पाठ ही स्वीकारता है ॥ एवमेव बंगाली वाचना में आया हुआ 'अच्छभल्ल' जैसा प्रादेशिक देशी शब्द भी प्रक्षिप्त लगता है, कालिदासने तो द्वितीय अंक में 'जीर्ण–ऋक्ष' शब्द रखा था । और नरहरि को छोड़कर और कोई व्याख्याकार ने उसको स्वीकारा नहीं है ।

'वीतरागस्येव' के स्थान पर आया हुआ 'अवीतरागस्येव' पाठान्तर भी पश्चाद्वर्ती काल का हो सकता है । जिस में श्रमणों की और से आक्षेप को हटाया गया है । अतः यह भी प्रादेशिक पाठपरिवर्तन की चेष्ठा हो सकती है।

९. षष्ठ–अंक में मातलि के द्वारा पकडा गया, विदूषक अपने को 'बिडालगृहीत मूषक' की उपमा देता है :–

A. मज्जारगहिदो विअ उन्दुरो णिरासो म्हि जीविदे ।
(मार्जारगृहीतः इव उन्दुरः निराशोऽस्मि जीविते)
– पिशेल, ९१.

B. मार्जारगृहीत इवोन्दुरुर्निराशोऽस्मि जीविते । – शंकर, २८०.

C. मार्जारगृहीत उन्दुर इवानीशोऽस्मि जीविते । – नरहरि, ३५९.

D. मार्जारगृहीत इव उन्दुरो निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः ।
– काश्मीरी, पृ. ११९.

E. बिडाल गृहीतो मूषिक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः ।
– काट्यवेम, पृ. १५१.

F. पाठ्यांशः अनुपलब्धः । – चर्चा, पृ. २०५.

G वाक्यमिदं नैव व्याख्यातम् । – अभिराम, पृ. २७९.

H. बिडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः । –

घनश्याम, पृ. २३७.

I. बिडालगृहीतो मूषिक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः । – राघव भट्ट, पृ. ३९४.

J. मौनम् । – श्रीनिवास, पृ. ३९४.

यहाँ पर पूर्वोत्तर भारत में प्रचलित बंगाली, मैथिली एवं काश्मीरी वाचनाओं में जो 'उन्दुर / उन्दूरु' शब्द मिलता है, वह ध्यानास्पद है । यहाँ पर 'मार्जार' शब्द तो संस्कृत है, और उसे बिना कोई परिवर्तन अपनाया गया है । परंतु यह जो 'उन्दुर' या 'उन्दुरु' शब्द है वह देश्य शब्द है और उन प्रान्तों में प्रचलित मूषक-जन्तु का जो 'उन्दुर' ऐसा नामान्तर प्रसिद्ध होगा उसका प्रयोग किया गया है[८] ।

देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में एवं टीकाकारों ने 'मूषक' या 'मूषिक' ऐसा संस्कृत शब्द अपरिवर्त्य रखा गया है, और 'मार्जार' शब्द का त्याग करके, उनके स्थान पर 'बिडाल' जैसा देश्य-प्रादेशिक-शब्द रख लिया है । इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि जो विदूषकादि की प्राकृत उक्तियाँ होती हैं, उसमें प्रादेशिक बोली के प्रचलित शब्दों को लेकर अनेक स्थान पर परिवर्तन किये गये हैं । (इस सन्दर्भ में मेरा ''अभिज्ञानशकुन्तला नाटकस्य पञ्चरंगावृत्तयः'' । दिल्ही, २०१९ ग्रन्थ द्रष्टव्य है ।)

विदूषक की उक्तियाँ में से लेकर यहाँ पर जिन पाठान्तरों की चर्चा की गई है उससे यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि – (क) कदाचित् रंगक्षमता बढाने के लिए, (ख) एवं हास्यनिष्पति करने के लिए, तथा (ग) कुत्रचित् प्रादेशिक बोली भाषा में जो शब्द प्रचलित रहा होगा उसका भी स्वीकार करके विदूषक की उक्तियाँ में पाठ-परिवर्तन किया गया है । पाठान्तरों के उद्भवहेतु इससे अन्य एवं अधिक भी हो सकते हैं । (लेकिन विस्तरभय से हम प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हैं ।)

२.० उपर्युक्त पाठान्तरों का तुलनात्मक अभ्यास करके, अब टीकाकारों

८. A SANSKRIT-ENGLISH DICTIONARY - By Monier Williams (Berkeley, 1976) csx (page : 193) बताया है कि यह उन्दुर/उन्दुरु शब्द केवल कोशग्रन्थों में मिलता है, अन्य कोई संस्कृत ग्रन्थ में उसका प्रयोग नहीं हुआ है ।

के पास जो पाठपरम्परा संक्रमित हुई दिखाई पडती है उसका वंशवृक्ष समीक्ष्य है :

(क) काश्मीरी वाचना, मैथिली वाचना और बंगाली वाचना जहाँ पर एकरूप है – समान – है ऐसे वाक्यों (अयं वराहो) १.१ एवं (स्त्रीरत्नपरिभोगिनः) १.५ है ।

(ख) उपर्युक्त दोनों सन्दर्भों में देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना का पाठ एक समान है : 'अयं शार्दूलः' इतना अधिक पाठ १.१ में है; और १.५ में 'स्त्रीरत्नपरिभाविनः' ऐसा पाठान्तर है ।

(ग) कुत्रचित् ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि काश्मीर की वाचना और दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में समानता है । जैसे कि १.३ में 'बाणासनहस्ताभिः यवनीभिः' वाला पाठ सभी दाक्षिणात्य टीकाकारों ने, और देवनागरी वाचना के टीकाकार राघव भट्ट ने भी स्वीकारा है। तथा १.७ में दिखाई देता हुआ 'बिन्दुरपि नावशेषितः' वाला पाठ्यांश काश्मीरी वाचना और दाक्षिणात्य वाचनाओं में, तथा राघव भट्ट में भी एक समान है ।

सम्भवतः इस का ऐसा कारण हो सकता है कि – वह पाठ या तो दाक्षिणात्य / देवनागरी वाचना से काश्मीरी वाचना में गया होगा अथवा तो काश्मीरी वाचना से शुरू हुआ यह पाठान्तर दाक्षिणात्य पाठ परंपरा में और बाद में देवनागरी वाचना में भी संक्रान्त हुआ होगा । इन दो सम्भावनाओं में से दूसरी सम्भावना ही सही लगती है । (द्रष्टव्य :- मेरा अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की कश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन । प्रकाशक : राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, २०१८).

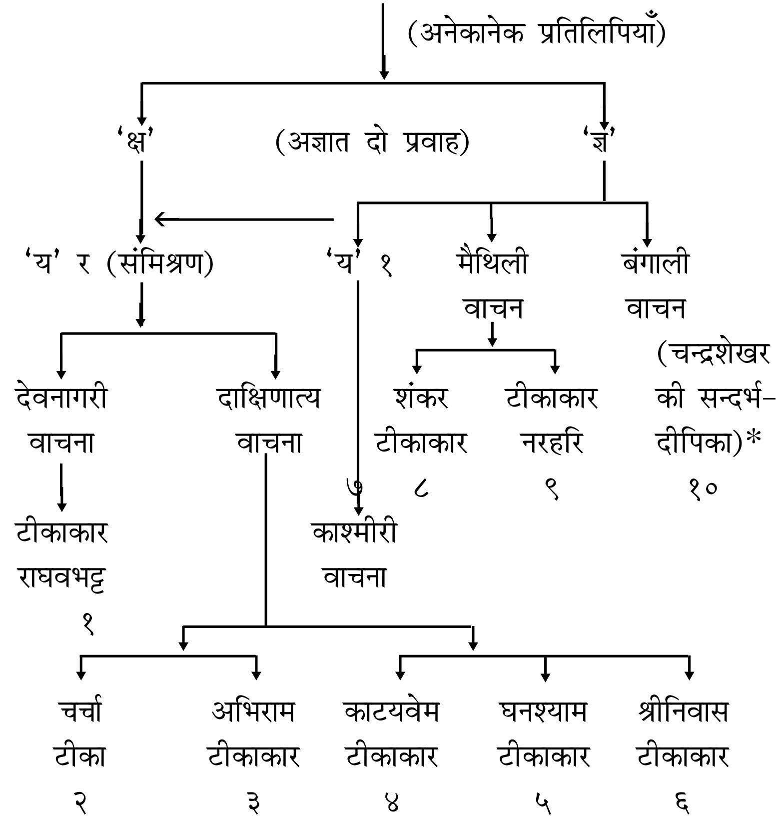
(घ) दाक्षिणात्य वाचना के अभिराम और चर्चाकार जैसे दो टीकाकार कुत्रचित् स्वतंत्र पाठ भी देते हैं । उदाहरण के रूप में १.२ में 'उदरस्य अधन्यतया', तथा १.६ में 'अनुपसर्ग तपोवनमिति' वाला पाठान्तर ॥

इस समीक्षण को एक चित्र से स्पष्ट किया जाय तो 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की विभिन्न वाचनाओं और उनके टीका-टिप्पणकारों द्वारा स्वीकृत पाठपरम्परा का वंशवृक्ष निम्नोक्त रूप का हो सकता है :-

९. A Sanskrit-E

अभिज्ञानशा (श)कुन्तलम्

- कालिदास का स्वहस्त लेख -



यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि १, २, ३, ४, ५, ६ – में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का (कुल मिला के प्रायः १९० से १९४ श्लोकवाला) लघुसंस्करण स्वीकृत है; और ७, ८, ९ एवं १० में 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का (कुल मिलाके प्रायः २२५ से २३२ श्लोकों वाला) बृहत्संस्करण स्वीकृत है ॥

३. डॉ. एस. के. बेलवेलकरजी की उक्ति "The final text naturally belongs to no particular recension.[९] का स्मरण करके उपर्युक्त पाठान्तरों

९. See : "The Original Śākuntala", in the Sir Ashutosh Mookerjee Silver Jubilee Volumes III, Orientalia, part-2, (pp. 344-59) Calcutta, 1925.

* अभिज्ञानशकुन्तलम्, सन्दर्भदीपिकया टीकया सहितम् । सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मीशन, दिल्ली, २०१३.

का सिंहावलोकन करेंगे, तो सूत्र रूप से यह कहना होगा कि – १.१ का 'अयं शार्दूलः', १.२. का 'ममोदरस्य', १.५ का 'स्त्रीरत्नपरिभाविनः', १.६ का 'कृतं त्वयोपवनं', १.७ का 'बिन्दुरपि' एवं १.८ का 'वीतरागस्येव' वालें पाठान्तरों जो देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के हैं (जिनको कुत्रचित् काश्मीरी वाचना का भी समर्थन है) उन्हें बंगाली वाचना के 'शकुन्तल' में कटाक्ष, हास्य इत्यादि से रहित बनाया गया है ॥ अथवा, मूलतः बंगाली वाचना के यह सरल, कटाक्ष एवं हास्य निरपेक्ष वाक्यों / शब्दों को देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में ले जाकर कटाक्ष इत्यादि से परिवर्तित या प्रक्षिप्त करके बडे चोटदार बनाये गये हैं[१०] ॥

१०. यदि दूसरे पक्ष को स्वीकार किया जाय तो "The Vidūṣaka by G. K. Bhat (New Order Book Co., Ahmedabad, 1959) में शाकुन्तल के विदूषक का जो पात्रचित्रण किया गया है वह भी बदलना होगा । क्योंकि डॉ. गोविन्द केशव भट ने इस नाटक की देवनागरी वाचना के अलावा दूसरी कोई (पुरोगामी) वाचनाओं का पाठ देखा ही नहीं था !

उपक्रम-14

अभिज्ञानशकुन्तल-बंगालीवाचना में (भी) मौलिकता के समर्थक नवीन प्रमाण

भूमिका

इसमें दो मत नहीं है कि महाकवि कालिदास का अभिज्ञानश-(शा)कुन्तल नाटक सर्वश्रेष्ठ है। लेकिन इस नाटक के शीर्षक से लेकर अन्तिम भरतवाक्य पर्यंन्त का जो पाठ पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ है वह नाना प्रकार का दिखाई देता है। अत: इस नाट्यकृति के किसी भी वाक्य को लेकर यह पूछा जाए कि - क्या यह वाक्य कालिदास ने लिखा था ? तो इतना निश्चित है कि इसमें दो मत अवश्य सामने आयेंगे ![१]

इस नाट्यकृति का ''समीक्षित पाठसम्पादन'' प्रस्तुत करने का दावा अनेक गणमान्य विद्वानों ने किया है।[२] लेकिन इनमें से किसी का भी समीक्षित पाठ सर्वसम्मत नहीं हुआ है। आज की प्रवर्तमान स्थिति यही है कि कालिदास के अभिज्ञानश(शा)कुन्तल नाटक का पाठ कम से कम पाँच वाचनाओं में प्रवहमान दिखाई देता है। १. देवनागरी-वाचना, २. दाक्षिणात्य-वाचना, ३. काश्मीरी-वाचना ४. मैथिली-वाचना एवं. ५. बंगाली-वाचना। इन पाँचो वाचनाओं में जो पाठ-वैविध्य है उसको हम मुख्य रूप से दो परम्पराओं में

१. It is the Abhijnanaśakuntala that the Indological world is both united and divided. (Preface-page-:I). Dr. Dileep Kumar Kanjilal, Sanskrit College, Calcutta, (1980).

विभक्त कर सकते हैं :- (क) लघुपाठ परम्परा और (ख) बृहत् पाठपरम्परा। प्रथम परम्परा में इस नाटक का शीर्षक - अभिज्ञानशाकुन्तलम् है, और द्वितीय परंपरा में - अभिज्ञानशकुन्तल है। पूर्वोक्त पञ्चविध वाचनाओं में से प्रथम दो वाचनायें लघुपाठ परम्परा वाली है, तथा अंतिम दो वाचनायें बृहत् पाठपरम्परा वाली है। लेकिन काश्मीर की जो तृतीय वाचना है, वह न अतिलघु है और न अतिबृहत् है - मध्यम विस्तारवाली है - ऐसा डॉ. एस. के. बेलवालकरजी का मत है। तथा बंगाली वाचना काश्मीरी वाचना की ओर थोड़ा झुकाव रखने वाली है - यह भी ज्ञातव्य है।

इस तरह अभिज्ञानश(शा)कुन्तलम् नाटक का पाठ मुख्य रूप से दो-लघुपाठ और बृहत्पाठ-परम्पराओं में संचरित हुआ है। किन्तु यह नाटक एककर्तृक रचना है, इसलिए एक प्रश्न तो उठेगा ही कि दोनों तरह का अभिज्ञान-श(शा)कुन्तल तो कालिदास द्वारा नहीं लिखा हो सकता। अर्थात् हमें यह ढूँढना ही चाहिये कि इस नाटक की दो तरह की पाठपरम्परा में से किस परम्परा का पाठ मौलिक हो सकता है। तार्किक दृष्टि से सोचा जाय तो यहाँ दोनों तरह की सम्भावनायें हो सकती हैं। जैसा कि - १. लघुपाठ में कालान्तर में (नाट्यप्रयोग के दौरान) कुछ अंश नये जोड़े गये होंगे, ऐसे प्रक्षिप्तांश के कारण शाकुन्तल का बृहत् पाठ तैयार हुआ होगा अथवा २. महाकवि के द्वारा ही प्रणीत मूल बृहत्पाठ में से कुछ अंश हटा कर (रंगभूमि के अनुरूप, सीमित समय में प्रस्तुत होने वाला) नाटक का संक्षिप्त (लघु) पाठ बाद में तैयार किया गया होगा। अत: यह कहना मुश्किल है कि कालिदास ने ही अपने हाथ से लिखा हो, ऐसा (मौलिक) पाठ कौन सी परम्परा में सुरक्षित रहा होगा ? यह प्रश्न निरतिशय विवादास्पद होते हुए भी विद्वानों के लिए

२. कालिदास-ग्रन्थावली, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दु वि. वि. वारणसी, १९८६ में (१) देवनागरी वाचना का समीक्षित पाठ, (२) अभि. शकुन्तल, सं. डॉ. एस. के. बेलवालकर, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, १९६४ में काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठ, (३) अभि. शाकु. काटयवेम की टीका के साथ सं. चेलमचेर्ल रंगाचार्य, आन्ध्रप्रदेश संस्कृत अकादेमी, हैदराबाद, १९८२ में दाक्षिणात्य वाचना का समीक्षित पाठ, (४) शकुन्तल, सं. रिचार्ड पिशेल, हार्वर्ड युनि. प्रेस, १९२२ में बंगाली वाचना का समीक्षित पाठ, (५) अभि. शकु. सं. रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५७ में मैथिली वाचना का समीक्षित पाठ प्रकाशित है।

अनुपेक्ष्य है । इसीलिए जब तक इस प्रश्न का बुद्धिग्राह्य समाधान न मिले तब तक विद्वज्जगत् में इस दिशा के प्रयास जारी रहने चाहिये और किसी भी कृति के पाठ की विश्वसनीयता जब तक सिद्ध नहीं होती है तब तक उसके साहित्यिक गुण-दोष या मूल्यांकन की चर्चा चिरस्थायी नहीं बन सकती है ।

१-१. नाटक जो मूल में एककर्तृक रचना होती है उसका पाठ जब प्रतिलिपिकरण के द्वारा पाण्डुलिपियों में संचरित होता है तो उसमें अनेक पाठभेद (पाठान्तर), अपपाठ, प्रक्षेप, श्लोकों की आनुक्रमिकता में विभेद, पात्रसृष्टि के नामों में बहुविधता तथा उक्ति के वक्ताओं में परिवर्तनादि दिखाई देते हैं । ऐसी स्थिति में, पाठालोचना करके जो समीक्षित पाठसंपादन तैयार किया जाता है, उसमें दो तरह की सम्भावनाओं की परीक्षा की जाती है : (क) अनुलेखनीय सम्भावना, (ख) तथा आन्तरिक सम्भावना । उदाहरण के रूप में देखें तो प्रो. श्री रेवाप्रसाद जी ने कालिदास के समय में प्रचलित ब्राह्मीलिपि के अक्षरों के आकार को ध्यान में लेते हुए, शाकुन्तल के नान्दी-पद्य में 'प्रपन्नः' और 'प्रसन्नः' - जैसे दोनों उपलब्ध पाठान्तरों को अमान्य घोषित करके, 'प्रपन्नान्' जैसे नये पाठ की उद्भावना की है। इसको अनुलेखनीय सम्भावनावाला पाठभेद कहते है ।[३] दूसरी ओर डॉ. एस. के बेलवालकरजी ने ''निसर्ग-कन्या शकुन्तला' शीर्षकवाले आलेख में जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे आन्तरिक सम्भावना के ध्यानास्पद उदाहरण हैं (कालिदास-ग्रन्थावली) सं. सीताराम चतुर्वेदी, हिन्दी अनुवाद के साथ १९५३)[४] ॥

१-२. विद्वज्जगत् में अभिज्ञानशाकुन्तल के श्रद्धेय पाठ के रूप में बहुशः देवनागरी वाचना का लघुपाठ ही प्रचार में है (तथा दाक्षिणात्य वाचना का पाठ बहुशः देवनागरी वाचना के साथ साम्य रखता है । अतः उसका स्वतन्त्र मूल्य कम है) और देवनागरी वाचना के पाठ में ही व्यंजना का आधिक्य है तथा बंगाली वाचना के पाठ में स्थूल शृंगारिक दृश्यावली ज्यादा है - ऐसा

३. द्रष्टव्यः- कालिदासः अपनी बात। डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, २००४, पृ. ५५-५६.

४. निसर्ग-कन्या शकुन्तला। डॉ. एस. के. बेलवालकर, कालिदास-ग्रन्थावली, (अनुवादकः सीताराम चतुर्वेदी) के परिशिष्ट में पुनः प्रकाशित आलेख, १९५३.

(म.म.श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि अनेक विद्वानों का मंतव्य है ।[५] दूसरी ओर, देवनागरी वाचना का पाठ (रंगभूमि के अनुरूप बनाने के लिये) संक्षिप्त किया गया है - ऐसा कहने वालों में सर्वप्रथम कोलकाता के प्रॉफेसर डॉ. श्री दिलीपकुमार कांजीलाल (संस्कृत कॉलेज, १९८०) का प्रयास अतीव ध्यानास्पद है । उन्होंने अनेकानेक बहिरंग प्रमाणों से यह प्रस्थापित किया है कि बंगाली वाचना में संचरित हुआ पाठ ही सर्वाधिक श्रद्धेय है एवं प्राचीनतम भी है (दुर्भाग्य से उस ग्रन्थ का प्रचार देश के कोने-कोने में नहीं हुआ है) किन्तु जिन सन्दर्भो की ओर सम्माननीय विद्वान् डॉ. श्री कांजीलाल का भी ध्यान नहीं गया है और जो बंगाली पाठ की मौलिकता के समर्थक बन सकते हैं - ऐसे सन्दर्भो की चर्चा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है ।

२. अभिज्ञानशकुन्तल नाटक के वस्तुग्रथन में रूप-प्रतिरूप (दृश्य-प्रतिदृश्य) की पद्धति दिखाई दे रही है । जैसा कि - प्रथम अङ्क में शिकारी दुष्यन्त का प्रवेश होता है, तो सप्तम अंक में सिंहशावक को सताने वाला सर्वदमन भरत का दृश्य आता है । तृतीय अङ्क में विटपान्तरित दुष्यन्त शकुन्तला की मदनावस्था को सुनता है । (शाकु. ३/८ के बाद) तब बोलता है - श्रुतं श्रोतव्यम् । फिर वही दुष्यन्त पंचमाङ्क में शकुन्तला को ताना मारता सुनाई पडता है कि - श्रोतव्यम् इदानीं संवृत्तम् (शाकु. ५/२२ के उपर) उसी तरह से प्रथमांक में भ्रमरबाधा प्रसंग में दुष्यन्त भ्रमर के प्रतिस्पर्धी के रूप में 'वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर, हतास्त्वं खलु कृती'' (शाकु. १/२०) कहता है। वही दुष्यन्त षष्ठांक में, भ्रमरबाधा प्रसंग का फिर से चित्रफलक में निरूपण करता है । तब भ्रमर को कहता है कि - बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर, प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् (शाकु. ६/२०) और बाद में, वह भ्रमर को उपदेश भी देता है कि तेरी प्रिया मधुकरी तेरे बिना मधुपान नहीं करती है ॥ द्वितीयांक में विदूषक रोता-धोता प्रविष्ट होता है । किन्तु अन्त में युवराज बन कर बिदाई लेता है । उसके सामने षष्ठांक के प्रवेशक में धीवर भी मारा-पीटा जा रहा है। परंतु अन्त में वह भी पारितोषिक प्राप्त करके बाहर

५. बंगीय पाठ में, प्रथम मिलन में ही शकुन्तला अठखेलियाँ करती दिखाई गई है, जो कालिदास की प्रवृत्ति से विरुद्ध है । कालिदासः अपनी बात (भारतीय दृष्टि) डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, २००४, पृ ५४.

निकलता है, इत्यादि । इस तरह से, इस कृति में आदि से लेकर अन्त तक रूप-प्रतिरूप की विधा से नाट्यकार्य प्रवर्तित किया गया है । इस तरह की नाट्य-निरूपण शैली को (उच्चतर समीक्षा का) आधार बना कर सोचा जाय तो, षष्ठांक में (प्रतिरूप में) निरूपित अन्य प्रसंगों का मूल 'रूप' देवनागरी वाचना के तृतीय अंक के पाठ में होना ही चाहिये । लेकिन वे नहीं है । अतः यह शंका दृढ होकर सामने आती है कि मूल बंगाली वाचना वाले बृहत् पाठ का देवनागरी वाचना में संक्षेप किया गया है । इस सन्दर्भ में बंगाली वाचना में तृतीयांक का जो बृहत् पाठ (कम से कम १२वीं शताब्दी से संचरित हो कर) हमारे पासा आया है (Kanjilal, १९८०)[६] उसकी परीक्षा करने के लिए उसका देवनागरी वाचना के षष्ठांक के पाठ की साथ तुलनात्मक अभ्यास करना जरूरी है ।

२-१. षष्ठांक में विरही दुष्यन्त चित्रफलक में शकुन्तला का चित्र बनाता है । वह विदूषक को कहता है कि मैं इस चित्र में शकुन्तला का प्रसाधन भी चित्रित करना चाहता हूँ । विदूषक पूछता है : क्या है वो प्रसाधन ? तब दुष्यन्त कहता है कि - कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् (शाकु. ६/१८) । ''शकुन्तला के कर्ण में एक शिरीष-पुष्प लगाना है, जिसके केसर गण्डस्थल के भाग पर लटकते हो,'' शकुन्तला के ऐसे कोई प्रसाधन का उल्लेख प्रथमांक में तो कहीं पर नहीं है। केवल बंगाली वाचना के (बृहत् पाठ वाले) तृतीय अंक में इसका निर्देश है : शकुन्तला कहती है कि - ण दाव णं पेक्खामि । पवणकम्पिणा कण्णोप्पलरेणुणा कलुसीकिदा मे दिट्ठी । (न तावत् एनम् प्रेक्षे । पवनकम्पिना कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः) यहाँ ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि शकुन्तला अपने कानों में उत्पलादि पुष्पों को प्रसाधन के रूप में लगाती थी । गान्धर्व-विवाह वर्णित करने वाले तृतीयाङ्क में दुष्यन्त ने शकुन्तला के जो प्रसाधन देखे होंगे उसे तो वह कैसे भूलेगा ? अतः यह मानना होगा कि बंगाली वाचना के (तृतीयांक के) बृहत्पाठ में कांट-छांट करके, देवनागरी वाचना (के तृतीयांक) का संक्षिप्त पाठ बनाया गया होगा ।

६. We have already established beyond doubt that the whole of the elaboratedśrigaric version formed and integral part of the drama long before the 12th century. A.D. -Dr. Dileep Kumar Kanjilal, p. 128

२-२. दुष्यन्त ने चित्रफलक में दो सहेलियों के साथ रह रही शकुन्तला का चित्र बना लिया है । तब विदूषक पूछता है कि - भोः अपरं किमत्र लिखितव्यम् । (अब इस में और क्या चित्रित करना है ?) इसके जवाब में दुष्यन्त ने प्रेमाविष्ट होकर एक श्लोक प्रस्तुत किया है : (जो शाकुन्तल की सभी वाचनाओं में सुरक्षित रहा है)

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी, पादास्ताम् अभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः । शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुम् इच्छाम्यधः शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ ६/१७ ॥

अब सोचना यह है कि धीवरप्रसंग के बाद विरही दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण जब पूर्ण रूप से हो गया है तब पूर्वानुभूत (प्रथम एवं तृतीय अंक के) कौन-कौन से प्रसंगो को चुन-चुन कर वह चित्रांकन करना चाहता है । (राघव भट्ट, २००६) ।[७] उपर्युक्त श्लोक में जो-जो कहा गया है उसका ध्यान से परीक्षण करने की आवश्यकता है ।

१. दुष्यन्त कण्वाश्रम के पास बहती हुई मालिनी नदी को याद कर रहा है । जिसकी सिकता में बैठे हुए हंस-मिथुन को वह चित्रित करना चाहता है ।
२. मालिनी की पार्श्वभूमि में स्थित पार्वती के पिता अर्थात् हिमालय को वह चित्रित करना चाहता है, जिसकी निश्रा में हिरणों के यूथ बैठे हो ।
३. जहाँ वृक्ष की शाखाओं पर ऋषि-मुनियों के अथवा शकुन्तला के वल्कल सुखाने के लिये टाँगे गये हों और उस वृक्ष की छाया में, नीचे दो मृग (जिसमें एक मृग हो और दूसरी मृगी हो) खड़े हों- ऐसा वह चित्रित करना चाहता है । यहाँ मालिनी, हंस, हिमालय, हरिण और वल्कल-वस्त्रों का उल्लेख तो (प्रथम अंक के कण्वाश्रम के) पूर्वदृष्ट स्थल का ही स्मरण है ऐसा तुरंत समज में आता है।

७. कार्येति । अनेन पद्येनाश्रमस्थं पूर्वानुभूतं तदानींतनम् उद्दीपनं विभावगणं स्मरति । - अभिज्ञानशाकुन्तलम् (राघव भट्टस्य टीकया सहितम्) सं. नारायण राम आचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली, २००६, (पृ. २१२) ।

किन्तु –

४. यहाँ एक प्रश्न उठता है कि मृग के शृंग पर अपना वाम-नेत्र खुजलाती हुई (कण्डूयमाना) मृगी चित्रित करने की भावना दुष्यन्त के मन में कैसे/कहां से पैदा हुई होगी ।

यहाँ चतुर्थ बिन्दु में जो प्रश्न उपस्थित किया गया है उसका उत्तर देवनागरी वाचना के संक्षिप्त पाठ में मिलता ही नहीं है । उसका उत्तर तो केवल बंगाली वाचना के पाठ को देखने पर ही मिलता है । बंगाली वाचना वाले अभिज्ञानशकुन्तला के तृतीयांक में, जैसा पहले बताया गया है कि शकुन्तला ने अपने कर्ण के उपर उत्पल पुष्प को आरोपित किया था और जो शकुन्तला के मुख पर गण्डभाग में लटक रहा था, (पिशेल, १९२२ (द्वितीयावृत्ति)[८] उसी उत्पलपुष्प का परागरज (परिमल) पवन के कारण शकुन्तला की आँख में जा कर दृष्टि को कलुषित कर देती है – ऐसा (बंगाली वाचना के) तृतीय अंक में कहा गया है । इस प्रसंग के अनुसन्धान में दुष्यन्त ने वहाँ कहा था कि मैं अपने वदन-मारुत से तुम्हारी दृष्टि को स्वच्छ कर देने को तैयार हूँ।[९] पृष्ठांक में दुष्यन्त ने इसी का प्रतिदृश्य खड़ा करते हुए, कण्डूयमाना मृगी को चित्र में निरूपित करने की इच्छा व्यक्त की है । (यहाँ पर दावप्यत्रारण्यकौ – बोल कर दुष्यन्त ने एकदा जो ताना मारा था, उसका प्रायश्चित भी है ।)

दुष्यन्त स्वयं एक आरण्यक मृग बनकर खड़ा रहने को तैयार है – ऐसी सूचना देने के लिये कण्डूयमाना मृगी का चित्र बनाने की चाहत उसके दिल में पैदा हुई है, और यह बात तो सर्वविदित है कि इस नाटक में सर्वत्र हरिण को ही शकुन्तला का प्रतीक बनाकर प्रयुक्त किया गया है । इस तरह देवनागरी वाचना के षष्ठांक के सभी निर्देशों का पूर्व रूप बंगाली वाचना वाले (तृतीयांक के) पाठ में ही उपलब्ध होते है, अतः बंगाली वाचना के बृहत् पाठ को प्रक्षिप्त न कह कर, उसे मौलिक मानने को हम बाध्य हो जाते हैं ।

३. उपर्युक्त सन्दर्भ ऐसे हैं कि जिनमें देवनागरी, दाक्षिणात्य, काश्मीरी,

८. राजा – सुन्दरि, कर्णोत्पलसंनिकर्षाद् ईक्षणसादृश्यमूढोऽस्मि । (इति मुखमारुतेन चक्षुः सेवते) पृ. ४०

९. राजा – (सस्मितम्) यदि मन्यसे अहमेनाम् वदनमारुतेन विशदां करिष्ये। अभिज्ञानशकुन्तलम् । सं. रिचार्ड पिशेल, हार्वर्ड युनि. प्रेस. पृ. ४० ।

मैथिली एवं बंगाली – सभी वाचनाओं में समान रूप मे षष्ठाङ्क में आये हुए श्लोक को आधार बनाकर बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के प्रलम्ब पाठ की मौलिकता का समर्थन किया गया है । अब, देवनागरी, दाक्षिणात्य, काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के अंत भाग में समान रूप से एक श्लोक (देवनागरी का ३/२३) ऐसा दिखाया जाता है कि जिसमें आये हुए एक शब्द का समर्थन केवल बंगाली वाचना का (तृतीयाङ्क का प्रक्षिप्त माना गया बृहत्) पाठ ही कर सकता है । ऐसे आन्तरिक प्रमाण के रूप में सिद्ध होने वाले श्लोक की चर्चा की जा रही है :

३-१. देवनागरी (इत्यादि) वाचना के शाकुन्तल में, तृतीयाङ्क के अंत में, गौतमी के साथ शकुन्तला चली जाती है । तत्पश्चात् दुष्यन्त प्रियापरिभुक्तमुक्त लतावलय में कुछ क्षणों के लिये खड़ा रहता है । वह यहाँ एक श्लोक बोलता है :

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं,
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः ।
हस्ताद् भ्रष्टम् इदं बिसाभरणम् इत्यासज्यमानेक्षणो,
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्याद् अपि ॥

(देवनागरी वाचना के शाकुन्तलम् में – ३/२३) इस में १. शकुन्तला की पुष्पमयी शय्या, २. उसने नलिनीपत्र पर लिखा मन्मथलेख तथा ३. उसके हाथ से निकला हुआ कोई एक बिसाभरण (वलय) – इन तीन चीजों का स्पष्ट निर्देश है । लेकिन, देवनागरी, एवं दाक्षिणात्य वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ में कहीं पर भी शकुन्तला के हाथ में बिसाभरण पहनाने का प्रसंग नहीं आया है । ऐसा उल्लेख तो एकमात्र बंगाली (एवं मैथिली) वाचना में ही प्राप्त होता है । बंगाली वाचना का निम्नोद्धृत अंश पठनीय है :

राजा – सम्प्रति प्रियाशून्ये किमस्मिन् करोमि । (अग्रतोऽवलोक्य) हन्त, व्याहतं गमनम् ।

मणिबन्धनगलितम् इदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः ।
हृदयस्य निगडमिव मे मृणालवलयं स्थितं पुरतः ॥ (३/३१),
(सबहुमानम् आदत्ते)

शकुन्तला – (हस्तं विलोक्य) अम्मो, दोब्बल्लसिढिलदाए परिब्भट्ठं पि मुणालवलअं मए ण परिण्णादं । (अहो, दौर्बल्यशिथिलतया परिभ्रष्टमपि मृणालवलयं मया न परिज्ञातम्)

राजा – (मृणालवलयमुरसि निक्षिप्य) अहो स्पर्शः ।

अनेन **लीलाभरेणन** ते प्रिये विहाय कान्तं भुजमत्र तिष्ठता । जनः समाश्वासित एष दुःखभागचेतनेनापि सता, न तु त्वया ॥ (अभिज्ञानशकुन्तलम् ३/३२), रिचार्ड पिशेल की बंगाली वाचनावाली आवृत्ति, पृ. ३८) ।

दुष्यन्त की यह उक्ति सुनने के बाद शकुन्तला फिर से लतामण्डप में उस वलय को वापस ले लेने के निमित्त प्रवेश करती है । यहाँ से शकुन्तला ने लीलाभरण के रूप में हाथ में कोई वलय / लीलाभरण पहना था, उसका स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है । इस प्रसंग में (शकुन्तला के शब्दो में) जो वलय / (और दुष्यन्त के शब्दों में जो) लीलाभरण का निर्देश है, उसको देवनागरी वाचना के पूर्वोक्त (शाकु. ३/२३) श्लोक की ''हस्ताद् भ्रष्टम् बिसाभरणम्'' पंक्ति में रखी गई है । अन्यथा देवनागरी (इत्यादि) वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ में कहीं पर भी शकुन्तला ने अपने हाथ में कोई लीलाभरण, बिसाभरण, वलय जैसा कुछ पहना हो और उससे सम्बद्ध कोई पूरा दृश्य हो ऐसा निर्देश नहीं है ।

ऐसा प्रसंग बंगाली (और मैथिली) में ही उपलब्ध है । (तथा डॉ. बेलवालकर की सम्पादित काश्मीरी पाठ में भी वह नहीं है ।) अतः बंगाली पाठ की मौलिकता के बारे में अधिक विश्वसनीयता दिखाई देती है ।

बंगाली वाचना के शकुन्तला नाटक में तृतीयाङ्क में कुल मिलाकर ४१ या ४२ श्लोकों का समुदाय है । उसके सामने देवनागरी वाचना और दाक्षिणात्य वाचना वाले शाकुन्तल नाटक के तृतीय अंक में केवल २३ या २४ श्लोक प्राप्त होते हैं । अतः यदि किसी अज्ञात रंगकर्मी ने बंगाली वाचना के बृहत् पाठ में कांट-छांट करके, देवनागरी वाचना का संक्षिप्त पाठ बनाया होगा तो उसका कोई न कोई सबूत देवनागरी वाचना के पाठ में अनजान में भी रहा होगा – ऐसा अनुमान करने को हमारा मन उद्यत होता है । उस अनुमान को

सप्रमाण दृढीभूत करने वाला यह (३/२३) श्लोक (संक्षिप्त की गई) देवनागरी वाचना में सुरक्षित रह गया है, जो हमारे लिए एक अकाट्य आन्तरिक प्रमाण है । सारभूत बात यही है कि १. पुष्पमयी शय्या और २. मन्मथलेख के साथ ३. जो बिसाभरण का निर्देश देवनागरी वाचना के पाठ में है वह कहाँ से आया उसका उत्तर केवल बंगाली (मैथिली एवं काश्मीरी) वाचना में ही है ।

४. बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क में प्रक्षिप्तांश है – ऐसा मानने वाले विद्वानों को यह प्रश्न पूछाना चाहिए कि तृतीयाङ्क के प्रसंगो को वर्णित करने के लिए कवि ने कितना कालावधि निर्दिष्ट किया है ? क्योंकि देवनागरी (एवं दाक्षिणात्य) वाचना वाले तृतीयाङ्क के पाठ में निम्नोक्त तीन वाक्य तो सर्वत्र एक समान रूप से उपलब्ध होते हैं : (१) अंक के आरंभ में प्रविष्ट होते ही, (तब कुसुमशरत्वम्... श्लोक के बाद) दुष्यन्त कहता है कि – (सूर्यम् अवलोक्य) इमाम् उग्रातपवेलां लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु ससखीजना शकुन्तला गमयति । अर्थात् अंक का आरंभ उग्र आतपवाली दुपहर की वेला में हो रहा है । (२) मृगपोतक को उनकी माता के साथ संयोजित करने के बहाने जब दोनों सहेलियाँ चली जाती है और रंगभूमि पर दुष्यन्त – शकुन्तला अकेले रह जाते हैं, तब दुष्यन्त ने शकुन्तला से कहा कि – सुन्दरि, अनिर्वाणो दिवसः । (श्लोक, ३/१८ के नीचे) हे सुन्दरी, अभी दिवस पूरा नहीं हुआ है । (३) लेकिन थोड़ी ही देर में गौतमी वहाँ आ पहुँचती है और कहती है कि – वच्छे, परिणदो दिअहो । एहि, उडजं एव गच्छम्ह । (वत्से, परिणतो दिवसः । एहि, उटजम् एव गच्छामः ।) (श्लोक ३/२२ के उपर)॥ यदि ये तीनों वाक्य सार्वत्रिक रूप से सभी वाचना में है, तो स्पष्ट है कि श्लोक १८ और २२ के बीच में जो अपेक्षित संवाद हो सकते हैं, उसमें कुछ कांट-छांट अवश्य हुई होगी । बंगाली वाचना वाले पाठ में दुष्यन्त और शकुन्तला के आपसी संवादो का जो दृश्य है वही पाठ केवल ''अनिर्वाणो दिवसः ।'' तथा ''वत्से, परिणतो दिवसः ।'' – के बीच के अपेक्षित काल का समाधान कर सकते हैं । इतने सुव्याप्त संवादों के दौरान ही दुपहर से लेकर शाम ढलने तक का काल व्यतीत हुआ होगा ऐसा समर्थन बंगाली पाठ ही करता है । संक्षेप में, महाकवि कालिदास ने स्वयं उपर्युक्त तीन वाक्यों से जो समय-मर्यादा का प्रकट निर्देश किया है उसका तार्किक दृष्टि से औचित्य सिद्ध करना है तो वह बंगाली वाचना के

बृहत् पाठ से ही सिद्ध हो सकता है - यह निःशङ्क है (कांजीलाल-१९८०)[११]॥

४-१. देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना वाले (लघु) पाठ में गान्धर्व-विवाह नामक तृतीयाङ्क का आलेखन संयमित एवं व्यंजनापूर्ण होते हुए भी उसमें एक स्थान ऐसा है जो प्रथम दृष्टि में ही अनुचित लगता है : 'चक्रवाकवधूके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम् । उपस्थिता रजनी ।' ऐसा नेपथ्य से कहा जाता है । इसको सुनते ही शकुन्तला दुष्यन्त को सावधान करती है कि मेरे शरीरवृत्तान्त को जानने के लिये गौतमी आ रही है । तुम वृक्ष के पीछे छिप कर रहो । फिर लिखित पाठ में एक रंगसूचना है :- ''ततः प्रविशति पात्रहस्ता तापसी, सख्यौ च'' । दोनों सखियाँ ''इत इत आर्या गौतमी'' ऐसा बोलती हुई गौतमी को प्रवेश करवाती है । बाद में वह पूछती है कि क्या अब तेरे शरीर का संताप कुछ कम हुआ है । लो, इस शान्तिदर्भोदक से तेरी बाधायें हट जायेगी इत्यादि । फिर तीनों पात्र, (गौतमी, अनसूया और प्रियंवदा) शकुन्तला को लेकर रंगभूमि से निकल जाती है । यहाँ प्रश्न उठता है कि जिन दोनों सखियों ने नायक-नायिका को रतिक्रीडा के अनुकूल विश्रब्ध स्थान में एकान्त देने के लिये, मृगबाल को अपनी माता के साथ संयोजन करवाने - को बहाना बनाकर, अभी-अभी कुछ ही क्षणों पहले लतावलय से बिदा ली थी, क्या वही दोनों सखियाँ आर्या गौतमी को रास्ता दिखाती हुई वहाँ उपस्थित हो जाती हैं । यह तो सर्वथा अनुचित ही है । यद्यपि यह बात अलग है कि किसी भी विद्वान् ने इस अनौचित्य की और अंगुली नहीं उठाई है । लेकिन यह ध्यातव्य जरूर है ।

११. The element of time involved in the whole process has been discussed threadbare by Prof. Belvalkar. The trnasition from अनिवार्णो दिवसः । to वत्से, परिणतो दिवसः । appears in the retrenched edition to have been covered by a few moments only, but literary propriety and relevance demand that a number of events must be brought in to fill up the gap between afternoon and evening. The love elaboration of the Bengali-Mithila-Kashmir recensions may be justified from the standpoint of time-proprity too. A reconstruction of the Abhijnānśakuntalam. Ed. Dileep Kumar Kanjilal, Sanskrit College, 1980. page-127.

अब इसी सन्दर्भ को लेकर बंगाली एवं मैथिली वाचना के पाठ का परीक्षण किया जाय तो वहाँ उपर्युक्त अनौचित्य तनिक सा भी नहीं है । जैसा कि पहले कहा गया है - बंगाली पाठ में ''अनिर्वाणो दिवसः'' से लेकर ''वत्से, परिणतो दिवसः'' - के बीच नायक-नायिका का जो विस्तृत सहचार दिखाया गया है, उसमें जिस क्षण में गौतमी का प्रवेश होता है, उस समय वह अकेली होती है । शान्त्युदक प्रसारित करते हुए वह देखती है कि अस्वस्थ शकुन्तला को देवताओं के सहारे अकेली छोड़कर प्रियंवदा और अनसूया वहाँ से चली गई है । तब शकुन्तला को कहना पड़ता है कि वे दोनों अभी-अभी मालिनी नदी पर गई हैं, (पिशेल, १९२२ (द्वितीयावृत्ति))[१२]। यहाँ दोनों सखियों के साथ में गौतमी उपस्थित नहीं होती है, अर्थात् यहाँ जो पाठ दिखाई देता है, वह पूर्वापर सन्दर्भ में बिल्कुल सुसंगत और औचित्यपूर्ण है । अतः बंगाली लिपि में लिखित अभिज्ञानशकुन्तल की पाण्डुलिपियों में जो बृहत्पाठ संचरित हुआ है, वहीं मौलिक हो सकता है ऐसी सम्भावना दृढतर होकर सामने आती है ।

४-२. अभिज्ञानश(शा)कुन्तल की सभी वाचनाओं के षष्ठाङ्क में विरही दुष्यन्त के मुख से अन्तःपुर में बार-बार गोत्रस्खलन होने से दुष्यन्त शरमिन्दा हो जाता है - ऐसा निर्देश है 'दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचिताम् अन्तःपुरेभ्यो यदा, गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम् ॥' (शाकु. ६/५) अब गान्धर्व-विवाह को वर्णित करने वाले (देवनागरी वाचना के) तृतीयाङ्क मे दुष्यन्त - शकुन्तला का जो मिलन है वह तो कुछ दो-पाँच क्षणों का ही वर्णित किया है । किन्तु बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ में, शकुन्तला ने दुष्यन्त को आर्यपुत्र जैसे शब्द से सम्बोधित किया है और दुष्यन्त ने शकुन्तला को जीवितेश्वरी शब्द से संबोधित किया है । ऐसे परस्पराश्लिष्ट / परस्पराश्रित दाम्पत्य का निरूपण होने के बाद यदि गोत्रस्खलन का उल्लेख किया जाय तो वह ज्यादा प्रतीतिकर सिद्ध हो सकता है ।

४-३. देवनागरी वाचना के षष्ठाङ्क में वर्णित प्रसंगो का बंगाली वाचना

१२. (प्रविश्य पात्रहस्ता गौतमी) जाते, इदम् शान्त्युदकम् । (दृष्ट्वा) अस्वस्था इह देवतासहायिनी तिष्ठसि ॥ शकुन्तला-इदानीमेव प्रियंवदानसूये मालिनीम् अवतीर्णे । रिचार्ड पिशेल की आवृत्ति, (पृ. ४१) ।

के तृतीयाङ्क के पाठ में प्रदर्शित प्रसंगो के साथ एक तरह का आंतर सम्बन्ध दिखाई देता है। इसी बात का समर्थन करने वाला षष्ठाङ्क का एक अन्य सन्दर्भ भी यहाँ उल्लेखनीय है : देवनागरी (एवं दाक्षिणात्य) वाचनाओं में, विरही दुष्यन्त के सामने पत्रारूढ़ पौरकार्य प्रस्तुत किया जाता है। जिसमें एक समुद्रव्यवहारी सार्थवाह धनमित्र अनपत्य मर गया है – ऐसी बात कही जाती है। यहाँ पर दुष्यन्त की उक्ति स्मरणीय है : 'अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इति एतद् अमात्येन लिखितम्। कष्टं खल्वनपत्यता। बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यताम् यदि काचिद् आपन्नसत्त्वा तस्य भार्यासु स्यात्। महाकवि कालिदास को यहाँ दुष्यन्त को शकुन्तला की आपन्नसत्त्वावस्था का स्मरण दिला कर पश्चात्ताप में डालना तो अभिप्रेत होगा ही, लेकिन उनको अपनी अनपत्यता का भी स्मरण देना अभीष्ट होगा, क्योंकि इस नाटक के आरंभ में दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होगी, ऐसे आशीर्वचन दिये गये हैं और वहीं है इस नाटक का अंतिम लक्ष्य (द्विवेदी, कालिदास ग्रन्थावली (भाग-२))[१३] ॥

इसीलिये षष्ठाङ्क में, धनमित्र के प्रसंग से राजा दुष्यन्त की अनपत्यता का स्मरण ध्वनित करके कवि ने इस नाटक के चरम लक्ष्य को प्रेक्षकों के सामने रखा है। यहाँ पर एक ध्यानास्पद बिन्दु यह है कि – नाटक के गन्तव्य को महाकवि ने प्रत्येक अंक में किसी न किसी स्वरूप में निर्दिष्ट भी किया है। जैसे कि : प्रथमाङ्क में 'सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रम् अवाप्नुहि' शब्दों से वैखानस के आशीर्वचन दिये जाते हैं और सप्तमाङ्क में चक्रवर्ती राजा के लक्षणों से युक्त सर्वदमन भरत की प्राप्ति दिखाई गई है। तृतीयाङ्क में नायक-नायिका का गान्धर्व-विवाह होता है और चतुर्थाङ्क में कण्वमुनि कहते हैं कि दुष्यन्तपुत्र को राज्य की धुरा सोंप कर इस आश्रय में फिर से वापस आना। पंचमाङ्क के अंत में, शकुन्तला-प्रत्याख्यान प्रसंग में राजपुरोहित कहता है कि – त्वं सुधिभिरुद्दिष्टः प्रथममेव चक्रवर्तिनं पुत्रम् जनयिष्यति इति। (शाकु. ५/२९ के

१३. इदमेव प्रयोजनमेतस्य नाटकोत्तमस्येत्यभिनवगुप्तो नाट्यशास्त्रविवृता-वभिनवभारत्यां १९-२२ कारिकायां घनश्यामश्च। अत एव सार्थक्यं षष्ठसप्तमांकयोः ॥ – कालिदास – ग्रन्थावली (द्वितीयो भागः) अनु. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन, २००८. पृ. ३१८.

बाद) और षष्ठाङ्क के सार्थवाह धनमित्र के पूर्वोक्त प्रसंग के द्वारा दुष्यन्त की अनपत्यता व्यञ्जित की जाती है। किन्तु देवनागरी वाचना और दाक्षिणात्य वाचना वाले शाकुन्तल के द्वितीयाङ्क में कहीं पर भी पुत्रप्राप्ति रूप मुख्य नाट्यकार्य का किसी भी तरह से निर्देश नहीं है। दुष्यन्त की रानियों ने जो उपवास किये थे, उसका कोई उद्देश्य वहाँ कहा नहीं गया है। यहाँ पर देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार 'प्रवृत्तपारण' या 'निर्वृत्तपारण' उपवास का ही नाम-निर्देश है।[१४] केवल बंगाली, मैथिली और काश्मीरी वाचना के शकुन्तल में ही पुत्रपिण्डपालन, पुत्रपिण्डपर्युपासन एवं पुत्रपिण्डाराधन जैसे पाठभेद वाले शब्दों से पुत्र-प्राप्ति रूप लक्ष्य का निर्देश मिलता है। इन पाठभेदों का तुलनात्मक अभ्यास करने से भी यह सिद्ध होगा कि देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना का पाठ संक्षिप्त करने के साथ-साथ परिवर्तित भी किया गया है। इसीलिये बंगाली वाचना के पुत्रपिण्डपालन वाले पाठ में नाटक के चरम लक्ष्य का निर्देश सुरक्षित है, परन्तु वह निर्देश देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना से गायब हो गया है। इस तरह बंगाली वाचना के पाठ की मौलिकता की सम्भावना उपर्युक्त एक छोटे से पाठभेद से भी दृढतर सिद्ध होती है।

५. संस्कृत नाट्यसाहित्य में भास, कालिदास, शूद्रक, कुन्दमालाकारादि अनेक कवियों ने प्रेमोद्भव के एक बीजभूत कारण के रूप में अनुक्रोश नामक गुण को पुरस्कृत किया है। यद्यपि संस्कृत – कोशकारों ने इस शब्द का दया, अनुकंपा, घृणा, सहानुभूति जैसे अर्थों का परिगणन किया है, किन्तु उसका सही अर्थ तो 'परदुःखदुःखिता ही होता है।[१५] दूसरों के दुःख को देख कर, उस दुःखी जन की सहायता करने को जो तुरंत उद्यत होता है तो वह व्यक्ति सानुक्रोश है – ऐसा कहा जाता है। ऐसी सानुक्रोशता को देखकर कुसुम-सुकुमारचित्तवाली नारियों के हृदय में प्रेम की भावना सद्यः प्रकट होती है।

१४. राघव भट्ट की टीका में – देव्याज्ञापयति – आगामिनि – चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तथा काटयवेम की टीका में – देव्याज्ञापयति – आगामिनि चतुर्थदिवसे निर्वृतपारणो मे उपवासो भविष्यति। ऐसे पाठान्तरों को स्वीकार किया गया है ॥

१५. एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे, सौहार्दाद् वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोश-बुद्ध्या ॥– मेघदूत –५५

अतः महाकवि कालिदास जब अपनी इस नाट्य कृति में अनुक्रोश शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका भी परीक्षण करके देवनागरी शाकुन्तल के पाठ की आलोचना की जा सकती है ।

५.१ देवनागरी वाचना वाले अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्तमाङ्क में दुष्यन्त शकुन्तला के पाँव पड़ता है (और ७/२४ श्लोक बोलता है), यहाँ शकुन्तला कहती है कि – उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखम् आसीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः । यहाँ शकुन्तला ने कहा है कि दुष्यन्त एक सानुक्रोश व्यक्ति है, लेकिन मेरे सुचरित को रोकने वाला गतजन्म का कोई कर्म उस समय फल देने के लिये तत्पर हो गया था, जिसके कारण आर्यपुत्र सानुक्रोश होते हुए भी मेरे प्रति विरस हो गये थे । यहाँ दुष्यन्त के लिए प्रयुक्त सानुक्रोश शब्द, जो समग्र संस्कृत साहित्य में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्द है[१६], उसका औचित्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? वह परीक्षणीय है ।

शकुन्तला की उपर्युक्त उक्ति को सुन कर यह प्रश्न किया जा सकता है कि ''दुष्यन्त एक सानुक्रोश व्यक्ति है'' ऐसा अनुभव शकुन्तला को कब हुआ होगा ? दुष्यन्त और शकुन्तला का सहचार तो केवल प्रथम एवं तृतीय – ये दो अंको में ही वर्णित हुआ है । १. प्रथमाङ्क के भ्रमरबाधा प्रसंग में दुष्यन्त शकुन्तला को भ्रमर के त्रास से छुड़ाने के लिये जब सहसा प्रस्तुत होता है एवं वृक्षसेचन के लिये दो घट पानी के ऋण में से मुक्त करवाने के लिये जब दुष्यन्त ने अपनी राजमुद्रा निकाल कर दी थी । २. देवनागरी वाचना के तृतीयाङ्क में नायक-नायिका का सहचार / सहवास परिसीमित क्षणों में पूरा होता है । अतः इस अल्पकालिक मिलन में शकुन्तला को किसी बाधा से छुड़ाने का मौका दुष्यन्त को मिला ही नहीं है । इसलिये सप्तमाङ्क में जब दुष्यन्त के लिये सानुक्रोश शब्द का प्रयोग होता है, तब वह समुचित या यथार्थ नहीं लगता है। किन्तु बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के पाठ को यदि मौलिक मानते है,

१६. जो करुणा होती है वह ईश्वर की होती है, और जो सहानुभूति होती है वह साधुपुरुष की होती है । इस करुणा और सहानुभूति के बीच में अनुक्रोश आता है तथा इस अनुक्रोशत्व के कारण प्रेमोद्भव होता है – ऐसा संस्कृत कवियों ने बार-बार दिखाया है ।

तो वहाँ एक निश्चित प्रसंग है जिसमें दुष्यन्त ने शकुन्तला को प्रत्यक्ष रूप से बाधामुक्त की है । शकुन्तला ने अपने कानों में जो उत्पलपुष्प आरोपित किया था, उसकी रेणु से नेत्र जब कलुषित होता है तब दुष्यन्त ने अपने वदनमारुत से उसका प्रमार्जन किया था । और शकुन्तला ने भी दुष्यन्त को अनुकम्पा प्रदर्शित करने वाले शब्दे कहे है[१७]। इस तरह बंगाली वाचना के पाठ को यदि हम ध्यान में लेकर सप्तमाङ्क के सानुक्रोश शब्द के प्रयोग का औचित्य सोचते हैं तो वह सुसंगत लगता है । परंतु देवनागरी वाचना के संक्षिप्त पाठ के सन्दर्भ में इस महत्त्वपूर्ण शब्द के प्रयोग का औचित्य जमता नहीं है ।

उपसंहार

पाठालोचना में पाण्डुलिपियों का साक्ष्य ही इदं प्रथमतया महत्त्व रखता है । उपलब्ध पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठों का तुलनात्मक अभ्यास करके, वंशवृक्ष – पद्धति से विभिन्न वाचनाओं में से कौन सी वाचना प्राचीन या प्राचीनतर है – उसका निर्णय किया जाता है । तदन्तर, कौन से पाठ को बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों का समर्थन मिलता है अथवा प्राप्त की गई अनेकानेक पाण्डुलिपियों में से जो प्राचीनतम पाण्डुलिपि होगी उनमें कौन सा पाठ सुरक्षित रहा है – ऐसा आधुनिक पाठसम्पादक सोचते हैं । इस दृष्टिकोण से जो समीक्षित पाठसम्पादन किया जाता है, उसमें वस्तुनिष्ठता जरूर होती है । क्योंकि यहाँ पर जैसा भी निर्णय किया जाता है, वह उपलब्ध हुई पाण्डुलिपियों (की संख्या या प्राचीनता) पर निर्भर रहता है । परंतु अनेकविध पाठान्तरों में से कौन सा पाठान्तर अधिक काव्यत्व पूर्ण हो सकता है ? उसको पसंद करके अर्थात् गुणोपसंहार न्याय (Eclectic principles) से जो समीक्षित पाठसम्पादन तैयार किया जाता है, उसमें आत्मलक्षिता प्रविष्ट होती ही है । परिणामस्वरूप ऐसा समीक्षित पाठसम्पादन सर्वसम्मत नहीं बन सकता है । लेकिन जिस पाठसम्पादन को वस्तुनिष्ठ कहा गया है उसमें पाठालोचन के तीन सोपान ही कार्यान्वित किये गये होते हैं । अतः वहाँ चतुर्थ सोपान पर **उच्चतर पाठसमीक्षा** का कार्य अवशिष्ट रहता है । यहाँ वंशवृक्ष पद्धति से जो भी वाचना को प्राचीनतर या

१७. शकुन्तला-न तावद् एनम् प्रेक्षे । पवनोत्कम्पिना कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः ॥ राजा-यदि मन्यसे अहमेनां वदनमारुतेन विशदां करिष्ये ॥ शकुन्तला -ततो अनुकम्पिता भवेयम् ॥ (रिचार्ड पिशेल आवृत्तिः, पृ० ४०)

अधिक श्रद्धेय मानकर, उसके आधार पर पाठसम्पादन किया जाता है, उसका पुनःपरीक्षण किया जाता है । ऐसे पुनःपरीक्षण में बाह्य-साक्ष्य एवं कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना को सर्वोच्च मानदण्ड के रूप में स्वीकारा जाता है। प्रस्तुत आलेख में, बंगाली वाचना के प्रक्षिप्त माने गये बृहत् पाठ को कृति के ही अन्तःसाक्ष्य से कैसे समर्थन मिल रहा है, उसकी चर्चा की गई है। देवनागरी वाचना के तृतीयाङ्क एवं षष्ठाङ्क के ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जिनका सम्बन्ध बंगाली वाचना के तृतीयाङ्क के बृहत् पाठ के साथ ही बैठ सकता है - ऐसा यहाँ प्रस्थापित किया गया है । आशा है कि सहृदय पाठक इस विषय पर पुनः पुनः सोच कर अपनी सम्मति या विप्रतिपत्ति प्रकट करेंगे ।[१८]

* * *

विशेष ज्ञातव्यः - प्रस्तुत लेख का प्रकाशन २०१० में हुआ था । २०१५-२०१८ के वर्षों के दौरान मैंने पाँच शारदा पाण्डुलिपियों के आधार पर, इस नाटक की काश्मीरी वाचना का प्रथम सही समीक्षित पाठसम्पादन किया है। (जो राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली से प्रकाशित है।) इस नवीन सम्पादन के बाद, ऐसा सिद्ध हुआ है कि काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम एवं सर्वाधिक श्रद्धेय है। दूसरे क्रम में मैथिली एवं तीसरे क्रम में बंगाली वाचना का पाठ आविष्कृत किया गया है ॥ विशेष जिज्ञासु को हमारे द्वारा सम्पादित काश्मीरी वाचना का पाठ देखने का अनुरोध है ॥

---

१८. प्रोफे. राधावल्लभ त्रिपाठी ने ''नाट्यम्-७६'' (२०१४) के संपादकीय लेख में लिखा था कि काश्मीरी वाचना से आरंभ कर के देवनागरी व दाक्षिणात्य वाचना तक का प्रोफे. भट्ट का कालक्रम-निर्धारण विचार, सहमति-असहमति तथा विवाद का विषय हो सकता है, दुर्भाग्यवश उनकी स्थापनाओं पर विद्वत्समाज ने पर्याप्त गंभीरता से विचार नहीं किया है ॥

उपक्रम-15

शाकुन्तल की प्राकृतविवृति एवं प्राकृतच्छायायें

भूमिका

भरत मुनि से पहले, अर्थात् ईसा से भी पूर्वकाल में संस्कृत नाट्यसाहित्य का सर्जन होता था । भरत मुनि ने जो वैविध्यपूर्ण रूपकों का लक्षणविधान किया है, उससे यह सुनिश्चित रूप से सिद्ध होता है कि भरत मुनि के सामने तरह-तरह की नाट्यकृतियाँ मौजूद थी और जैसे भरत मुनि ने कहा है कि नाट्यवेद की रचना 'सार्ववर्णिक'[२] हेतु से की गई है, इसलिये नाटकों में वाचिक पाठ्यांश के रूप में जो संवाद लिखे जाते थे वे संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं में होते थे। भरत मुनि ने कहा है कि दशविध संस्कृत रूपको में समाज के सभी तरह के लोग होंगे[३] एवं सभी तरह की भाषाओं का साथ-साथ में विनियोग किया जायेगा । भरत मुनि ने संस्कृत नाटकों में भाषा-विधान कैसे किया जाय उसका विस्तृत निरूपण नाट्यशास्त्र के १८ वें अध्याय[४] में किया है । संस्कृत पाठ्यांश के साथ जो प्राकृत पाठ्यांश रखना है उसमें संस्कृत के तत्सम, तद्भव एवं देशी शब्दों के निवेश करने की भी

---

१. National Seminar on the Prakrit Manuscripts, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 16-19 February, 2012

२. तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् । (नाट्यशास्त्रम् १-१२)

३. लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् । उत्तमाधम -मध्यमानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥ (नाट्यशास्त्रम् १-१०९)

४. भरत मुनि-प्रणीतं नाट्यशास्त्रम् । सं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएन्टालिया, वाराणसी. १९८०

सूचना है। वहाँ संस्कृतभाषा की स्वर एवं व्यञ्जन ध्वनियाँ, तथा संयुक्ताक्षरों प्राकृत में कैसे परिवर्तित होते हैं (ना.शा. १८-९ से २०) उसकी सूचना है। पात्रसृष्टि में किस पात्र के लिये कौन सी भाषा का विनियोग करना है (ना. शा. १८-३१ से ३३) वह भी लिखा है । तथा प्राचीन भारत वर्ष के विभिन्न प्रदेशों के अनुसार ७ भाषाओं का (ना.शा. १८-३४ से ३७) विकल्प भी प्रदर्शित किया है (भरत मुनि, १९८०) । इस सन्दर्भ में, अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में जो प्राकृत भाषा का विनियोग हुआ है, उसका पाठ-सम्पादन कैसे किया जाय ? तथा अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की जो (अप्रकाशित पाण्डुलिपिओं के रूप में) प्राकृतविवृतियाँ एवं प्राकृतच्छायायें प्राप्त हो रही हैं, वह उक्त कार्य में किस तरह से उपयोगी हो सकती हैं ? यहाँ उसका अभ्यास प्रस्तुत करने का उपक्रम रखा है ।

१. संस्कृत नाटकों की प्राकृत पाण्डुलिपियाँ - देश-विदेश के संस्कृत ग्रंथभंडारो में जहाँ-जहाँ पर संस्कृत नाटकों की पाण्डुलिपियाँ संगृहीत की गई है उसका निदर्शात्मक अभ्यास करने से भी ज्ञात होता है कि (१) कुछ पाण्डुलिपिओं में संस्कृत नाटकों का केवल मूल पाठ ही है । जिसमें नाट्यकृति के संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के संवादों को यथावत् स्वरूप में लिखे गये हैं। उदाहरण के रूप में- ''वाडी पार्श्वनाथ का जैन ज्ञानभण्डार'', पाटण (गुजरात) की अभिज्ञानशाकुन्तल की पाण्डुलिपि (क्रमांक-१६९/६६५४) द्रष्टव्य है । तथा श्री कैलाससागर सूरि ज्ञानमंदिर, कोबा (गांधीनगर) से प्राप्त की गई पाण्डुलिपि (क्रमांक-५४७०००१) भी द्रष्टव्य है । (२) कतिपय संस्कृत नाटकों की पाण्डुलिपियों के मध्य भाग में नाटक का मूल पाठ लिखने के उपरांत चारों ओर हाँशिया (मार्जिन) के भाग में यथेच्छ रूप से प्राकृत संवादों का संस्कृत छायानुवाद भी लिखा जाता है । उदाहरण के रूप में - पाटण के ''हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थभण्डार''की अभिज्ञानशाकुन्तल की पाण्डुलिपि (क्रमांक - ३४९/१६६३०) द्रष्टव्य है । (३) कुछ पाण्डुलिपियाँ ऐसी हैं कि जिनमें नाटक के मूल पाठ के साथ में कोई संस्कृत टीका भी लिखी जाती है और उस टीका के अन्तर्गत प्राकृतसंवादों का संस्कृत भाषा में छायानुवाद दिया जाता है । जिसके कारण ऐसी पाण्डुलिपि ''पञ्चपाठी'' प्रकार की बन जाती है। क्योंकि पाण्डुलिपि के मध्य भाग में नाटक का मूल पाठ लिखने के बाद, चारों दिशाओं

में जो हाँशिया (मार्जिन) का भाग खाली रहता है उसमें चौपास टीका लिखी जाती है । उदाहरण के रूप में - भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्युट, पूणें में संगृहीत ''शाकुन्तल, टिप्पण के साथ'' शीर्षकवाली पाण्डुलिपि (क्रमांक ४०९ (१८८४-८७) द्रष्टव्य है ।[५] (४) कुछ ऐसी भी पाण्डुलिपियाँ मिलती है कि जिनमें संस्कृत नाटक का अखण्ड / साद्यन्त पाठ नहीं होता है । परंतु संस्कृतनाटक में बीच-बीच में जो प्राकृत भाषामय संवाद होते हैं, उनका चयन करके उन वाक्यों का ही (केवल) संस्कृतच्छायानुवाद लिखा होता है । ऐसी पाण्डुलिपियों को 'प्राकृतविवृति' या 'प्राकृतच्छाया' ऐसा विशेष नाम दिया जाता है । हम इन्हीं पाण्डुलिपिओं को यथार्थ रूप में ''संस्कृत नाटकों की प्राकृत-पाण्डुलिपियाँ कह सकते हैं । (५) संस्कृत नाटकों की केवल टीका प्रस्तुत करनेवाली कुछ पाण्डुलिपियाँ ऐसी हैं कि जिनमें नाटक का मूल पाठ नहीं होता है, परंतु नाटक की टीका ही लिखी होती है और ऐसी टीका में संस्कृत संवाद एवं श्लोकादि की व्याख्या करने के साथ-साथ, टीकाकार प्रत्येक प्राकृत संवाद का संस्कृत छायानुवाद भी देते हैं और आवश्यकतानुसार कदाचित् प्राकृतव्याकरण के सूत्र को उद्धृत करते हुए ध्वनिपरिवर्तनो की चर्चा भी करते रहते हैं । उदाहरण के रूप में देवनागरी वाचनावाले शाकुन्तल पर राघव भट्ट (राघव भट्ट, २००६) ने जो टीका लिखी है उसमें अनेक स्थानों पर, प्रासंगिक रूप से प्राकृत उक्तियों के संस्कृतछायानुवाद की चर्चा मिल रही है ।[६] षष्ठांक के आरंभ में धीवर-प्रसंग है, उसमें प्रयुक्त मागधी भाषा के लिये राघव भट्ट लिखते हैं कि - लाअकीए राजकीयं, अंगुलीएअ अङ्गुलीयकं, शमाशादिए समासादितम् । मागधी राक्षसादेः स्यात् इति भरतोक्तेः । आदिग्रहणेन शकारधीवरादीनाम् अपि ग्रहणादत्रैषां मागध्युक्तिः । तत्र रसोर्लशौ इति सूत्रेण लो, रेफस्य दन्त्यस्य तालव्यः ॥ (पृ. १८२)

---

५. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts, Vol. 14 (31), Published by BORI, Pune.

६. नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञसमभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्व नाटकं प्रयोगेधिक्रियताम् इति । णं नन्वर्थे इति सौरसेन्याम् । अत्र क्वचित् पढुमं इति पाठः सांप्रदायिकः । यतः प्रथमशब्दस्य पढम् पढुम, पुढम इति क्षय आदेशाः । अहिण्णाणा-साउंदलं इत्यत्र साउंतलं इति पाठे पूर्ववद् दत्वाभावः । ....ख-घ-थ-भाम् इति हः । म्र-ज्ञो-र्णः इति ज्ञस्य णः । नो णः इति णत्वम् ॥ (राघव भट्टः, पृ. १३)

संस्कृत नाटकों की इन पाँच प्रकार की पाण्डुलिपिओं में से जो चतुर्थ क्रमांक पर ''प्राकृतविवृत्ति'' का निर्देश है उनको ही हम यथार्थ रूप में ''संस्कृत नाटकों की प्राकृत पाण्डुलिपियाँ'' कह सकते हैं । किन्तु तात्त्विक रूप से तो प्रथम क्रमांक की पाण्डुलिपियों को छोड़ के, अवशिष्ट चारों प्रकार की पाण्डुलिपियों को भी संस्कृत नाटकों की प्राकृत-पाण्डुलिपियाँ कहना होगा। क्योंकि इन सब में किसी न किसी रूप में प्राकृत उक्तियों का संस्कृत-छायानुवाद तो दिया ही गया है । अलबत्ता, यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्राकृतविवृत्ति या प्राकृतच्छाया को प्रस्तुत करनेवाली इन पाण्डुलिपियों के समुदाय में से कोई भी पाण्डुलिपि ऐसी नहीं मिलती है जिसमें दोनों भाषाओं के संवादों को, अर्थात् प्राकृतसंवाद एवं उनका संस्कृत-छायानुवाद साथ-साथ में दिया हो । जो भी पाण्डुलिपि ''प्राकृतविवृति'' या ''प्राकृतछाया'' के नाम से प्राप्त है उसमें प्राकृत संवादों को दिये बिना, केवल उनके संस्कृतछायानुवाद ही दिया गया है ।

२. कतिपय प्राकृतविवृत्तियाँ की जानकारी

देश एवं विदेश के पाण्डुलिपि ग्रन्थभंडारो से प्रकाशित हुए संस्कृत (एवं प्राकृत) हस्तलिखित पाण्डुलिपियों की कुछ विवरणात्मक सूचियाँ (केटलोगों), तथा न्यू केटलोगस केटलोगरम्, मद्रास (वो. १ से १३) (V. Raghavan, 1954) की छानबीन करके संस्कृत नाटकों की प्राकृत पाण्डुलिपियों की जो जानकारी एकत्र की गई है, उनका प्रथम सोपान पर एक सूचना-पट्ट दिया जा रहा है :

क्रम	**पाण्डुलिपि का शीर्षक** (एवं प्रणेता)	**जानकारी का स्रोत**	**संग्रहस्थान एवं शहर**	**क्रमांक**	**लिपि पूर्ण अपूर्ण**
१.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ही	महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशशोध केन्द्र, महरानगढ, जोधपुर	९२९	दे.ना. पूर्ण
२.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ही	महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाशशोध केन्द्र, महरानगढ, जोधपुर	११९४८	दे.ना., पूर्ण

३.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	Descriptive Catalouge of Sanskrit Mss. B.O.R.I. Vol. 14	भाण्डारकर, ओरिएन्टल रिसर्च इनस्टी. शिवाजी नगर पूणे, ४११००४	(५२३/ १८८७ -९१)	दे.ना., पूर्ण
४.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	Descriptive Catalouge of Sanskrit Mss. Adyar Library, Vol. 5, 1995, Chennai	Adyar Library, Madras	१२९७	दे.ना., पूर्ण
५.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	Descriptive Catalouge of Sanskrit Mss. Adyar Library, Vol. 5, 1951	तुकोजी सरफोजी सरस्वती महल, थांजुवरम्	–	दे.ना., पूर्ण
६.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	Descriptive Catalouge of Sanskrit Mss. Vol. 2, 1952	युनिवर्सिटी ओफ बोम्बे, मुंबई	६६०	दे.ना., पूर्ण
७.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	Alphabetical List of Sanskrit Mss. O.R.I. Vol. 2, 1999 Baroda	वडोदरा	१२४९४	दे.ना., पूर्ण
८.	शाकुन्तल प्राकृतविवृत्ति रामेश्वरपुत्र नारायण भट्ट	A Censul of Indic the USA & Canada, New Haven, 1938	Ed. H.I. Poleman American Oriental Society	२२४६ १०८९	दे.ना., एच.
९.	अभिज्ञान शाकुन्तल प्राकृतछाया (अज्ञात-कर्तृक)	Descriptive Catalouge of Sanskit Mss. B.O.R.I. Vol. 14 1937	B.O.R.I. Pune	७९/ १९०७-१७	दे.ना., पूर्ण

१०.	अभिज्ञान शाकुन्तल प्राकृत-टीका (अज्ञात-कर्तृक)	Descriptive Catalouge of Sanskit Mss. Adyar Library Vol.5, 1951	Adyar Library Madras	१२९६	दे.ना., पूर्ण
११.	अभिज्ञान शाकुन्तल टिप्पण (मूल रचयिता अज्ञात)	सिन्दिया प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान उज्जैन, Vol-1	उज्जैन लेखक-बाल्हजिद् भट्ट	११८९	दे.ना., पूर्ण
१२.	शाकुन्तलनाटक प्राकृतछाया (रचयिता-रामेशपुत्र)	Descriptive Catalouge of Sansrit Mss. B.O.R.I, Vol-14, 1937	B.O.R.I. Pune	वो. १४ (४७२/ १८८७-६ ९१)	दे.ना., पूर्ण अंक
१३.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतानुवादः	सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द सं.वि.वि.	वाराणसी	४२४१८	अपूर्ण
१४.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविकृतिः	सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द सं.वि.वि.	वाराणसी	४३१६५	
१५.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतविवरणम्	सरस्वती भवन, संपूर्णानन्द सं.वि.वि.	वाराणसी	४३१६५	
१६.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतच्छाया	New Catalogues Catalogram, Vo.1 Madras, 1967	मीमांसा विद्यालय (एस.पी. कोलेज, पूणे)	४९६	
१७.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतच्छाया	New Catalogues Catalogram, Vo.1, 1967	हरिद्विज पुस्तकालय, नत्थूसर गेट, बीकानेर एवं अभयजैन ग्रन्थालय, राँगडी चौक, बीकानेर	३१३४	
१८.	अभिज्ञानशाकुन्तल प्राकृतच्छाया	Alphabetical List of Sanskrit Mss. Vol. 2 1999, ORI Baroda	ORI, Baroda	९२१९	दे.ना. पूर्ण

१९.	(अभिज्ञान)शाकुन्तल प्राकृतज्ञान	New Catalouges Catalogram, Vol.1. Madras	कवीन्द्रचार्य-१९९९	१९९९
२०.	उत्तररामचरित-प्राकृतसंस्कृतीकरण (प्राकृतछवि)	New Catalouges Catalogram, Vol. 2 P. 308, Madras	मीमांसा विद्यालय, पूणे (एस.पी.कोलेज, पूणे)	४७३
२१.	उत्तररामचरित-प्राकृतसंस्कृतीकरण (प्राकृतछवि)	New Catalouges Catalogram, Vol.2 P. 308, Madras	A Catalouge of Sanskrit Mss. in the Punjab Univ. Library, Lahore	पृ. २८०
२२.	रत्नावलीच्छाया	Alphabetical List of Sanskrit Mss. Vol. 2 1999, O.R.I.,Baroda	O.R.I. Baroda	१२६४६
२३.	रत्नावलीच्छाया	Alphabetical List of Sanskrit Mss. Vol. 2 1999, O.R.I., Baroda	O.R.I. Baroda	१२६४६
२४.	रत्नावलीच्छाया	Alphabetical List of Sanskrit Mss. Vol. 2 1999, O.R.I., Baroda	O.R.I. Baroda	५९
२५.	वेणीसंहारस्यच्छाया (विद्वन मुकुटमाणिक्य, रामेशपुत्र)	Catalouge of Sanskrit Mss. in the British Museum, Vol.2 1999	British Museum, London	२७६

२६.	धनंजयविजयव्यायोगस्य प्राकृतविवरणम्	A Census of Indic MSS in the USA & Canada, New Haven, 1938 1999	Ed. H.I. Poleman America Oriental Society	२२३६ एच. ११८७
२७.	प्रबोधचन्द्रोदयम् प्राकृतस्य संस्कृतम्	A Census of Indic MSS in the USA & Canada, New Haven, 1938 1999	Ed. H.I. Poleman America Oriental Society	२२५४ एच. १३३८

यहाँ जो सूचनाएँ प्रस्तुत की गई है वे केवल एक विहंगावलोकन है, सर्वेक्षण नहीं है । तथापि इससे इतना तो निश्चित ज्ञात होता है कि मध्यकालीन भारत में (१६-१८ शती के बीच) संस्कृत नाटकों में आये हुए प्राकृत संवादों को ठीक तरह से समझने के लिये विशेष प्रकार की पाण्डुलिपियों का निर्माण किया गया था, जिसमें संस्कृत नाटकों में आये हुए प्राकृत संवादों का स्वतंत्र रूप में संस्कृत-छायानुवाद देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है । जिसके फलस्वरूप अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तरामचरित, प्रबोधचन्द्रोदय, धनञ्जयविजयव्यायोग एवं वेणीसंहार जैसे अनेक नाटकों की प्राकृतछायायें बनाई गई थी[७] ॥

यह भी उल्लेखनीय है कि देश-विदेश के विभिन्न ग्रन्थभण्डारो के अलग-अलग ''डिस्क्रिप्टीव केटलोग्स ऑफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स''[८] में, एवं ''न्यू केटलोगस केटलोगरम्, मद्रास'' में अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की प्राकृतविवृतियाँ[९] एवं प्राकृतछायायें जितनी अधिक संख्या में दिखाई देती हैं उतनी अन्य नाटकों की नहीं दिखाई देती हैं । अतः शाकुन्तल के प्राकृत -

७. परन्तु मृच्छकटिक और प्राकृतबहुल प्रकरण-रूपक ही एक भी प्राकृतविवृति देखने में नहीं आती है ।

८. अर्थात् संस्कृत पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक सूचियाँ ।

९. ये सभी प्राकृतविवृतियाँ देवनागरी में लिखी है । किन्तु ऐसी प्रवृत्ति दक्षिणभारत की ग्रन्थादि लिपि में लिखी गई पाण्डुलिपियाँ में है या नहीं ? यह ज्ञातव्य है ।

संवादों में आये हुए पाठभेदों का अभ्यास करने के लिए इन प्राकृतविवृतियाँ तथा प्राकृतच्छाओं से कैसे सहायता मिल सकती हैं ? वह विचारणीय है। तथा यह भी परीक्षणीय है कि शाकुन्तल की पञ्चविध वाचनाओं में से कौन सी वाचना के साथ इन प्राकृतविवृतियाँ एवं प्राकृतच्छायाओं का सम्बन्ध है? ॥

३. अभिज्ञानशाकुन्तल की प्राकृत-विवृतिओं का प्राथमिक परिचय

अभिज्ञानशाकुन्तल की उपर्युक्त उन्नीस प्राकृतविवृतियाँ / प्राकृतछायावाली पाण्डुलिपियों में से हमने जिन पाँच-सात पाण्डुलिपिओं का साक्षात् परिचय प्राप्त किया है वे इस प्रकार हैं : (क) भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इनस्टीट्यूट, पूणें के संग्रह में जो (१८८७-९१ क्रमांक की) पाण्डुलिपि है, जिसका शीर्षक ''शाकुन्तलप्राकृतविवृति'' ८ पत्र है और यह देवनागरी लिपि में लिखित है। इसमें शाकुन्तल नाटक का मूल पाठ नहीं है। किन्तु इस नाटक में आनेवाली प्राकृत उक्तियों का केवल संस्कृतछायानुवाद ही रखा गया है। यानी यहाँ पाण्डुलिपि का जो ''शाकुन्तल-प्राकृतविवृति' ऐसा शीर्षक है, वह यथार्थ ही है । यह पाण्डुलिपि अपूर्ण है, चतुर्थ अंक के आरंभ के तीन-चार संवादों के बाद कृति का पाठ खण्डित हुआ है । इसके मंगलश्लोक में लिखा गया है कि -

नत्वा रामेशगुरवे द्विपास्यस्यापि भक्तितः ।
शाकुंतलप्राकृतस्य संस्कृतेनार्थ ईर्यते ॥

एवमेव, प्रथम अंक की समाप्ति पर लिखा है कि - इति शाकुंतलप्राकृतविवृतौ प्रथमोङ्कः । इसकी एक सम्पूर्ण प्रति (स्केन कोपी) बडौदा से प्राप्त की गई है । जिसका क्रमांक - १२५९४ है, (R. Nambiyar, 1999) तथा उसके आरंभ में उपर्युक्त श्लोक लिखा है । किन्तु अंतिम पंक्ति में लिखा है कि - ''इति शाकुन्तल प्राकृतविवृतौ सप्तमोऽङ्कः । इति शाकुन्तल-प्राकृतवे (वि)वृत्तं वीरेश्वरशर्मणा, गुणाकरसिद्धेभ्यः समर्पितमित्यवधेयमालंकारिक-धूर्वहद्भिः ।'' यह वाक्य अतिसूक्ष्म अक्षरों से लिखा गया है । इस कृति के रचयिता व्यक्ति का नाम तो अज्ञात ही है, केवल वह अपने रामेश नाम के गुरु को प्रणाम करता है, उससे इतना सूचित होता है कि रचयिता रामेश गुरु का कोई शिष्य है ।

इसी पाण्डुलिपि की अन्य सात प्रतियों का विवरण भी केटलोग में से उपलब्ध हो रहा है :- अड्यार लाईब्रेरी, मद्रास (चैन्नाई) में पाण्डुलिपि क्रमांक-१२९७ है। (Descriptive Catalouge of Sanskrit Manuscripts in the Adya Library) यह प्रति पूर्ण रूप में मिलती है। जिसकी पुष्पिका में लिखा है - इति रामेश्वरसुत -नारायणभट्टविरचितायां शाकुन्तलप्राकृतविवृतौ सप्तमोङ्कः।

२. तुक्कोजी सरफोजी सरस्वती महल, थांजुवरम में एक पाण्डुलिपि है।

३. श्री एच. डी. वेलनकर द्वारा संपादित केटलोग में बताया गया है कि युनिवर्सिटी ऑफ बोम्बे, मुंबई के संग्रह में पाण्डुलिपि क्रमांक-६६० से इसी ''शाकुन्तलप्राकृतविवृत्ति'' का संग्रह हुआ है।

४. A Census of Indic Manuscripts in the United States & Canada, Ed., H.I. Poleman, Pub. American Oriental Society, New Haven, 1938 में भी शाकुन्तल-प्राकृविवृति का उल्लेख है, जिसका क्रमांक - २२४६ / एच. १०८९ है। यह प्राकृतविवृति भी रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायण भट्ट ने बनाई थी ऐसा निर्देश है।

५. महाराजा सयाजीराव युनिवर्सिटी ऑफ बडौदा से संग्रह में (क्रमांक - १२५९४) जो पाण्डुलिपि है, उसकी स्केन कॉपी मिली है, जो पूर्ण है।

६. महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोधकेन्द्र, महरानगढ, जोधपुर में (दो प्रतियाँ) हैं, एवं ७. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में भी इसकी प्रति उपलब्ध है ऐसा निर्देश है।

(ख) सिन्धिया प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान, उज्जैन की ११८९ क्रमांक की ''शाकुन्तलनाटकटिप्पणी'' शीर्षकवाली पाण्डुलिपि में वस्तुतः प्राकृत संवादों का संस्कृतछायानुवाद ही है। उनकी पुष्पिका में लिखा है कि - संवत् १७४२ वर्षे ज्येष्ठमासे शुक्लपक्षे कान्विताया: दशम्यां नडपत्तन निवासिना बाल्हजिद् भट्टेनोर: पत्तने लिखितमिदं नाटकटिप्पणं। इस पाण्डुलिपि के लेखक का नाम बाल्हजिद भट्ट है। किन्तु उसके मूल रचयिता का नाम अज्ञात है। इसी की अन्य दो प्रतियाँ भी उपलब्ध हो रही है। जैसे की - १. भाण्डारकर

ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट. पूना, एवं २. डिस्क्रिप्टीव केटलोग ओफ संस्कृत मेन्यु. इन अड्यर लाईब्रेरी, अड्यर (चैन्नाई), वॉ. ५, १९५१ में १२९६ क्रमांक से उसका उल्लेख है। इसकी महत्ता इस बात में है कि (अज्ञात) रचयिता ने आरंभ में भरतमुनि के द्वारा दिये गये प्राकृतभाषा के ध्वनिपरिवर्तनों (नाट्यशास्त्र, अध्याय-१८) को उद्धृत किया है, और उसका विवरण देने के बाद शाकुन्तल के प्राकृत संवादो का संस्कृतानुवाद दिया है। इन तीनों पाण्डुलिपियों में से प्रथम दो का हमने साक्षात् परिचय किया है।

(ग) भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, पूर्णे के संग्रह में जो ४७१/१८८७-९१ क्रमांक की ''शाकुन्तलनाटक-प्राकृतछाया'' शीर्षकवाली पाण्डुलिपि है, वह षष्ठांक पर्यन्त ही है और उसमें कहीं पर रचयिता का नाम नहीं मिलता है। इस प्रति के आरम्भ में लिखा है कि -

श्रीगणेशाय नम: ॥ श्रीकालिदासकविना प्राकृतम् अप्राकृतं कृतम्।
तस्याहं अमरवाणीं लिखामि, वाणीं प्रणम्याहं (आशु?) ॥१॥

उसी तरह से प्रथमांक के अंत पर लिखा है कि - इति श्रीमच्चतुरुदधि - तटी - टीकमान- बिप्राटयशो -राजहंस - हंस - स (म) प्रभ-प्रताप-तापिताऽराति - गेहनी- नयने -नीर-पूर - पूरित - समस्त- जगत्रय - श्रीमद् - दुष्यन्त - वर्णन- निपुण- श्री कालिदास-रचित-प्राकृतस्याऽमरबाणीलेखे प्रथमोऽङ्कः ॥१॥ इसमें कहीं पर भी इस प्राकृतच्छाया के कर्ता का नाम नहीं दिखाई देता। केवल संस्कृतानुवाद को वह ''अमरवाणी'' कहता है, यह ध्यानास्पद वैशिष्ट्य है। इस सन्दर्भ में, Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the British Museam, Ed. Cecil Bendall, 1902, (p. 109-110) में एक ''वेणीसंहारस्य छाया'' नामक पाण्डुलिपि का जो निर्देश है, उसके आरम्भ में लिखा है कि -

यत् प्राकृतमतिगहनं वेणीसंहारनाटकस्थितितत्।
विव्रियतेऽमरवाण्या वाण्याः पदपंकजं नत्वा ॥

तथा उसके अंत में लिखा है कि - **विद्वन्मुकुट-माणिक्य-भट्टरामेशसुनुना।**
विवृत्तिं प्राकृतं वेणीसंहारस्थं यथामति ॥
इति वेणीसंहार-प्राकृतस्य पर्याये विर (चित्त) समाप्तम् ॥

यहाँ पर भी संस्कृतछायानुवाद को ''अमरवाणी'' ऐसा नाम दिया गया है उससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि अभिज्ञानशाकुन्तल की जो उपर्युक्त प्राकृतछाया है वह भी ''रामेशपुत्र विद्वन्मुकुटमाणिक्य'' ने ही लिखी होगी[१०] ॥ यह पाण्डुलिपि षष्ठांक तक मिलती है । देवनागरी वाचनावाले अभिज्ञानशाकुन्तल की उपलब्ध की गई पाँच प्राकृतविवृतियाँ / प्राकृतछायाओं में से यही प्राचीनतर समय की प्राकृतछाया है ऐसा स्पष्ट संकेत मिल रहा है। इसी की एक प्रति (क्रमांक-९२९) जोधपुर के पूर्वोक्त संग्रह से प्राप्त की गई है, जिसमें कृति का पाठ संपूर्ण है ।

(घ) भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टिट्युट, पूणें के संग्रह में जो २०० / १८७९-८० क्रमांक[११] की ''शाकुन्तलनाटक-प्राकृतछाया'' शीर्षकवाली पाण्डुलिपि है, वह अज्ञात-कर्तृक रचना है । तथा वह सप्तमांक तक पूर्ण है। इसमें केवल प्राकृत उक्तियों के संस्कृतानुवाद रखे गये हैं । स्थूलाक्षरी प्रकार की यह पाण्डुलिपि है । कुल मिला पत्र ४३ है, बीच-बीच में पाँच (१०, ११, ३१, ३३ एवं ३४) पृष्ठ गायब है । इस पाण्डुलिपि का भी प्रत्यक्ष परीक्षण किया गया है ।

(ङ) इसके साथे ओरिएन्टल इन्स्टिटट्युट, एम. एस. युनिवर्सिटी ओफ बडौदा, वडोदरा के ग्रंथभण्डार से ९२१९ क्रमांक की पाण्डुलिपि स्केन कोपी के रूप में प्राप्त हुई है । इसमें कहीं पर भी रचयिता का नाम-निर्देश नहीं है । तथापि यह उल्लेखनीय है कि उपर (ग) में निर्दिष्ट पाण्डुलिपि के साथ उसका पूर्ण साम्य है । अतः यह भी विद्वन्मुकुटमाणिक्य की रचना होगी ऐसा अनुमान किया जा सकता है ।

४. शाकुन्तल नाटक की प्राकृत-विवृति / छायाओं का तुलनात्मक अभ्यास

जिन प्राकृतिविवृति एवं प्राकृतछायाओं की पाण्डुलिपियों का वर्णन उपर दिया गया है वे परस्पर में कैसा साम्य-वैषम्य रखती है उसका अभ्यास कुछ उदाहरणों के द्वारा करना चाहिये । लेकिन इसके पहले इन चारों

१०. यद्यपि यह असंदिग्ध रूप से ज्ञात नहीं है कि रामेशपुत्र विद्वन् मुकुट-माणिक्य-भट्ट और रामेश्वरपुत्र भट्ट नारायण एक ही व्यक्ति है या भिन्न है । क्योंकि पहले ने प्राकृतछाया नाम दिया है, तो दूसरे ने प्राकृतविवृति नाम दिया है ।

प्राकृतविवृति तथा प्राकृतछायाओं का किस वाचना के साथ सम्बन्ध है उसका परीक्षण भी करना आवश्यक है - नाटक के आरंभ में एक संकेत मिलता है कि दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होना यह नाटक का अंतिम लक्ष्य है । यह बात नाटक में गर्भित सूत्र के रूप में साद्यन्त प्रवर्तमान है, जिसकी ओर प्रेक्षकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए द्वितीय एवं षष्ठांक में प्रकट संकेत भी रखे गये हैं । द्वितीय अंक के अन्त में करभक आता है और कहता है कि - जयतु भर्ता । देव्याज्ञापयति - आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति । तत्र दीर्घायुषावश्यं संभावनीयेति । अब अभिज्ञानशाकुन्तल की बंगाली एवं मैथिली वाचनाओं में अनुक्रम से १. पुत्रपिण्डपालनो नाम उपवासो, तथा २. पुत्रपिण्डपर्युपासनो नाम उपवासो - ऐसे पाठभेद मिलते हैं। काश्मीरी वाचना में पुत्रपिण्डाराधनो नाम उपवासो - यह पाठ मिल रहा है । दाक्षिणात्य वाचने में निर्वृतपारणो मे उपवासो ऐसा पाठ चल रहा है । किन्तु प्राकृतविवृति एवं प्राकृतछायाओं में सर्वत्र ''प्रवृत्तपारणो मे उपवासो'' ऐसा ही पाठ दिख रहा है, जो केवल देवनागरी वाचना का पाठ है । अतः इन सभी प्राकृतविवृत्ति एवं प्राकृतछायायें देवनागरीवाचना के अभिज्ञानशाकुन्तल से जुडी हुई है ऐसा प्राथमिक परीक्षण से ज्ञात होता है । और इसी लिए देवनागरी वाचनावाला अभिज्ञानशाकुन्तल जो निर्णय सागर प्रेस, मुंबई से प्रकाशित हुआ था एवं जिसका पुनर्मुद्रण राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली (२००६) ने राघव भट्ट की 'अर्थद्योतनिका' टीका के साथ किया है, उसके पाठ के साथ इन प्राकृत पाण्डुलिपियाँ में मिलनेवाले पाठ की तुलना कुछ उदाहरणों के माध्यम से की जायेगी :-

राघव भट्ट ने जिस पाठ पर टीका लिखी है :

१. रंगसूचना के रूप में - (शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता ।

२. अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ट आहारो भुज्यते ।

३. कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोऽभिमतमिष्यते ।

४. सर्वं कथयित्वा अवसाने पुनस्त्वया परिहासविजल्प एष, न भूतार्थ इत्याख्यातम् । मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम् ॥

(१) विद्वन्मुकुटमाणिक्य की प्राकृतछाया में दिया हुआ संस्कृतछायानुवाद राघव भट्ट द्वारा स्वीकृत प्राकृत उक्तियों के पाठ के साथ पूर्ण साम्य रखता है । इस प्राकृतछाया की कुल मिला के तीन प्रतिलिपियों का परीक्षण किया गया है । ये तीन प्रतिलिपियाँ १. भाण्डारकर ओरि. रिसर्च इन्स्टी. पूणें, १. ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, वडोदरा तथा ३. महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश शोध केन्द्र, जोधपुर से प्राप्त की गई हैं । प्राकृतछाया, (भा. ओ. रि. इन्स्टी. ४७२/१८८७-९१)

१. अभिनव-दर्भांकुरपरिक्षतं मे चरणं, कुरंटकशाखा-परिलग्नं च वल्कलम् तावत् परिपालय धर्मम् यावन्मोचयामि । शकुन्तला की यह वाचिक-उक्ति केवल इसी में प्राप्त हो रही है ।

२. अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ट आहारश्चाभ्यवह्रियते ।

३. कादम्बरीसख्यं अस्माकं प्रथमसौहृदम् इच्छते ।

४. सर्वं कथयित्वा अवसाने पुनः परिहासविजल्प एष, न भूतार्थ इत्याख्यातं, मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम् ।

(२) शाकुन्तल-टिप्पण के नाम से जो प्राप्त हो रही है, पूणें एवं उज्जैन से दो प्रतियाँ प्राप्त की गई हैं । एक तीसरी प्रति अड्यार की लाईब्रेरी में भी है । इसका आरंभ अन्य तीनों से भिन्न है, जिसमें नाट्यशास्त्रीय चर्चाओं एवं प्राकृतभाषा के ध्वनिपरिवर्तनों की जानकारियाँ देने के बाद, शाकुन्तल नाटक में आये हुए प्राकृत संवादों का संस्कृत-छायानुवाद दिया गया है । शाकुन्तल -टिप्पण (पूणें एवं उज्जैन से प्राप्त)

१. प्रथमांक के अंत में शकुन्तला की उपर्युक्त वाचिक-उक्ति नहीं है ।

२. अनियतवेलं शुष्कमांसभूयिष्ट आहारश्च अद्यते ।

३. कादम्बरीसख्यं प्रथमशोभितं अस्माकं इष्यते ।

४. सर्वं कथयित्वा अवसाने पुनः परिहासविजल्प एष, न भूतार्थ इत्याख्यातं, मयापि मृत्पिण्डबुद्धिना तथैव गृहीतम् ।

(३) प्राकृत-विवृति में आया हुआ संस्कृतछायानुवाद, जो रामेशपुत्र नारायण भट्ट ने किया है वह वडोदरा की प्रति में पूर्ण रूप से मिलता है ।

भा. ओ. रि. इन्स्टीट्यूट की प्रति में केवल तीन अंक तक ही पाठ मिलता है । इनमें मिलनेवाला पाठ उज्जैनकी शाकुन्तल-टिप्पण के साथ बहुशः साम्य रखता है ।

प्राकृतविवृति (पूणें एवं वडोदरा)

१. प्रथमांक के अंत में शकुन्तला की उपर्युक्त वाचिक-उक्ति नहीं है ।

२. अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्टः आहारश्च अद्यते ।

३. कादम्बरीसखित्वं अस्माकं प्रथमशोभितं इष्यते ।

४. सर्वं कथयित्वा अवसाने पुनः परिहासविकल्प एष, न भूतार्थ इत्याख्यातं, मयापि मन्दबुद्धिना तथैव गृहीतम् ॥

(४) प्राकृतछाया की एक प्रति पूणें से प्राप्त हुई है, लेकिन वह अज्ञातकर्तृक है । जिसको भा. ओ. रि. इन्स्टीट्यूट के संग्रह में शाकुन्तल टिप्पण ऐसा ही नाम दिया गया है, किन्तु वह प्राकृतछाया ही है ऐसा अंतिम पुष्पिका में लिखा है । इसका पाठ उपर्युक्त प्राकृतविवृत्ति के साथ बहुशः साम्य रखता है ।

— प्राकृतछाया (अज्ञातकर्तृक), क्रमांक-२००/१८७९-८०, पुराना क्र. ७९/१९०७-१५

१. प्रथमांक के अंत में शकुन्तला की उपर्युक्त वाचिक-उक्ति नहीं है ।

२. अनियतवेलं शूल्ल(ल्य) मांसभूयी (यि)ष्टः आहार आह्रीयते ।

३. कादम्बरीसखित्वम् अस्माकं प्रथमशोभितं इष्यते ।

४. सर्वं कथयित्वा अवसाने पुनः परिहासविकल्प एष, न भूतार्थ इत्याख्यातं, मयापि मन्दबुद्धिना तथैव गृहीतम् ।

प्राकृतविवृति एवं प्राकृतछायाओं की महत्ता / उपयोगिता एवं तत्ससम्बद्ध अन्य बिन्दुओं पर सोचने के लिये कतिपय दूसरे वाक्यों का भी तुलनात्मक अभ्यास करना आवश्यक है । जैसे कि –

(१) (क) में निर्दिष्ट ''प्राकृतविवृति'' के अनुसार, नाटक की प्रस्तावना में नटी की एक उक्ति है :- कतमं पुनः ऋतुमधिकृत्य गाईष्ये । (ख)

में निर्दिष्ट ''शाकुन्तल-टिप्पणी'' में यह उक्ति प्राप्त नहीं होती है। (ग) में निर्दिष्ट ''प्राकृतछाया'' के अनुसार, नटी की उक्ति का स्वरूप इस तरह है : कतमं पुनः समयं समाश्रित्य गास्ये। और (घ) में निर्दिष्ट ''शाकुन्तलछाया'' के अनुसार नटी-वाक्य ऐसा है : आर्य, कतरं ऋतम् अधिकृत्य गास्यामि। यहाँ ''गाईष्ये, ''गास्ये'', एवं ''गास्यामि'' शब्दों से जो संस्कृतानुवाद दिया गया है वह केवल ध्वनिसाम्य के आधार पर किया गया 'छायानुवाद'' ही है, शुद्ध अनुवाद नहीं है। एवमेव, यहाँ जो क्रियापद का स्वरूप है वह सब में भिन्न-भिन्न है, अर्थात् ये सभी प्राकृत-पाण्डुलिपियाँ का आदर्शभूत शाकुन्तल का पाठ अलग-अलग होगा। दूसरे शब्दों में कहे तो, आज प्राप्त हो रही इन प्राकृतविवृतियाँ एवं प्राकृतछायाओं के समबद्ध हो ऐसी पाण्डुलिपियाँ गवेषणीय है।

(२) यहाँ देवनागरी वाचना का जो प्रकाशित / प्रचलित पाठ है उसमें नटी ऐसा कोई वाक्य बोलती ही नहीं है। देवनागरी वाचना के प्रकाशित पाठ में, नटी कहती है कि - आर्य, एवमेव तत्। अन्तरकरणीयमार्य आज्ञापयतु ॥ उसके उत्तर में सूत्रधार बोलता है कि किमन्यदस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादनतः ? तदिममेव.... ग्रीष्मसमयधिकृत्य गीयताम्। इस तुलना का सार यही निकला कि प्राकृतिविवृति एवं छायाओं में जो नटी की उक्ति मिलती है, वह प्राचीन (बृहत्) पाठ का (अवशिष्ट रहा) अंश है। अर्थात् पश्चाद्वर्ती समय में देवनागरी वाचना में संक्षेप करने के आशय से यह उक्ति हटाई गई है।

(३) देवनागरी वाचना का जो प्रकाशित/प्रचलित पाठ है उसमें, प्रथमांक के अंत में धर्मारण्य में हस्ती-प्रविष्ट होने की सूचना मिलने के बाद अनसूया-प्रियंवदा के साथ शकुन्तला बिदा ले रही है तब एक रंगसूचना दी गई है कि - ''शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सव्याजं विलम्ब्य सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता''। परंतु एकत्र की गई प्राकृतछायाओं का अभ्यास करने से मालूम होता है कि विद्वन्मुकुटमाणिक्य की प्राकृतछाया में, एवं बडौदा से प्राप्त की गई शाकुन्तलप्राकृतछाया में शकुन्तला के निर्गमन का दृश्य उक्त रंगसूचनानुसार केवल आङ्गिक अभिनय से सम्पन्न नहीं

होता है। इस प्राकृतछाया के अनुसार तो शकुन्तला के मुख में इस तरह का वाचिक अंश भी रखा गया है : ''अभिनवदर्भाङ्कुरपरिक्षतं मे चरणम्, कुरंटशाखापरिलग्नं च मे वल्कलम्, तत् प्रतिपालय माम्, यावदहं मोचयामि।'' देवनागरी वाचना के प्रचलित पाठ में और इस संस्कृतछाया में जो पाठ मिलता है वह ध्यानास्पद है। क्योंकि प्राकृतछाया में जिस तरह का वाक्य (वाचिकांश) है वैसा ही वाक्य बंगाली एवं मैथिली वाचनावाले अभिज्ञानशाकुन्तल में भी प्राप्त हो रहा है। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि कालिदासप्रणीत अभिज्ञानशाकुन्तल के बृहत् पाठ में यह वाचिकांश था, जो संस्कृतछाया तक संचरित होकर आया भी है, किन्तु अनुगामी समय में, देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षिप्तीकरण के दौरान उसी को केवल एक रंगसूचना देकर, आङ्गिकाभिनय के रूप में परिवर्तित किया गया होगा।

(४) देवनागरी वाचना के द्वितीयांक में से विदूषक की एक उक्ति दिखाते हैं : राजा कहता है कि - विश्रान्तेन भवता ममाप्यनायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्। इसको सूनते ही विदूषक सहसा बोलता है कि - किं मोदकखण्डिकायाम्। तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः ॥ अब उपलब्ध की गई पाण्डुलिपिओं से (क) में निर्दिष्ट ''प्राकृतविवृत्ति'' के अनुसार, विदूषक बोलता है कि - तेनायं सुग्र (गृ) [ही] तो जनः। किन्तु (ङ) में निर्दिष्ट बडौदा की १२५९४ क्रमांक की पाण्डुलिपि में तेन ह्ययं सुगृहीतः क्षणः - ऐसा पाठ दिया है। (ख) में निर्दिष्ट ''शाकुन्तल-टिप्पणी'' में विदूषक की उक्ति है : तेन हि अयं सुग्र (गृ) हीतो जनः ॥

(ग) में निर्दिष्ट ''प्राकृतछाया'' के अनुसार भी विदूषक की उक्ति है कि - तेन हि अयं सुग्र(गृ)हीतो जनः और (घ) में निर्दिष्ट ''शाकुन्तलछाया'' के अनुसार, तेन हि अयं सूग्र(सुगृ)हीतो जनः ॥ यहाँ पर एक नया पाठान्तर मिल रहा है, जो अद्यावधि शाकुन्तल के किसी भी पाठसम्पादन में उल्लिखित नहीं है। प्रचलित पाठ ''क्षण'' के स्थान पर, ''जनः'' ऐसा एक शब्द बदल जाने से पूरा आङ्गिक अभिनय भी बदल जायेगा। बडौदा की ९२१९ क्रमांक की पाण्डुलिपि में ''तेन सुगृहीत अयं ब्राह्मणः।'' ऐसा

सर्वथा भिन्न पाठभेद भी मिल रहा है। किन्तु ऐसे पाठभेद से अभिनय में कोई वैशिष्ट्य पेदा नहीं होता है।

(५) चतुर्थाङ्क में शकुन्तला-विदाई प्रसंग में जो प्राकृत गाथायें आती है उसके संस्कृतानुवाद की तुलना भी द्रष्टव्य है। देवनागरी वाचना का प्रचलित पाठ इस तरह का है :- (शकुन्तला) हला, पश्य, नलिनीपत्रान्तरमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाकी आरौति। दुष्करमहं करोमीति। (अनसूया) - सखि, मैवं मन्त्रय। एषापि प्रियेण। को देखिए तो सभी पाण्डुलिपियों में कुछ पाठभेद मिलते हैं। जैसे कि - (क) में निर्दिष्ट ''प्राकृतविवृति'' अपूर्ण है, उसमें केवल तीन अंक होने से इस उदाहरण के लिये वह उपयोगी नहीं है। (ख) में निर्दिष्ट ''शाकुन्तल-टिप्पणी'' में पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्ती अचतुरा चक्रवाकी आरौति। दुष्करमहं करोति। (अनसूया) - सखि, मैवं मन्त्रय। एषापि प्रियेण विना गमयति रजनी विषाददीर्घतराम्। गुरुमपि विरहदुःखमाशाबन्धः सहयति। (ग) में निर्दिष्ट ''प्राकृतछाया'' के अनुसार, पश्य नलिनी-पत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्ती आतुरा चक्रवाकी आरटति। दुष्करमहं करोमीति। (अनसूया) - सखि, मैवं मन्त्रय। एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्। गुरूतरामपि विरहदुःखमाशाबन्धः सहाययति''। और (घ) में निर्दिष्ट ''शाकुन्तलछाया'' के अनुसार, ''पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाकी रोदिति। दुष्करमहं करोमीति। (अनसूया) - सखि, मैवं मन्त्रय। एषापि प्रियेण विना गमयति रजनी विषाददीर्घकरम्। गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धः सहायति''। यहाँ पर दोनों क्रियापदों के संस्कृतानुवाद में भारी अनिश्चितता प्रवर्तमान है वह दिख रहा है। जैसे कि - आरौति, आरटति तथा रोदिति। यहाँ प्राकृत पाठ के अनुसार आरडदि है, जो सम्भवतः देशी क्रियापद हो सकता है और उसका संस्कृतीकरण करने का प्रयास इन प्राकृतछायाओं में दिखता है। इसी तरह से सहयति, सहाययति और सहायति जैसे तीन-तीन क्रियापदों की प्राप्ति होने पर लगता है कि यहाँ प्रेरक रूप रखा जाय या नहीं इसकी अनिर्णायक स्थिति दिख रही है।

११. जिसका पुराना एक क्रमांक ७९/१९०७-१५ है :

अंत में चक्रवाकी का विशेषण आतुरा ज्यादा प्रचलित है, परंतु एक नया पाठान्तर भी यहाँ मिल रहा है :- अचतुरा। जिसको यदि व्यंजना से उपमेयभूत शकुन्तला पर लगाया जाय तो प्रत्याख्यान के समय पर मुनिसुता शकुन्तला की विफलता का मर्म बदल जायेगा। राजा के द्वारा दिया गया अंगुलीयक भी सखियों के पास ही थाय, उसको उसने अपने पास भी नहीं रखा था तथा सखियों ने राजा की अंगुलीयक देते समय जो कहा था उसकी गंभीरता भी वह न समज पाई।

(६) षष्ठांक के आरंभ में जो धीवर-प्रसंग है उसके देवनागरी पाठ के अनुसार निम्नोक्त तीन उक्तियाँ ध्यानास्पद हैः- (जानुकः-) आवृत्त, परितोष कथय। तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम्। (श्यालः) न तस्मिन् महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः[१२] यहाँ के अधोरेखांकित तीन शब्दों के स्थान में विविध प्राकृतछायायें कौन सा पाठ दे रही है वह तुलनीय है। (क) में निर्दिष्ट 'प्राकृतविवृति'' का पाठ तीन अंक से आगे नहीं है। अतः उसका प्रकृत में कोई उपयोग नहीं है। (ख) में निर्दिष्ट ''शाकुन्तल-टिप्पणी'' के अनुसार (जानुकः) तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः शर्म्मदेन भवितव्यम्। (श्यालः) न तस्मिन् महार्हं रत्नं भर्तुर्बहुमतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। (ग) में निर्दिष्ट ''प्राकृतछाया'' के अनुसार, (जानुकः) तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः शर्म्मदेन भवितव्यम्। (श्यालः) न तस्मिन् महार्हं रत्नं भर्तुः परितोषमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। और (घ) में निर्दिष्ट ''शाकुन्तलछाया'' के अनुसार (जानुकः) तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः शर्म्मदेन भवितव्यम्। (श्यालः) न तस्मिन् महार्ह रत्नं भर्तुबहुतमिति तर्कयामि। तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारित।

यह प्रचलित देवनागरी पाठ के अनुसार मूल प्राकृतभाषा का वाक्य देखें तो - ''तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेन होदवं '' ऐसा है। ''शम्मदेन'' का संस्कृतानुवाद 'सम्मतेन'' की अपेक्षा से ''शर्मदेन'' किया जाय तो वह

१२. प्रसंगतः यहाँ पर बंगाली वाचना के पाठ में कौन से शब्द है वह भी द्रष्टव्य है :- बहुमतेन, परितोषम् और हृदयस्थितः जनः।

ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से तो नियमनासुर है ही, लेकिन पूर्वापर संदर्भ में भी वही समुचित प्रतीत होता है। देवनागरी वाचनावाले प्रकाशित अभिज्ञानशाकुन्तलों में ''सम्मतेन'' ऐसा जो पाठ चल रहा है वह किसी भी तरह से पूर्वापर सन्दर्भ में संगत नहीं बैठता है। इस सन्दर्भ में यह भी कहना आवश्यक है कि कथपति क्रियापद का मागधी प्राकृत में कधेहि- ऐसा रूप होता है। कालान्तर में थ का ध में जो परिवर्तन किया गया था उसमें महाराष्ट्रीय प्राकृत में रूपान्तर करने की प्रवृति चल पडी होगी तब उस ध का ह में परिवर्तन किया गया होगा। जिसके फल स्वरूप कहेहि रूप बना होगा, और वह लोडर्थक (आज्ञार्थक) रूप है ऐसी भ्रान्ति को जन्म दिया होगा। अब, आवृत्त, परितोषं कहेहि। ऐसी उक्ति का संस्कृतछायानुवाद करने का प्रसंग आया होगा तब, राघव भट्ट जैसे टीकाकार ने भी यह ध्यान में नहीं लिया कि कधेहि जैसे मागधी क्रियापद का महाराष्ट्रीकरण होने का बाद यह कहेहि रूप पाण्डुलिपियों में चल पडा है। उसका छायानुवाद कथय के रूप में न करके, कथयति के रूप में ही करना अनिवार्य था। लेकिन महाराष्ट्री-प्राकृत के स्वरूप को हि मूल मान लेने के कारण कहेहि का अनुवाद कथय पर दिया गया और परिणामतः पूरा संवाद का क्रम विसंगति के चक्कर में फँस गया। यहाँ शर्म्मदेन जैसे अनुवाद से अथवा कथयति जैसे अनुवाद से हि मूल उक्ति का स्वारस्य सुसंगत हो सकेगा।

इन उदाहरणों के अभ्यास के बाद कुछ निरीक्षण ऐसे प्राप्त होते हैं कि - इन प्राकृतविवृति एवं प्राकृतछायाओं में भले ही प्राकृत उक्तिओं का शुद्ध व्याकरण-सम्मत अनुवाद न उपलब्ध हो, अर्थात् भले ही इन में केवल छायानुवाद ही हो, फिर भी इन सामग्री का उपयोग करके १. अद्यावधि अनुल्लिखित रहे कुछ नवीन पाठान्तर उपलब्ध प्राप्त किये जा सकते हैं। और २. कुछ संवादों की विसंगतता भी दूर हो सकती है।

उपसंहार - अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में स्त्री, परिजनादि सेवकवर्ग, धीवर एवं विदूषक जैसे पात्रों के मुख में रखे गये संवादों की प्राकृतभाषा का स्वरूप जानने में उपर्युक्त प्राकृतविवृति एवं प्राकृतछायाओं से कुछ सहायता नहीं मिल सकती है। क्योंकि उसमें केवल प्राकृत-संवादो के संस्कृतछायानुवाद ही रखे गये है। यदि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्राकृत संवादो की सही स्थिति

का स्वरूप जानना ही है तो प्रथम दृष्टि से ऐसा विचार आता है कि मूल नाटक की जो पाण्डुलिपियाँ हैं, उसमें संचरित हुए प्राकृत संवादों को एकत्र करके उसका तुलनात्मक अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि स्व. डॉ. के. आर. चन्द्रजी (अहमदाबाद) जैसे प्रौढ विद्वानों ने विभिन्न काल खण्ड की प्राकृतभाषाओं का स्वरूप निश्चित करके दिखाया है।[१३]। किन्तु यहाँ दूसरा विचार तुरंत इस सभी पाण्डुलिपियों में प्राकृत भाषा के संवादों में बहुशः महाराष्ट्री प्राकृत ही दिख रही है। जो निश्चित रूप से परवर्ती काल का किया हुआ परिवर्तन है। इसीलिए प्राचीन काल की प्राकृत-उक्तियाँ का स्वरूप जानने के लिये ये पाण्डुलिपियाँ ज्यादा उपयोगी नहीं हो सकती हैं। तथा इनमें इस नाटक का केवल लघुपाठ ही अनुदित किया हुआ मिलता है।

आज उपलब्ध हो रही शाकुन्तल की पाण्डुलिपियों में ज्यादा तौर पर प्राकृत संवादों में शौरसेनी के स्थान पर महाराष्ट्री प्राकृत ने स्थान ले लिया है। जब की भरत मुनि ने तो संस्कृत नाटकों के लिये प्राकृत संवादो में शौरसेनी (और विशेष सन्दर्भो में मागधी) भाषा का विनियोग करने का सुझाव दिया था। [तथा भरतमुनिने जिन सात प्रकार की प्राकृतभाषायें गिनाई है, उनमें ''महाराष्ट्री प्राकृत'' का उल्लेख ही नहीं है।] एवमेव, इसी बात को भूले विना कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने भी जब प्राकृतभाषाओं का व्याकरण (हेमचन्द्र, १९९४) लिखा तब शौरसेनी एवं मागधी भाषा का निरूपण करते समये जो उदाहरण पेश किये हैं वे प्रायः सभी संस्कृत नाटकों में से ही, (और वो भी अभिज्ञानशाकुन्तल में से विशेषतः) चुन कर रखे है[१४]। डॉ. रिचार्ड पिशेल ने भी यही विचार प्रस्तुत किया है[१५]। अतः यदि किसी आधुनिक

---

१३. प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण। के. आर. चन्द्र, प्राकृत टेकस्ट सोसायटी, अहमदाबाद, २००१

१४. सिद्धहेमशब्दानुशासन का आँठवा अध्याय (८-४-२६० से ३२० सूत्र), प्राकृत - व्याकरणम् संपादक वज्रसेनविजयजी ॥

१५. Among the Prakrit dialects that are used in the prose of the dramas, Śauraseni occupies the first place.... According to Bhartiya-nāṭyaśastra 17,46 the dialect of the dramas should be based on the Sauraseni Dialect and according to 17-51. -Comparative Grammar of the Prakrit Languages, by R. Pischel, Pub. Motilal Banarsidass, Delhi, 1965, pp. 22.

पाठसम्पादक को शाकुन्तल की प्राकृत -उक्तियों का पाठ पुनर्गठित करना है तो भरत मुनि एवं हेमचन्द्राचार्य द्वारा प्रशस्त किये मार्ग पर चलकर शौरसेनी एवं मागधी का स्वरूप ही ''मान्य स्वरूप'' के रूप में स्वीकारना चाहिये। क्योंक महाकवि कालिदास[१६] के सम्मुख भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ही आदर्शभूत मार्गदर्शक ग्रन्थ था उसमें तो कोई विवाद हो ही नहीं सकता। और भरतमुनि के समय में महाराष्ट्री प्राकृत का अस्तित्व भी नहीं था!

१६. कालिदास जिस स्थल-काल में हुए हो उस स्थल-काल की प्राकृतभाषा का विनियोग शाकुन्तल की प्राकृत-उक्तिओं में करना चाहिये - ऐसा दृष्टिकोण इस लिए सर्वसम्मत नहीं होगा कि कालिदास का जन्मसमय एवं जन्म-स्थल दोनों ही अद्यावधि विवादास्पद रहे हैं। एवं कालिदास के सामने भरतमुनि का नाट्यशास्त्र था, अतः उसकी आज्ञा शिरोधार्य रहीं होगी।

सन्दर्भ सूचि

१. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the library, (Vol-5) (1951), Adyar Library, Chennai.

२. R. Nambiyar (1999). An Alphabetical list of MSS in the Oriental Institute, (Vol.2) M.S. University of Baroda, Vadodara

३. V. Raghavan (1954), New Catalogues Catalogrum (Vol. 1 to 13). University of Madras, Chennai

४. भरतमुनि (१९८०) नाट्यशास्त्रम्। संपादक - बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएन्टालिया, वाराणसी

५. राघव भट्ट (२००६), अभिज्ञानशाकुन्तलम् : राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली

६. हेमचन्द्र (१९९४). प्राकृत-व्याकरणम्, भद्रंकर प्रकाशन, अहमदाबाद

उपक्रम-16

हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण में अभिज्ञानशाकुन्तलम्

भूमिका :

संस्कृत नाटकों में नायक का नर्मसचिव विदूषक एवं अन्य स्त्री-पात्र सृष्टि होती हैं। उसके साथे में चेटियाँ, प्रतीहारी (द्वारपालिकायें), एवं कञ्चुकी आदि निम्न कक्षा का परिजन वर्ग भी होता है, वे सभी प्राकृत भाषा में बोलते हैं। लेकिन प्राकृत भाषायें तो बहुविध हैं, अतः प्रश्न होता है कि इन पात्रों के द्वारा कौन सी प्राकृत भाषा का विनियोग किया जाता था? इस सन्दर्भ में, नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने कहा है कि काव्य की रचना तो अनेक देशों की (प्राकृत) भाषाओं का विनियोग करते हुए की जा सकती है। अलग-अलग प्रान्तों के निवासियों के लिए अलग-अलग प्राकृत भाषा हो सकती है। लेकिन नाटक की नायिका जैसे स्त्री-पात्रों के द्वारा तो शौरसेनी प्रकार की प्राकृत भाषा (ही) बोली जानी चाहिए। तथा व्यसन के सन्दर्भो में, विशेष रूप से आत्मरक्षा करने की स्थिति उपस्थित हो जाने पर मागधी प्राकृत का विनियोग होना चाहिए। एवमेव, गंगा-सागर के बीच वाले (अर्थात् उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल) प्रदेशों में एकार बहुल (मागधी) भाषा का प्रयोग होना अपेक्षित है। भरतमुनि के शब्द इस तरह के है :-

सौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः ॥१८-३४॥

नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके ।
मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी ॥१८-३५॥
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः ।
शबराभीरचण्डालसचरद्रविडोद्रजाः ॥१८-३६॥
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ।
मागधी तु नराणाञ्चैवान्तःपुरवासिनाम् ॥ १८-३७॥
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठीनाञ्चार्धमागधी ।
प्राच्या विदूषकादीनां योज्या भाषा अवन्तिजा ॥ १८-३८॥
नायिकानां सखीनाञ्च सौरसेन्यविरोधिनी ।
यौधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या च दीव्यताम् ॥१८-३९॥
व्यसने नायिकादीनां आत्मरक्षासु मागधी ।
गङ्गासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिता : ॥ १८-४५॥
एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत्[१] ॥ १८-४६ ॥

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि भरतमुनि के द्वारा लिखे गये उपर्युक्त नियम उनके उत्तरवर्ती काल के संस्कृत नाट्यकारों के लिए मार्गदर्शक बने होंगे। कालिदास, शूद्रकादि जैसे नाट्यकार, जो कि भरतमुनि के समय के नज़दीक रखें जाते हैं, उनके लिए तो यह बात प्रायः सही हो सकती है। इस पूर्व भूमिका के अनुसन्धान में हम यदि अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का विश्लेषण करते हैं तो अभिज्ञानशाकुन्तल के मौलिक पाठ में हुए परिवर्तनों के कुछ ठोस प्रमाण सामने आते हैं। क्योंकि इस नाटक की उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों में तथा उसके वर्तमान संस्करणों में, प्राकृत-संवादों में शौरसेनी की अस्मिता (उनके निजी ध्वनिस्वरूप) क्रमशः लुप्त हो रही है, और उसके स्थान पर महाराष्ट्रीय प्राकृत (जो भरत के परवर्ती काल में पैदा हुई है।) का स्वरूप दाखिल होता जा रहा है। ऐसे प्रकट संकेत मिल रहें है। प्राकृत भाषाओं में हुआ ध्वनि परिवर्तन एक ऐसा भाषाकीय तथ्य है कि जिसके साथ भौगोलिक एवं सामयिक भेदक रेखा का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है। जिस तरह से भगवान्

१. नाट्यशास्त्रम्। (मूलमात्रम्) सं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएन्टालिया, वाराणसी, १९८० पृ. २१७

महावीर की मूल वाणी मागधी या अर्धमागधी में प्रकट होने के बाद, कालान्तर में जब उसका माथुरी वाचना में परिवर्तन होता है तो उसमें शौरसेनी प्राकृत के लक्षण प्रविष्ट होते हैं। तत्पश्चात् वही माथुरी वाचना का पाठ कालान्तर में जब गुजरात के वलभी (भावनगर जिल्ला) प्रांत में लिपिबद्ध किया गया तब उसमें महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण प्रभावी हो गयें। यह बात केवल जैन-आगमों तक ही सीमित नहीं है, यह बात साहित्य में प्रयुक्त प्राकृत भाषा को भी लागु होती है। मतलब कि प्राकृत भाषाओं में स्थल-काल के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन होता रहा है। वह एक ऐतिहासिक तथ्य है। अतः अभिज्ञानशाकुन्तल के मूल पाठ में महाकवि कालिदास ने अपने हाथ से, भरतमुनि के द्वारा निर्दिष्ट नियमानुसार स्त्री-आदि पात्रों के संवाद शौरसेनी एवं मागधी प्रकार की प्राकृत भाषा में जो लिखे होंगे वह अद्यावधि यथावत् नहीं रह पाये होंगे। प्राकृत-संवादों का मूल कवि-प्रणीत पाठ भी विभिन्न स्थल-काल की नटमण्डलियों के द्वारा मंचन के दौरान एवं पाण्डुलिपियों के प्रतिलिपिकरण के सिलसिले में समय समय पर बदलता रहा होगा। यह अवश्यंभावी हकीकत है। अतः शाकुन्तल में भरतमुनि के मार्गदर्शन अनुसार शौरसेनीप्राकृत का विनियोग हुआ होगा। ऐसी पूर्वावधारणा को लेकर, आज के जमाने में प्रचलित हुए शाकुन्तल के प्राकृत संवादों का विश्लेषण करके देखते हैं तो उसमें शौरसेनी-प्राकृत का स्वरूप सुरक्षित नहीं रहा है ऐसा मालूम होता है। तथा इस नाटक के कवि-प्रणीत सम्भवित (आदि) पाठ और वर्तमान में प्रचलित हुए पाठ के बीच में रहे प्राकृत-व्याकरणों को देखेंगे तो उसमें उद्धृत हुये उदाहरणों से कुछ सामग्री ऐसी मिल जाती है कि जिससे शाकुन्तल की विचलित हो रही पाठ-परम्परा के अतीत में झाँखने का मार्ग मिलता है।

१

अभिज्ञानशाकुन्तल में नायिका शकुन्तला, उनकी सहेलियाँ अनसूया एवं प्रियवदा, आश्रम-माता गौतमी आदि स्त्री-पात्र तथा विदूषक, दौवारिक जैसे अन्य नीच पात्र शौरसेनी में बोलते हो यह भरतमुनि के उपर्युक्त वचनों की अपेक्षा है। साथे में षष्ठांक में, जहाँ धीवर-प्रसंग का निरूपण है वहाँ एकार-बहुल मागधी प्राकृत भाषा प्रयुक्त की गई हो यह जरूरी है। क्योंकि नगररक्षकों ने 'दुष्यन्त' ऐसा नाम जिस पर उत्कीर्ण किया है उस अङ्गुलीयक को बेचने

के लिए हस्तिनापुर में आये मत्स्यजालोपजीवी धीवर को ग्रन्थिभेदक (चोर) होने की आशंका से पकड़ लिया है और उसे मारा-पीटा जा रहा है। यह धीवर मूलतः गंगाघाट पर आये शक्रावतार -शचीतीर्थ पर रहने वाला है। अतः आत्मरक्षा के संदर्भ में, और गंगासागर के मध्यभाग में रहने वालों के द्वारा मागधी प्राकृत भाषा का विनियोग करने की विशेष सूचना भरतमुनि ने दे रखी है। इन सूचनाओं को देखते हुए अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रचलित संस्करणों में प्राकृत भाषा निबद्ध संवादों का विश्लेषण करना चाहिए। परंतु ऐसे विश्लेषण के लिए वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' प्राचीनतर होते हुए भी, हम उसका उपयोग नहीं करेंगे। क्योंकि वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश के द्वादशाध्याय में शौरसेनी का वर्णन करते समये जो वाक्य उद्धृत किये हैं वे सभी मृच्छकटिक प्रकरण में से पसंद किये हैं।[२] इस सन्दर्भ में, हमारे प्रस्तुत आलेख में तो आचार्य हेमचन्द्र जी के प्राकृत-व्याकरण का ही सहारा लेना उपकार सिद्ध होगा। हेमचन्द्राचार्य ने अपने प्राकृत-व्याकरण में जो शौरसेनी एवं मागधी प्राकृत के नियम दिये हैं उसमें उदाहरणभूत शब्दावली महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक से ली है।

२

हेमव्याकरण के अष्टम अध्याय के चतुर्थ पाद में शौरसेनी प्राकृत के नियम अनुक्रम से इस तरह से दिये गये हैं :- (१) तो दोऽनादौ शौरसेन्याम् अयुक्तस्य। ८-४-२६० (वृत्तिः- शौरसेन्याम् भाषायामनादावपदादौ वर्तमानस्य तकारस्य दकारो भवति, न चेदसौ वर्णान्तरेण संयुक्तो भवति। अनादौ किम् - तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि ॥ अयुक्तस्येति किम् अय्यउत्तो। असंभाविद-सक्कारं। हला सउन्तले ॥) यहाँ 'तथा' अव्यय के आरंभ में आया हुआ तकार दकार में परिवर्तित नहीं हुआ है, क्योंकि सूत्र में 'अनादौ' ऐसी शर्त रखी गई है। उसी तरह से सूत्र में आये हुए 'अयुक्तस्य' पद का स्वारस्य प्रकट करने के लिए 'सउन्तले' ऐसा उदाहरण रखा गया है। यहाँ 'सउन्तला' शब्द में 'न्त' संयुक्ताक्षर है। अतः संयुक्ताक्षर में स्थित तकार

२. प्राकृत -प्रकाशः (भामहकृतमनोरमा - व्याख्या सहितः), सं. मथुराप्रसाद दीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीझ आफिस, वाराणसी, १९५९ (चतुर्थ संस्करण), अध्याय १२ - सूत्र १६, १८, २०, २७ (पृ. २४४-२४६)

का दकार में परिवर्तन नहीं होता है यह दिखाया गया है। किन्तु वर्तमान में अभिज्ञानशाकुन्तल का जो पाठ सारे देश में स्वीकृत एवं सुप्रचलित हुआ है वह है देवनागरी वाचना का पाठ। उसमें सर्वत्र 'सउन्दला' (अथवा 'सउंदला') ऐसा पाठ प्रवर्तित हुआ दिख रहा है। यहाँ पर यानें 'सउन्दला' ऐसे प्राकृत शब्द में शौरसेनी भाषा का लक्षण घटित नहीं होता है। (यदि अनुस्वारयुक्त 'सउंदलता' शब्द रखते हैं तो उसमें संयुक्ताक्षर के रूप में न्त नहीं होने से तकार का दकार हो सकता है।)

आचार्य हेमचन्द्र ने ११७२ ई.सा. में इस व्याकरण की रचना की थी। लेकिन उसमें भी पहले प्राकृत-प्रकाश पर भामह (६०० ई.सा.)ने जब मनोरमा-टीका लिखी है तब भामह[३] ने भी 'हला सउन्तला' ऐसा ही शौरसेनी का एक उदाहरण दिया है।

(२) थो धः ८-४-२६७ (वृत्तिः शौरसेन्यां थस्य धो वा भवति ॥ कधेदि -कहेदि।) इस सूत्र के अनुसार शौरसेनी भाषा में थकार का धकार में (विकल्प से) परिवर्तन होता है। उदाहरण के रूप में, कथयति क्रियापद में जो कथ्-धातु का थकार है उसका धकार में परिवर्तन होता है। इस नियम का चारितार्थ्य अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के 'तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि।' इस वाक्य में आप देख सकते हैं। (यह वाक्य उपर्युक्त पहले नियम के उदाहरण में ही हेमचन्द्रजी ने दिया है, वह अवलोकनीय है।) यहाँ पर 'तथा' एवं 'यथा' ऐसे दो अव्ययों में जो थकार है, उसका शौरसेनी में अनुक्रम से 'तधा' और 'जधा' ऐसे ध्वनिपरिवर्तन-वाले रूप दिये गये हैं। किन्तु आज इस नाटक का जो पाठ देवनागरी वाचना[४] में मिल रहा है, उसमें तो 'तहा' और 'जहा' ऐसे रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। राघव भट्ट ने जिस देवनागरी पाठ पर टीका लिखी है उसमें तो प्रस्तुत वाक्य निम्नोक्त स्वरूप में उपलब्ध हो रहा है - तं जइ वो अणुमदं ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकंपणिज्जा होमि। (इसकी संस्कृतच्छाया होती है :- तद्यपि वामनुमतं तदा

३. प्राकृत-प्रकाश (भामहकृत-मनोरमा-व्याख्या सहित) सं. मथुराप्रसाद दीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सिरीझ आफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, १९५९, पृ. २३९.

४. मोनीयर विलियम्स (१८७६), पी. एन. पाटणकर (१९०२) श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी (१९८६) आदि के संस्करणों में।

तथा वर्तेथां यथां तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि । (अंक-३) । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हेमचन्द्राचार्य ने शौरसेनी प्राकृत के लिए थकार के स्थान में धकार होने का निदर्शभूत उदाहरण जिस शाकुन्तल नाटक से दिया है उसकी पोथी का पाठ और हमारे सामने रहा प्रकाशित पाठ भिन्न ही है । हेमचन्द्र जी की पोथी का पाठ कालिक दृष्टि से निश्चित रूप से प्राचीनत्तर मानना होगा । आज हमारे सामने प्रचलित हुआ शाकुन्तल का पाठ महाराष्ट्री प्राकृत में परिवर्तित किया हुआ मिलता है ।

(३) भुवो भः । ८-४-२६९ (वृत्तिः - भवतेर्हकारस्य शौरसेन्यां भो वा भवति ॥) इस सूत्र के अनुसार भू धातु का भकार शौरसेनी में भ के रूप में ही रहता है, और विकल्प में उस भकार का कुत्रचित् हकार भी हो सकता है । (यहाँ विकल्पिक रूप वाच्छनीय नहीं है - ऐसा समझना है) इस नियम के सन्दर्भ में हेमचन्द्र जी ने ८-४-२६० का उदाहरण देने के लिए जिस वाक्य को उद्‌धृत किया है उसकी ही ओर निगाह डालेंगे । तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि । इसमें भवामि क्रियापद के लिए शौरसेनी में भोमि ऐसा रूप होता है वह दिखाने का तात्पर्य है । लेकिन अभिज्ञानशाकुन्तल के आज प्रचलित हुए देवनागरी पाठों में शौरसेनी के इस नियम का परिपालन नहीं हुआ है । जैसे कि, तं जइ वो अणुमदं ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकंपणिज्जा होमि । यहाँ भू-धातु से निष्पन्न भवामि क्रियापद के स्थान में भू धातु के भकार का हकार में परिवर्तन किया गया है, जो महाराष्ट्री प्राकृत का ध्वनि परिवर्तन माना जाता है ।

(४) पूर्वस्य पुरवः । ८-४-२७० (वृत्तिः शौरसेन्यां पूर्वशब्दस्य पुरव इत्यादेशो वा भवति ॥) अर्थात् संस्कृतभाषा के पूर्व-शब्द के स्थान में, शौरसेनी प्राकृत में पुरव ऐसा ध्वनि परिवर्तन होता है । हेमचन्द्राचार्य ने इसका उदाहरण देते हुए लिखा है कि - अपुरवं नाडअं । अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की प्रस्तावना में इस तरह का एक वाक्य मिल रहा है : णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउंदलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति। (संस्कृतछाया - नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तम् अभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽधिक्रियतामिति ।) किन्तु प्रचलित देवनागरी शाकुन्तल के पाठों में तो 'अपुरवं' नहीं है, अपुव्वं ऐसा रूप चलता है । तथा यह अपुव्वं रूप तो

महाराष्ट्री प्राकृत का है । अतः जिज्ञासा होती है कि आचार्य हेमचन्द्र जी ने शौरसेनी के उदाहरण के रूप में 'अपुरवं नाडअं' ऐसा उदाहरण कहाँ से लिया होगा ? अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की देवनागरी के अलावा जो अन्यान्य वाचनायें है, जैसे कि मैथिली और बंगाली उनमें भी अपुरवं ऐसा शौरसेनी का रूप तो मिलता ही नहीं है । अतः हेमचन्द्राचार्य जी के द्वारा दिये गये उदाहरण का स्रोत गवेषणीय बनता है । डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने काश्मीरी वाचना के अभिज्ञानशाकुन्तल का पाठ सम्पादित किया है । उसमें भी ऐसा रूप नहीं है । वहाँ पर तो 'अपुव्वं' ऐसा महाराष्ट्री रूप ही दिया गया है । तो इसके लिए द्रष्टव्य है ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी की बोडलीयन लाइब्रेरी में १२४७ क्रमांक से संगृहीत शारदालिपि में निबद्ध काश्मीरी पाण्डुलिपि । उसमें 'अपुरवं णाडअं' ऐसा स्पष्ट शौरसेनी का रूप संचरित हुआ दिखाई रहा है । इससे ऐसा सूचित हो रहा है कि आचार्य हेमचन्द्रजी के सामने काश्मीरी पाण्डुलिपि वाला पाठ रहा होगा ।

(५) कृ-गमो डडुअः । ८-४-२४२ (वृत्तिः आभ्यां परस्य क्त्वा-प्रत्ययस्य डित् अडुअ इत्यादेशो वा भवति । कडुअ । गडुअ । पक्षे करीअ। गच्छिय ॥) इस सूत्र के अनुसार कृत्वा एवं गत्वा जैसे कृदन्तों के लिए शौरसेनी प्राकृत में कडुअ और गडुअ रूप प्रयुक्त होते हैं । हेमचन्द्र जी ने इसके उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक से नहीं दिये हैं । इस सन्दर्भ में देवनागरी वाचना के शाकुन्तल (अंक २ और ३) में कृत्वा - रूप का जहाँ प्रयोग हुआ है ऐसे कतिपय वाक्य देखेंगे । १. कुतः किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि । - देव., २. अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मंतेदि । - देव., ३. इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं । - देव. (पृ. ९७) इन सब में कृत्वा के लिए करिअ ऐसा ही रूप दृष्टिगोचर हो रहा है। लेकिन ऐसा करिअ (और करिदूण) रूप तो महाराष्ट्री प्राकृत में ही मान्य है। शौरसेनी का विशेष रूप तो 'कदुअ' ही हो सकता है । तो हेमचन्द्र जी ने जैसा शौरसेनी का रूप निर्दिष्ट किया है वैसा रूप तो 'कदुअ' ही हो सकता है । तो हेमचन्द्र जी ने जैसा शौरसेनी का रूप निर्दिष्ट किया है वैसा रूप भाग्यवशात् ऑक्सफर्ड की उपरि-निर्दिष्ट शारदा पाण्डुलिपि में सुरक्षित मिल रहा है । तथा अभिज्ञानशाकुन्तल का बृहत्पाठ जिसमें संचरित हुआ है ऐसी

मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में भी 'कदुअ' ऐसा ही रूप उपलब्ध हो रहा है ।

(६) न वा र्यो य्यः । ८-४-२६७ (वृत्तिः-शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्यो वा भवति ॥) शौरसेनी प्राकृत में रेफोत्तरवर्ती यकार के स्थान में य्य का प्रयोग होता है । अर्थात् संयुक्ताक्षर के रूप में रहे 'र्य' में समीकरण की प्रक्रिया से 'य्य' जैसा परिवर्तित रूप जन्म लेता है । हेमचन्द्र जी ने उसके उदाहरण के रूप में 'अय्यउत्त पय्याकुलीकद म्हि ।' वाक्य दिया है । लेकिन हमें इस स्वरूप का कोई वाक्य देवनागरी शाकुन्तल में से नहीं मिला है । किन्तु र्य का य्य में पर्यवसान हुआ हो ऐसे एक वाक्य का उदाहरण हेमचन्द्र जी ने इदानीमो दाणिं । ८-४-२७७ सूत्र की वृत्ति में दिया है, जो अभिज्ञानशाकुन्तल से लिया गया है। तद्यथा - अनन्तरकरणीयं दाणिं आणवेदु अय्यो । (शाकुन्तल की प्रस्तावना में) यहाँ पर नटी सूत्रधार को सम्बोधन करते हुए आर्य शब्द के स्थान में अय्यो शब्द का विनियोग करती है । अब देवनागरी वाचना के शाकुन्तल का पाठ देखने पर यही वाक्य इस स्वरूप में मिलता है : नटी - अज्ज, एवं णेदं। अणंतरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु । (पृ. १०) इस तरह प्रचलित देवनागरी वाचना में तो आर्य शब्द का ध्वनि परिवर्तन होकर अज्ज रूप होता है ऐसा प्रदर्शन हुआ है । दूसरी ओर हेमचन्द्र जैसे प्राकृत भाषाओं के व्यापक परिशीलन करने वाले वैयाकरण कहते हैं कि शौरसेनी प्राकृत में तो र्य का य्य ऐसा ही ध्वनि परिवर्तन होता है । अब हेमचन्द्र जी ने जिन वाक्यों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये हैं वह काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपि में उपलब्ध हो रहे वाक्य है, जो सही स्वरूप में शौरसेनी प्राकृत का रूप सुरक्षित रखने वाली परम्परा है । लेकिन इस नाटक का शौरसेनी का पाठ पश्चाद्वर्ती काल में उत्तरोत्तर महाराष्ट्री प्राकृत की और झुकता जा रहा है । इसी तरह से णं नन्वर्थ । ८-४-२८३ (वृतिः- शौरसेन्यां नन्वर्थे णमिति निपातः प्रयोक्तव्यः ॥) सूत्र से कहा गया है कि ननु निपात के लिए शौरसेनी में णं ऐसा निपात प्रयुक्त होता है । यहाँ पर हेमचन्द्र जी ने जो उदाहरण दिया है वह भी द्रष्टव्य है : णं अय्यमिस्सेहिं पुढमं य्येव आणत्तं । (अंक-१) तथा, णं भवं मे अग्गदो चलदि । (अंक-२) इसमें आर्यमिश्रैः के लिए अय्यमिस्सेहिं ऐसा रूप दिया गया है, जो भी शारदा पाण्डुलिपियों के पाठ में ही उपलब्ध

होता है । देवनागरी वाचना में तो, णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं । मिलता है । अर्थात् र्य के स्थान में ज्ज का प्रयोग ही शूरु कर दिया गया है, जो परवर्ती काल की महाराष्ट्री प्राकृत है । एवमेव, संस्कृत भाषा के 'एव' निपात के स्थान में शारदा पाण्डुलिपियों में 'य्येव' चलता है, किन्तु देवनागरी वाचना में 'एव्व' प्रचलित किया गया है । एव का एव्व रूप भी परवर्ती काल का रूप है , और वह शौरसेनी का नहीं है ।

३

आचार्य हेमचन्द्र जी ने मागधी प्राकृत का निरूपण करते समय भी अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठाङ्क के आरंभ में आये हुए धीवर-प्रसंग में से बहुत सारे वाक्य उदाहरण के रूप में दिये हैं । इस प्रसंग में जिस प्राकृत का विनियोग हुआ है वह मागधी-प्राकृत ही है । अतः हेमचन्दाचार्य के द्वारा उद्धृत किये गये इन वाक्यों को प्राचीनकालीन सहायक-सामग्री (Testimonial) के रूप में ग्रहण करके इस सन्दर्भ में प्रयुक्त की गई मागधी-प्राकृत के पाठ का पुनर्वसन (Restoration) किया जा सकता है । क्योंकि ऐसी सहायक-सामग्री हेमचन्दाचार्य जी के द्वारा ११७२ ई.सा. में उद्धृत हुई होने से, शाकुन्तल की उपलब्ध पाण्डुलिपियों के समय से अधिक पुराने समय की वह है । (शाकुन्तल की आज मिलने वाली कोई भी पाण्डुलिपि हेमचन्द्राचार्य के समय की नहीं है।) अतः पाठालोचन की प्रक्रिया में जो प्राचीन से प्राचीनतर और प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की खोज करने का लक्ष्य होता है वह ऐसी प्राचीनतर सहायक-सामग्री के मिलने पर अनायास सिद्ध हो जाती है, जिसको अधिक श्रद्धेय मान कर स्वीकारनी चाहिए ।

हेमचन्द्र ने मागधी-प्राकृत के उदाहरण देने के आशय से अभिज्ञानशाकुन्तल से जिन वाक्यों को उद्धृत किये हैं, वह निम्नोक्त हैं : (१) हगे न एलिशाह कम्माह काली । (अवर्णाद्वा ङसो डाह । सूत्रक्रमांक ८-४-२९९) (२) हगे शक्कावदाल-तिस्त-णिवाशी धीवले । (अहं-वयमोर्हगे । सूत्रक्रमांक ८-४-३०१), (३) पविशदु आवुत्ते शामि पशादाय । (र-सोर्ल-शौ । सूत्रक्रमांक ८-४-२८८), (४) मालेध वा धलेध वा, अयं दाव शे आगमे । (मारयत वा धरत वा, अयं तावत् तस्य आगमः ।) (वादेस्तावति । सूत्रक्रमांक ८-४-२६२), (५) अले कुम्भिला कधेहि । (थो धः । सूत्रक्रमांक ८-४-२६७),

(६) किं खु शोभणे बह्मणे शि त्ति कलिय, लज्जा पलिग्गहे दिण्णे । (कत्व इय दूणौ । सूत्रक्रमांक ८-४-२७१), (७) गश्च । (छस्य श्चोडनादौ । सूत्रक्रमांक ८-४-२९५) ॥

हेमचन्द्र के द्वारा दिये गये इन वाक्यों की तुलना प्रचलित देवनागरी वाचना में जो प्राकृत रूप मिल रहे हैं उसके साथ करनी चाहिए : (१) हगे ण ईदिशकम्मकाली । (२) हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले । (३) पविसदु आवुत्ते शामिपशादश्श । (४) मालेह वा मुंचेह वा, अअं से आअमवुतंत्ते । (५) अले कुंभीलआ, कहेहि । (६) किं सोहणे बम्हणेति कलिअ रज्जा पडिग्गहे दिण्णे । (७) तह, गच्छ, अले गंडभेदअ ॥ इन उदाहरणों में मागधी प्राकृत के सभी लक्षण घटित नहीं होते हैं । अर्थात् महाकवि कालिदास ने भरतमुनि की सूचनाओं को दृष्टि समक्ष रखते हुए जिस तरह की मागधी प्राकृत का विनियोग किया होगा वह कालान्तर में (विशेष रूप से देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में) बहुत कुछ बदला हुआ है । यहाँ जो शब्द दिये है उसमें दिख रहे ध्वनि-परिवर्तन महाराष्ट्री प्राकृत की ओर झुकता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है ।

४

षष्ठांक के आरंभ में जहाँ धीवर-प्रसंग वर्णित है उसमें (भरतमुनि की सूचना के अनुसार) मागधी प्राकृत संवादों का होना अपेक्षित है, किन्तु देवनागरी वाचना वाले शाकुन्तल के संस्करणों में प्राकृत उक्तिओं में धीरे-धीरे महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव बढ़ता जा रहा है । जिसके कारण कुछ स्थानों पर अपपाठो ने भी जन्म ले लिया है । जैसे कि, कथयति क्रियापद का मागधी प्राकृत में कधेहि - ऐसा रूप होता है । क्योंकि मागधी में थकार का धकार में परिवर्तन होता है । किन्तु कालान्तर में, (द्वितीय स्तर पर) उस धकार का महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से हकार में परिवर्तन किया गया । जिसके फल स्वरूप कहेहि रूप बना होगा और उसे 'यह लोडर्थक (आज्ञार्थक) (=कथय) रूप है' ऐसी भ्रान्ति को जन्म दिया होगा । परिणामतः, आवृत्त परितोषं कहेहि । ऐसी उक्ति का संस्कृतछायानुवाद करने का प्रसंग आया होगा तब, राघव भट्ट जैसे टीकाकार ने भी यह ध्यान में नहीं लिया कि कधेहि जैसे मागधी क्रियापद का (महाराष्ट्री-प्राकृतीकरण होने के बाद) यह कहेहि रूप पाण्डुलिपियों में चल पड़ा है ।

उसका छायानुवाद कथय के रूप में न करके, कथयति के रूप में ही करना अनिवार्य था । लेकिन महाराष्ट्री-प्राकृत के स्वरूप को हि मूलपाठ मान लेने के कारण कहेहि का छायानुवाद कथय कर दिया गया है । द्रष्टव्य है जानुक की उक्तिः - आवुत्त, पलिदोशं कहेहि । तेण अंगुलीअएण शम्मदेव भट्टिणो होदव्वं । (छाया-आवुत्त, परितोशं कथय । तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम् ।)[५] यहाँ किसी भी तरह से कथय ऐसा संस्कृच्छायानुवाद सुसंगत नहीं है । फिर भी वही पाठ देवनागरी परम्परा में चल रहा है ।

५

हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में उद्धृत हुए शौरसेनी एवं मागधी के जिन उदाहरणों की तुलना प्रचलित देवनागरी पाठ के साथ की जाती है तो मालूम होता है कि समग्र भारत की विद्वत्ता जिस ददेवनागरी पाठ को श्रद्धेय मान रही है, वह पाठ तो उपर्युक्त भाषाकीय तथ्य को मध्ये नजर रखते हुए उत्तरवर्ती काल का सिद्ध हो रहा है । और संस्कृत पाठालोचन का प्रथम कर्तव्य यही मानना चाहिए कि हम प्राचीन से प्राचीनतर और प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की पहले खोज करें । इसके लिए उपलब्ध पाण्डुलिपियों से भी अधिक पुरानी सहायक-सामग्री जो हो उसे हस्तगत कर ले । यदि ऐसी सामग्री श्रद्धेय स्रोत से मिल रही हो और उस बहिरङ्ग सामग्री में दिख रही पाठपरम्परा का समर्थन करने वाली कोई एकल (काश्मीरी जैसी) वाचना भी कहीं से उपलब्ध हो रही है, तो उसका समादर करके, प्राचीनतर पाठ का पुनर्वसन कर लेना चाहिए। उपर्युक्त समग्र चर्चा एवं तुलना हमें यह सूचित करती है कि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की देवनागरी वाचना के संस्करणों में प्रचलित हुआ (परवर्ती काल का) महाराष्ट्री प्राकृत का स्वरूप त्याग कर, जिस पाठ में शौरसेनी एवं मागधी के लक्षण विद्यमान रहे हैं, उसको प्राचीनतम (एवं अधिक श्रद्धेय) मान कर उसे 'समीक्षित' पाठ के रूप में अपना लेना चाहिए, पुनः प्रतिष्ठित करना चाहिए ।

---

५. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । (राघवभट्ट कृतार्थद्योतनिकया सहितम्) सं. नारायण राम, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, २००६ पृ. १८७

सन्दर्भ सूची

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । (राघव भट्टकृतार्थद्योतनिकया सहितम्), सं. नारायण राम, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ही, २००६

२. कालिदास ग्रन्थावली, सं. श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, १९८६.

३. नाट्यशास्त्रम् । (मूलमात्रम्) सं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएन्टालिया, वाराणसी, १९८०.

४. प्राकृत-प्रकाशः । (भामहकृत-मनोरमा-व्याख्या सहित) सं. मथुराप्रसाद दीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीझ आफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण १९५९.

५. हेमचन्द्राचार्यकृतं प्राकृत-व्याकरणम् (अष्टमोऽध्यायः), सं. वज्रसेन विजय, श्रीजैन आत्मानंद सभा, भावनगर, १९८२.

६. S'akuntala Ed. Monier Williams, Chawkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 3rd Edition, 1961

उपक्रम-17

प्रकृति समस्त में अनुस्यूत शकुन्तला की जीवनी

भूमिका :

महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्य के लिए ऐसा कहा गया है कि ''इतिहासोत्तमाद् अस्माद् जायन्ते कविबुद्धयः'' । (इस उत्तम इतिहास में से भविष्य में अनेक कविबुद्धिओं का जन्म होगा ।) इसमें विशाल फलक पर ऐसा मानवजीवन वर्णित है कि उसीमें से प्रेरणा प्राप्त करके भविष्य में विविध काव्यों के सर्जन होते रहेंगे । और ऐसा हुआ भी है । संस्कृत महाकविओं ने अपनी अपनी काव्यसृष्टि का निर्माण करने के लिए प्रायः ख्यात-इतिवृत्त का ही विनियोग किया है । जैसे कि भास ने ऊरुभङ्ग, कर्णभारादि रूपकों की रचना के लिए महाभारत की कथा का ही समाश्रयण किया है । महाकवि कालिदास ने भी इसी मार्ग का अनुगमन किया है । महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत सम्भवपर्व (अध्याय ६२ से ६९) में शकुन्तला के विवाह की कथा आती है। इसमें से दुःषन्त और शकुन्तला की कथा को लेकर कालिदास ने अपने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की रचना की है । अनेक विद्वानों ने मूल महाभारत की कथा में कौन कौन से बिन्दु थे और उनमें कालिदास ने कौन से परिवर्तन किये हैं, एवमेव उनमें किन किन नवीन बिन्दुओं की कल्पना की है ? इस विषय की बहुत बारिकी से चर्चा की है । जिसमें मुख्य रूप से कौन से नवीन प्रसंगों का कल्पन किया गया है, एवं किन किन नवीन पात्रों का कालिदास ने सर्जन किया है ? इत्यादि का विवरण मिलता है । उदाहरण के लिए, महामहोपाध्याय श्री एम. आर. काले महाशय ने कहा है कि महाभारत में वर्णित दुःषन्त-शकुन्तला की

विवाहकथा में प्रणय की कोई रोमांचकता नहीं है। ऐसे एक सरल कथा-कंकाल में महाकवि कालिदास ने नवजीवन का संचार किया है। श्री काले ने कालिदास की तुलना शेक्सपियर के साथ करते हुए कहा है कि दोनों ने अपने नाटकों के लिए भूतकाल में घटित घटना में से ही कथावस्तु का ग्रहण किया है।[१] अर्थात् दोनों विश्वकविओं ने नवीन कथावस्तु के निर्माण में अपनी कल्पना-शक्ति का खर्च नहीं किया है ॥

बल्कि, जो कथा पुरातन काल से आम जनता में सुप्रचलित होती है उसी को लेकर नाट्यकार उसको नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने के लिए उसमें आवश्यक परिवर्तन कर लेते हैं। ऐसी इतिहासप्रसिद्ध कथा में वे अपना स्वकीय जीवनदर्शन भी दाखिल करके कोई चिरंजीव काव्यार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। जब भी कोई कथावस्तु परापूर्व से प्रचलित हो गई है, तो उसीका स्वीकार करने से प्रेक्षकों को कथा-प्रवाह को समझने के लिए कोई कष्ट नहीं उठाना है। यद्यपि ऐसा होने पर प्रेक्षकों में कथाप्रवाह का कौतुक नहीं होता है, लेकिन उसको कैसी नाटकीय शैली में प्रस्तुत किया गया है, तथा उसमें कैसे कैसे नवीन रस एवं भावों का निरूपण किया गया है ? वही कौतुक का विषय बनता है। तथा उसीमें नाट्यकार का कवित्व खोजा जाता है। काव्यशास्त्रियों ने कहा है कि कथावस्तु पुरातन होते हुए भी, यदि कवि के द्वारा उसी में नवीन रसादि का संचार किया जाता है, तो वह पुरानी कथा

१. Shakespeare has nowhere originated the main plots of his dramas, but in his hands they received life and meaning made him what he is - the unrivalled master of his art, our poet too, selected a mythological love-story to serve as the basis of his drama, fully conscious that such a story would have greater charm for his contrymen. His poetic genious aided by his deep dramatic insight quickly saw that the story, though simple and unromantic in its form, was pre-eminently fitted to be the nucleus of such dramatic situations and incidents as would stir up the hearts of his countrymen, or rather of all men of poetic susceptibility, and produce a magical effect upon them. The Abhijnaanasakuntalam of Kalidasa, Ed. M.R. Kale, Motilal Banarasidass, Delhi, 1969, p.57

अभिनव स्वरूप को धारण करती है। जैसे मधुमास मे नवीन रसों के संचार से पुराने वृक्ष भी नवनवीन शोभा को धारण करते है[२]।

(१)

महाभारत की शकुन्तला-कथा में कुछ प्रमुख बिन्दुएँ ध्यानास्पद हैं : मृगयाविहारी दुःषन्त एकदा कण्व मुनि के आश्रम में जा पहुँचता है। मुनि फलाहार के लिए बाहर गये थे। शकुन्तला आश्रम में अकेली थी। राजा ने उनका परिचय पूछा। शकुन्तला ने ही स्वयं अपने जन्म का वृत्तांत सुनाया। मेनका और विश्वामित्र के संयोग से इसका जन्म हुआ है ऐसा सुनते ही, राजा ने उसको राजपुत्री जानकर, इसके सामने सद्यो विवाह के लिए प्रस्ताव रखा। (महाभारत में राजा का नाम दुःषन्त है, दुष्यन्त नहीं।) राजा दुःषन्त के शब्द ऐसे हैं,

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि, भद्रे किं करवाणि ते ॥ ६७-१
सर्वं राज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ॥ ३,
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४

यहाँ, राजा शकुन्तला के साथ विवाह करने के लिए इतना उतावला हो गया दिखता है कि वह पिता कण्व, जो नझदीक में मालिनी नदी के तट पर फलाहार लेने बाहर गये हैं, उनके वापस आने की प्रतीक्षा भी नहीं कर सकता है। वही शकुन्तला को कहता है कि तुं ही तेरे जीवन का निर्णय कर ले। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, आत्मा ही आत्मा की गति है। धर्म के अनुसार तुं स्वयं ही तेरा दान करने को योग्य है। क्षत्रियों के लिए गान्धर्व-विवाह धर्म्य है। इस प्रस्ताव को सुनकर शकुन्तला ने एक शर्त के साथ उस विवाह-प्रस्ताव का स्वीकार किया। जैसे कि,

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥ ६७-१५
मम जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम् ॥ १६,

२. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्। सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥ ध्वन्यालोकः, (४-४), सं. आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९८५

युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीहि मे ।
यद्येतदेवं दुःषन्त अस्तु मे संगमस्त्वया ॥ १७ ॥
एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाऽविचारयन् ॥ १८ ॥
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह ॥ १९ ॥

इन शब्दों को देखकर लगता है कि इन दोनों के विवाहसम्बन्ध में प्रेम का कोई स्थान ही नहीं था । महाभारत में वर्णित दुःषन्त-शकुन्तला की कहानी को हम एक विवाहकथा ही कह सकते है, उसे प्रणयकथा नाम नहीं दिया जा सकता[३] ॥ गान्धर्व-विवाहोपरान्त राजा ने कहा तो था कि में यहाँ से वापस जाने के बाद, तुम्हे चतुरंगिणी सेना के साथ हस्तिनापुर में ले आने का बंदोबस्त करूंगा । लेकिन कण्व मुनि कदाचित् शाप देंगे तो ? उसी भय से वह ऐसा नहीं करता है ॥ दूसरी और, शकुन्तला पुत्र भरत को जन्म देती है। वह जब छह वर्षो का हो जाता है, तब कण्व मुनि शकुन्तला को पति के घर उसको ले जाने को कहते हैं । तत्पश्चात् हस्तिनापुर के राजदरबार में पहुँचने पर राजा दुःषन्त शकुन्तला का स्वीकार करने से इन्कार कर देता है । महाभारतकार कहते हैं कि - सोऽथ श्रुत्वैव तद्वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि । अब्रवीन्, न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥ ६८-१८ ॥ राजा को शकुन्तला के साथ किये हुए विवाह का स्मरण था, फिर भी वह उसे कहता है "मुजे कुछ स्मरण में नही आता है । हे दुष्टतापसी, तुम कौन हो ?" तब निःसहाय शकुन्तला ने क्रोधपूर्वक लम्बा भाषण दिया, जिसमें सत्य, स्त्री और पुत्र के साथ जुडे धर्म्य संबंध का विवरण किया । किन्तु सब व्यर्थ रहा । अन्त में जब आकाशवाणी होती है कि राजन्, तूं इस शकुन्तला का स्वीकार कर । यह भरत तेरा ही पुत्र है, तूं उसकी अवमानना न कर ।" अथान्तरिक्षे दुःषन्तं वागुवाचाशरीरिणी । ६९-२८. भरस्व पुत्रं दुःषन्त माऽवमंस्थाः शकुन्तलाम् । १९" ॥ तब राजा उन दोनों का स्वीकार करने को तैयार होता है । यहाँ पर दुःषन्त के जो शब्द है, वह देखना आवश्यक है **:**

३. शायद इसी लिए महाभारत में उसे 'उपाख्यान' का दरज्जा भी नहीं दिया गया है । यह शकुन्तलोपाख्यान नहीं है, शकुन्तला-कथा है ।

शृण्वन्त्वेतद् भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ।
अहमप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम् ॥ ६९-३५.
यद्यहं वचनादेव गृह्णीयामिममात्मजम् ।
भवेद्धि शङ्का लोकस्य नैवं शुद्धो भवेदयम् ॥

दुःषन्त ने इन शब्दों के द्वारा शकुन्तला का प्रथम क्षण में अस्वीकार करने का जो कारण कहा है, वह किसी भी काल में प्रतीतिकर नहीं है और शोभास्पद भी नहीं है ॥ (यहाँ दुःषन्त ने कहा है कि शकुन्तला के कहने मात्र से यदि वह उस भरत का अपने पुत्र के रूप में स्वीकार कर लेता है, तो लोकमानस में उसकी मेरे वंशज के रूप में शुद्धि नहीं होती । अब आकाशवाणी से वो बात साफ हो जाती है, इसी लिए मैं उसका स्वीकार कर सकता हूँ।)

गुजराती भाषा के कविवर्य श्री उमाशंकर जोशी जी जैसे कुछ विद्वानों ने यहाँ ऐसा सोचा है कि ऋषि के डर से नायक दुःषन्त शकुन्तला को हस्तिनापुर में न ले आवे, और वह स्वयं आवे तब उसका अपमान करें, विवाहसम्बन्ध का स्मरण होते हुए भी मुझे कुछ स्मरण में नहीं है ऐसा कहे तो उसके लिए हमारे, प्रेक्षकों के दिल में उसके लिए कोई सहानुभूति पैदा नहीं होती है । प्रेक्षक ऐसा ही सोचेगा की दुःषन्त शकुन्तला के योग्य पति नहीं था । कालिदास ने नायक दुःषन्त के ऐसे चरित्र में सुधार लाने का सोचा है । जिसके लिए उन्होंने दुर्वासा के शाप की कल्पना की है । इस योजना से शापग्रस्त नायक की निःसहायता व्यञ्जित होती है, जिससे वह दर्शकों की सहानुभूति का भाजन बना रहता है।[४] ॥

विद्वानों को ऐसा भी लगा है कि इसमें नायिका शकुन्तला की 'दुःषन्त-परिणीता पत्नी' के रूप में पहचान करने की समस्या है । अतः दुःषन्तनामधेयाङ्किता अङ्गुलीयक केन्द्र में है । प्रथम दृष्टि में यह सही है । लेकिन महाकवि ने इस कहानी को बहुत गेहराई से देखी है । महाभारत की इस कहानी में नायक के चरित्र की गरिमा की सुरक्षा करने का केन्द्र में नहीं है । एवमेव, दुःषन्त की पत्नी के रूप में केवल शकुन्तला की पहचान भी मुख्य नहीं है । इसमें तो दुःषन्त और शकुन्तला के एकान्त में हुए विवाह से

४. शाकुन्तल । सं. एवं अनुवादक श्री उमाशंकर जोशी, गूर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९८८, तृतीयावृत्ति (प्रस्तावना, पृ. १२-१३)

पैदा हुई सन्तति के अभिज्ञान का सवाल ही केन्द्र में है । क्योंकि शकुन्तला के पुत्र भरत को यदि दौष्यन्ति के रूप में स्वीकारा जाय तो ही, वह राजगादी का वारिस बननेवाला होगा । अतः आम प्रजा में उसकी राजपुत्र के रूप में प्रतिष्ठा करने के लिए पुत्र भरत के अभिज्ञान की समस्या ही केन्द्र में है । इस समस्या को ही कालिदास ने नाटक के शीर्षक में स्थान दिया है और उसे (अर्थात् भरत की पैतृक पहचान को) सप्तम अंक में रमणीय नाटकीयता के साथ प्रस्तुत की है[५] ॥ नाट्यकार कालिदास की सर्जनप्रतिभा का दर्शन यहाँ हो रहा है ॥

२.

महाकवि कालिदास की काव्यसृष्टि का दूसरा आविष्कार देखने के लिए महाभारत की पात्रसृष्टि एवं उन्होंने अपने इस नाटक में रखी पात्रसृष्टि की तुलना करनी आवश्यक है । महाभारत में प्रकट रूप से तो दुःषन्त और शकुन्तला ही है । तथा कण्व मुनि कुछ दो-चार वाक्य बोले हैं । अन्य तीन पात्रों का केवल नामोल्लेख हुआ है । वे है : १. मेनका. २ विश्वामित्र और ३. पुत्र भरत । इससे अधिक एक भी पात्र यहाँ उपस्थित या उल्लिखित नहीं है। (आनुषङ्गिकतया यह भी ज्ञातव्य है कि महाभारत में इसको 'शकुन्तलोपाख्यान' शब्द से अभिहित नहीं किया गया है ॥)

इनके सामने, हमारे सामने कालिदास ने जो स्वकल्पित पात्रसृष्टि रखी है उसमें तो शकुन्तला की दो सहेलियाँ - प्रियंवदा और अनसूया, आश्रममाता गौतमी, शार्ङ्गरव और शारद्वत जैसे दो ऋषिकुमार, महर्षि दुर्वासा, तथा हस्तिनापुर में राजा का नर्मसचिव माधव्य (विदूषक), सारथि, सेनापति, करभक, ज्येष्ठा वसुमती और सकृत्कृतप्रणया हंसपदिका, कञ्चुकी, वैतालिक, राजपुरोहित, साकेतनिवासी वारिपथोपजीवी श्रेष्ठी धनमित्र, शक्रावतारनिवासी माछीमारी (धीवर), श्यालक जानुक, रक्षकवर्ग के व्यक्ति, उद्यानपालिकायें,

५. अतः श्री उमाशंकरजी ने नाटक का जो नाम केवल "शाकुन्तल" इतना ही दिया है, वह उचित नहीं है । यदि शकुन्तला नायिका को केन्द्र में रखकर ही नाटक लिखा गया हो तो ही ऐसा नाम पर्याप्त माना जा सकता है । इसमें तो अभिज्ञान की समस्या केन्द्र में है, अतः अभिज्ञानशाकुन्तल जैसा कविप्रदत्त नाम बदल देने से मूल को हानि ही होगी । अस्तु ॥ श्री जोशीने दिया शीर्षक कवि के आशय को अन्धेरे में डालता है॥

मेनका की सखी सानुमती, मातलि, ऋषि मारीच, अदिति, तापसकन्यायें, बालमृगेन्द्र और उसके साथ खेलनेवाला सर्वदमन भरत इत्यादि । इन सभी पात्रों के साथ जुडे हुए विविध प्रसंगो की सुग्रथित हारमाला भी कविने रखी है । जिससे यह अभिनेयकाव्य शृंगार, हास्य एवं करुणादि रसों से सुमण्डित हुआ है ॥ (अनेक विद्वानों ने इनका विस्तृत परिचय अन्यत्र दिया ही है ।) अतः उसकी पुनरुक्ति करना अनावश्यक है ।) । किन्तु उपर्युक्त पात्रसृष्टि को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि इस महाकवि की कल्पनाशक्ति अनितरसाधारण है ॥

३

कालिदास की उपर्युक्त विस्तृत पात्रसृष्टि निःसंशय कल्पनाजनित है, एवमेव इससे सम्बद्ध प्रसंगचित्रण भी उनकी काव्यकला का आश्चर्यजनक आविष्कार है । लेकिन यहाँ दी गई पात्रसृष्टि का इतना विस्तृत परिगणन भी संपूर्ण नहीं है । क्योंकि शकुन्तला तो निसर्गकन्या है[६] । शकुन्तला के साथ साथ जब तक हरिण नहीं है, दीर्घापाङ्ग नामक मृगपोतक नहीं है, गर्भमंथरा हरिणी नहीं है, तब तक शकुन्तला का व्यक्तित्व अपूर्ण है । अकेली शकुन्तला को हम नहीं पहचान पायेंगे तब तक, जब तक सरसिज कमल को हम याद नहीं करेंगे । और उस कमल का अस्तित्व भी अधूरा है, जब तक उसके कर्णान्तिक में गुंजन करनेवाला भ्रमर नहीं होगा । शकुन्तला तब तक सुशोभित नहीं होगी, जब तक उसने अपने कानों में शिरीष पुष्प नहीं पहेने होंगे । और शकुन्तला तब तक "शकुन्त-ला' नहीं बनेगी, जब तक उसके आसपास में रहनेवाले चक्रवाक, कोकिल, हंस, मयूरादि का पक्षिगण नहीं होगा । (क्योंकि उन पक्षिओं ने ही तो उसे जन्म के साथ सब से पहेला परिरक्षण दिया था ।) अरे, शकुन्तला तब तक पानी भी नहीं पिएगी जब तक उसने केसरवृक्ष को, वनज्योत्स्ना नामाङ्किता नवमालिका को एवं माधवीलता को, और सहकार वृक्ष को पानी नहीं पिलाया होगा । कहने का तात्पर्य यहीं है कि इस अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में केवल मानवों से भरी पात्रसृष्टि ही नहीं है, उसमें तो पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्ष,

६. जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु । कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम् ॥ दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन् ॥ निर्जने च वने यस्माच्छकुन्तैः परिरक्षिता । शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥ ६८-८,१०,१४

लताएँ, भ्रमर, हाथी, बालमृगेन्द्रादि की (मानवेतर) सृष्टि भी सक्रिय पात्रसृष्टि के रूप में मानवपात्रसृष्टि के साथ साथ में बराबर अनुस्यूत है। ऐसी पात्रसृष्टि इस नाटक का अविभाज्य अंग है। और इसीने इस नाटक को सार्वभौम बनाया है। इस तरह की उपादान-सामग्री को कालिदास ने कहाँ से प्राप्त की होगी ? इसको जाने बिना महाकवि की कारयित्री प्रतिभा का सर्वांगीण परिचय नहीं मिल सकेगा।

अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा महाभारत से ली गई है ऐसा सभी विद्वानों ने कहा है। **किन्तु उपरि भाग में वर्णित हरिण, चक्रवाक, भ्रमर, गज इत्यादि महाकवि कालिदास की संवेदना में कहाँ से प्रकट हुए हैं यह किसी ने नहीं बताया है।** इसको जानने के लिए हमें फिर से महाभारत के उक्त अध्यायों में ही जाना पडेगा।

४

महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत सम्भवपर्व में अध्याय -६४ में कहा गया है कि राजा दुःषन्त मृगया के हेतु एक बन में से दूसरे वन में घुमता हुआ आश्रम से युक्त किसी वन में पहुँचा। उस वन मे पुष्पों से अलंकृत वनस्पति का विपुल वैभव बिखरा था। उसमें पक्षियों और भ्रमरों का संचार श्रवणमधुर नाद पैदा कर रहा था। जैसे कि,

पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव, सुखशाद्वलम् ।
विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ॥ ६४-४
प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृत्तम् ।
षट्पदाघूर्णितलतं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ५
नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी ।
षट्पदैर्वाप्यनाकीर्णस्तस्मिन्वै काननेऽभवत् ॥ ६
विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च ।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैरतीव सुखशाद्वलम् ॥
मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम् ॥ ८

महाभारत-स्थित इस वर्णन को पढकर, महाकवि कालिदास की कारयित्री प्रतिभा ने कालातिक्रम करके उस वन में साक्षात् प्रवेश किया है।

लगता है कि कवि ने उसमें घुमती फिरती शकुन्तला को देखी है। यदि इस वन में एक भी वृक्ष ऐसा नहीं था कि जिस पर पुष्प न हो और सर्वत्र षट्पदों का आघुर्णन प्रवर्तमान न हो तो, कवि के संवेदनशील मन ने यह देख ही लिया होगा कि वहाँ घुमती शकुन्तला भ्रमरों से एक बार आघ्रात हुए और तुरंत परित्यक्त हुए पुष्पों को दयापूर्वक देखती है। वह उनको स्नेह से उठाकर अपने बालों में आभूषण के रूप में स्थापित करती है। ऐसे क्रान्तदर्शी कवि के हृदय से ही आकारित हुआ होगा नटी का वो गीत, जो नाटक की प्रस्तावना में ही रखा गया है **:**

क्षणचुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि ।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥

जिस शकुन्तला को जन्म देकर, पिता विश्वामित्र ने मेनका को छोड दी हो, और वो तपश्चर्या करने के लिए अरण्य में चले गये हो, तो ऐसी कन्या के मन में ही अपनी माँ की और स्त्रीजीवन की वेदना चिरकाल के लिए अंकित हो जाती है। अतः उपर्युक्त श्लोक में उसी वेदना को कालिदास ने शब्दबद्ध कर दी है। क्षणचुम्बित का मतलब होता है 'एक बार का संयोग'' जो विश्वामित्र और मेनका का संयोग था। और वही दुःषन्त-शकुन्तला के प्रसंग में आगे चलकर होनेवाला है, इसका इङ्गित नटीगीत में रखा गया है। व्यञ्जना का दीर्घ, दीर्घतर व्यापार शूरु होते ही मालूम होता है कि स्त्री-पुरुष के बीच ऐसे एक बार के संयोग से जो सन्तति पैदा होती है, उदाहरण के लिए भरत को लीजिए, तो उसकी पैतृक पहचान, अर्थात् **अभिज्ञान** का सवाल उठता ही है। कवि कालिदास को महाभारत में वर्णित वन में भ्रमरों से क्षणचुम्बित और तत्पश्चात् परित्यक्त पुष्पों की जीवन-दास्तान का साम्य शकुन्तला के जीवन में देखने को मिला होगा।

उसी तरह, से महाभारत का दुःषन्त कण्वाश्रम में जब पहुँचता है, तब कहा गया है कि उस समय शकुन्तला आश्रम में अकेली ही थी। आश्रम के प्रांगण में खड़े रह कर दुःषन्त ने आवाज दी थी कि कोई इस आश्रम में है की ?

''ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यदाश्रमे तस्मिन्नृषिं संशितव्रतम् ॥ ६५-१ ॥

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाश्रमम् ।
उवाच क इहेत्युच्चैःर्वनं संनादयन्निव ॥ ६५-२॥

राजा दुःषन्त की आवाज सुन कर तापसवेषधारिणी शकुन्तला बाहर आती है और उसका स्वागत करती है । लेकिन महाकवि की क्रान्तदृष्टि कालातिक्रमण करके इन दोनों की प्रथम मुलाकात कैसी आकारित हुई होगी ? वह सोचती है । नहीं, सोचती नहीं है, कवि की कल्पनादृष्टि देखती है कि यदि इस वन में इतने सारे भ्रमर गुंजारव करते हुए इधर-उधर उडते रहते हैं तो, जब शकुन्तला लताओं और वृक्षों को जलसिंचन कर रही होगी तब कोई भ्रमर उड़ कर शकुन्तला के वदनकमल पर मंड़रा रहा होगा, और उसी क्षण राजा दुःषन्त उसको साहाय्य करने के लिए दौड़ गये होंगे । कवि की कल्पनादृष्टि में, शकुन्तला को परेशान कर रहे किसी भ्रमर से छुडाने के लिए सानुक्रोश बने राजा का सहसा आ पहुँचना और चाक्षुषप्रीति का होना ही नैसर्गिक था । महाभारत के वनों में घुमता भ्रमर कालिदास की कल्पना को पूरी तरह से झङ्कृत कर गया है । कोई माने या न माने, उसमें से ही हमें मिला है इस नाटक का भ्रमरबाधा-प्रसंग ॥

५

महाभारत के वन-वर्णन में कहा गया है कि दुःषन्त वहाँ के कुसुममण्डित लतागृहोंवालें प्रदेशों को देखकर बहुत प्रमुदित हुआ । ऐसे प्रदेश मानव-मन में प्रीतिवर्धन कर रहे थे । वहाँ वृक्षों की जो हारमाला थी उसमें भी एक विशेष शोभा थी । उन लत्ताओं और वृक्षों की शाखायें परस्पर में आश्लिष्ट थी । तथा वहाँ जो सुगंधी वायु का संचार था वह भी मानों वृक्षों को परस्पर में स्नेहबद्ध करने के लिए रिरंसायुक्त था । महाभारतकार के शब्दों को देखते हैं :-

तत्र प्रदेशांश्च बहून्कुसुमोत्करमण्डितान् ।
लतागृहपरिक्षिप्तान् मनसः प्रीतिवर्धनान् ।
संपश्यन् स महातेजा बभूव मुदितस्तदा ॥ ६४-११
परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमाचितैः ।
अशोभत वनं तत्तैर्महेन्द्रध्वजसंनिभैः ॥ ६४-१२ ॥
सुखशीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः ।
परिक्रामन् वने वृक्षान् उपैतीव रिरंसया ॥ ६४-१३ ॥

लगता है कि कवि कालिदास ने इस वर्णन को पढ कर ही कल्पनाविहार करके देखा है कि मालिनी नदी के तट पर आये हुए इसी वन में लतागृहों से भरे प्रदेशो में दुःषन्त और शकुन्तला निर्जन स्थान में बैठे होंगे। उन दोनों की एकान्त प्रेमगोष्ठियाँ यहाँ ही हुई होगी । अतः शाकुन्तल नाटक के तीसरे अंक के अंत में गौतमी आकर शकुन्तला को अपने साथ में वापस ले जाती है, तब शकुन्तला ने अन्यापदेश से जो कहा है कि - अयि लतावलय[७] (लतागृह) संतापहारक । आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय । वह कवि की संविति से कैसे प्रकट हुए होंगे वह समझ में आ जाता है ॥ एवमेव, लताओं और वृक्षों की डालियाँ जो परस्पर में आश्लिष्ट हुई थी ऐसा वर्णन है उसको पढकर ही शायद कवि कालिदासने सोचा होगा कि इन परस्पर डालियों को देख कर क्या शकुन्तला ने कभी स्वयंवर विवाह का नहीं सोचा होगा ? कवि कहते हैं कि सोचा ही होगा । इस कल्पनाविहार में से ही, प्रथमांक का निम्नोक्त संवाद आकारित हुआ होगा :

अनसूया - हला शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेया वनज्योत्स्नेति नवमालिका । एनां विस्मृतासि ।

शकुन्तला - हला, रमणीये खलु काले एतस्य लतापादपमिथुनस्य व्यतिकरः संवृत्तः । नवकुसुमयौवना वनज्योत्स्ना, स्निग्धपल्लवतयोपभोगक्षमः सहकारः । (पश्यन्ती तिष्ठति)

प्रियंवदा - अनसूये, जानासि किं शकुन्तला वनज्योत्स्नामतिमात्रं पश्यतीति ।

अनसूया - न खलु विभावयामि । कथय ।

प्रियंवदा - यथा वनज्योत्स्नानुरूपेण पादपेन संगता, अपि नामैवम् अहमपि आत्मनोऽनुरूपं वरं लभेयेति ।

कण्व मुनि के आश्रम के आसपास परस्पराश्लिष्ट शाखाओं वाले लता एवं वृक्षों के स्वयंवर विवाह को देख कर भी तो शकुन्तला के मन में दुःषन्त का वरण कर लेने का विचार आ सकता था । महाभारतकार ने इन दोनों के

७. देवनागरी वाचनानुसारी पाठ में -लतावलय है, काश्मीरी वाचनानुसारी पाठ में लतागृह शब्द है, महाभारत को मूलस्रोत रूप सामग्री मानी जाय तो काश्मीरी पाठ को मौलिक मानना होगा । उच्चत्तर समीक्षा यह कहती है ।

विवाह सम्बन्ध में जो कहा है वह तो बहुत कृत्रिम या प्राकृत नीरस विवाह-सम्बन्ध है ॥ इतने सारे पुष्पमण्डित, भ्रमरगुञ्जित स्थान पर तो कुछ अन्यथा ही हो सकता था, जो क्रान्तदर्शी महाकवि कालिदास ने करके दिखाया है ॥

६

महाभारतकार ने कहा है कि मालिनी नदी के आसपास में स्थित उस वन में अनेक भ्रमरों के साथ में अनेक पक्षियों का भी कलरव हो रहा था, और उसमें शामिल थे चक्रवाक पक्षी भी । वहाँ किन्नर गण, वानर और ऋक्ष (भल्लुक) आदि भी थे । तथा मत्त हस्ती, शार्दूल एवं सर्पराज भी निवास करते थे । उसके तट पर आये आश्रम को देख कर राजा ने उसमें जाने का विचार किया ।

नदीमाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः ।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव विष्ठिताम् ॥ ६४-२०
सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम् ।
सकिन्नरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम् ॥ २१
पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम् ।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम् ॥ २२
नदीमाश्रमसंबद्धा दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तथा ।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥ २३

ऐसी वैविध्यपूर्ण जीवसृष्टि से भरे वन में से शकुन्तला जब हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करती है, तो महाभारतकार ने केवल इतना ही कहा है कि शकुन्तला अपने विदित वन में से निकल कर दुःषन्त के पास पहुँची । (''गृहीत्वामरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम् । आजगाम ततः शुभ्रा दुःषन्तं तरुणादित्यवर्चसा ॥ (६८-१३)'' ।) लेकिन कालिदास की क्रान्तदृष्टि ने देखा है कि इतनी निर्ममता से इन पक्षिओं ने शकुन्तला को नहीं जाने दिया होगा। वन में से बिदा ले रही शकुन्तला को देख कर जरूर कोई चक्रवाक पक्षी ने संकेत दिया ही होगा कि शकुन्तला एक दुष्कर कर्म कर रही है । कालिदास की काव्यसृष्टि में कहा गया है कि शकुन्तला की विदा को देख कर विषादग्रस्त चक्रवाक पक्षी भी अपनी प्रियतमा से उदासीन होकर, शकुन्तला की ओर उन्मुख हो गया है, और चक्रवाकी के पुकार ने पर भी वह उसीको उत्तर नहीं

दे रहा है। जिसको देखते ही शकुन्तला की समझ में आ जाता है कि वह भी जब पति के पास जायेगी, वहाँ अपना घर बसायेगी, और कदाचित् पतिदेव किसी कार्यवशात् घर जल्दी से वापस नहीं लौटेंगे तो उनका क्या होगा ? प्रेमाविष्ट ह्रदयवाली चक्रवाकी यदि नलिनीपत्रान्तरित चक्रवाक को एक क्षण के लिए भी नहीं देख पाती है और वह जैसे एकदम क्रन्दन करने लगती है तो मेरा क्या होगा ? कालिदास ने शकुन्तला से कहलाया है कि दुष्करमहम् करोमि । कवि के शब्द इस तरह लिपिबद्ध हुए है :

अनसूया - सखि, न स आश्रमपदेऽस्ति कोऽपि चित्तवान् यस्त्वया विरह्यमाणया नोत्सुकः कृतोऽद्य ।

पश्य तावत् -

पद्मिनीपत्रान्तरितां व्याहृतो नानुव्याहरति प्रियाम् ।
मुखोदूढमृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ॥ (शाकु. अंक-४)

- यह सब कालिदास की कल्पना में कहाँ से आया होगा ? इसका मूल स्रोत महाभारत का उपर्युक्त वन-वर्णन ही है, और बाकी जो भी है वह कालिदास की क्रान्तदृष्टि से देखा हुआ कन्याबिदाई का करुणरस आप्लावित कण्वाश्रम का परिसर । इति दिङ्न्याय से प्रस्तुत किये गये इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि स्थलकाल का अतिक्रमण करनेवाली कालिदास की कविदृष्टि ने कण्वमुनि के आश्रम में दुःषन्त-शकुन्तला की जो प्रेमगोष्ठियाँ हुई होगी उसकी निसर्गाच्छादित पृष्ठभूमि कैसी कामोत्तेजक एवं आत्मीयता युक्त होगी वह अपरोक्षानुभूति के रूप में देख लिया है । ऐसी कल्पनादृष्टिवाला कवि ही हमें पतिगृह की ओर जा रही शकुन्तला का पल्लु पकड कर रोक रहे दीर्घापाङ्ग मृग का दर्शन करा सकता है ॥

उपसंहार : मूल महाभारत की जो कहानी है वह दुःषन्त-शकुन्तला की केवल विवाहकथा है, जिसको हम किसी भी तरह से प्रणयकथा नहीं कह सकते है । इस विवाहकथा में इन दोनों के अलावा जो एक अन्य पात्र है वह कण्व मुनि है । लेकिन कालिदास ने शकुन्तला के ही दो तरह के व्यक्तित्वों की कल्पना करके उन दोनों व्यक्तित्वों को प्रियंवदा और अनसूया जैसी दो सहेलियों के रूप में (=मूर्त रूपमें) हमारे सामने प्रस्तुत किया है । वह उनकी

कल्पनाशक्ति का ही आविष्कार मानना होगा । इसी तरह से अन्यान्य पात्र के लिए भी कहा जायेगा । लेकिन इस नाटक में मानवों के उपरांत जो एक मानवेतर पशु, पक्षी, लता-वृक्षादि की सृष्टि है वह कवि की क्रान्तदृष्टि का चमत्कार है ॥ दुःषन्त-शकुन्तला की प्रणयकथा तो रंगभूमि पर क्रमशः प्रस्तुत हो ही रही है, लेकिन उनके साथ साथ पृष्ठभूमि में वही प्रणयकथा निसर्ग में भी चल रही है, वह कवि कालिदास ने बार बार दिखाया है । जैसे कि, नवमालिका और सहकार वृक्ष का स्वयंवर, जन्म दे कर जिसकी माता मर गई थी और जिसका शकुन्तला के हाथ से संवर्धन हुआ था ऐसा मृगपोतक एक ओर, तो दूसरी ओर शकुन्तला को जन्म देकर मेनका का स्वर्ग में चला जाना, एक ओर गर्भमंथरा हरिणी को देख कर उसके अनघप्रसवा होने की चिन्ता, तो दूसरी ओर आपन्नसत्त्वा शकुन्तला का पतिगृह की ओर प्रयाण करना.... इत्यादि । एक पार्श्व में मानवजीवन का प्रवाह, तो दूसरे पार्श्व में उससे मिलता-जूलता निसर्गस्थित लता-वृक्ष एवं पशु-पक्षिओं का जीवनप्रवाह । एक रंगमंच पर दो दो सृष्टियाँ सजीव साकार करके अभिनीत की जा रही है ॥ और उसकी अद्वितीयता इस बात में है कि दोनों सृष्टियाँ अविनाभाव सम्बन्ध से परस्पर में सुसंयोजित भी है !!! अन्त में इतना ही कहना होगा की कालिदास को महाभारत में से दुःषन्त-शकुन्तला की केवल विवाहकथा ही नहीं मिली थी, बल्कि मालिनी नदी के परिसर में फैली हुई नैसर्गिक सृष्टि में बीज रूप से बोई हुई प्रणयकथा भी वहीं से मिली थी !!! अतः अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की शब्दसृष्टि में सार्वभौम दर्शकों के लिए एकसमान संवेदना उद्दीपित करने का जो अद्वितीय सामर्थ्य है, उसका रहस्य उपर्युक्त सन्दर्भो में देखना चाहिए ॥

सन्दर्भ-ग्रंथ सूचि

1. The Abhijnanasakuntalam of Kalidasa, Ed. M.R. Kale, Motilal Banarasidas, Delhi, 1969
2. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (राघवभट्टस्यार्थद्योतनिकया टीकया समलंकृतम्) सं. नारायण राम, प्रका. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नव देहली, २००६
3. महाभारत आदिपर्वन् । सं. वी. एस. सुकथंकर, भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूणे, १९३३
4. ध्वन्यालोकः । सं. आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९८४
5. शाकुन्तल । सं. एवं गुजराती-अनुवादक श्री उमाशंकर जोशी, गुर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९८८, (तृतीयावृत्ति)

उपक्रम-18

कालिदास गुप्तकालिक विक्रमादित्य के साथ कैसे जुड़े है ? - नवोन्मेष

भूमिका -

महाकवि कालिदास का समय निश्चित करने के लिए विगत सो वर्षो में विविध प्रमाण उपस्थापित किये गये हैं । किन्तु इन में से एक भी प्रमाण या विचार सर्वसम्मत नहीं बन पाया है । इस विषय को लेकर दो पक्ष पैदा हुए हैं । जिनमें से प्रथम पक्ष है कि कवि कालिदास ई. सा. पूर्व प्रथम शताब्दि में पैदा हुए है । शुंगवंश के राजा अग्निमित्र को नायक बना कर जो मालविकाग्निमित्र नाटक की रचना की गई है, वह इस बात का प्रमुख प्रमाण है । दूसरे पक्ष में कहा जाता है कि वे पाटलिपुत्र (मगध) के चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसने विक्रमादित्य नाम धारण किया था, उसके समय में (ई.स. ३८०-४१४) पैदा हुए थे । अर्थात् कालिदास ४वीं शती में पैदा हुए थे । (डॉ. रामचंद्र तिवारी जी ने तो उसके भी पीछे, कुमारगुप्त-१ के समय में कालिदास का समय निश्चित किया है ।) इस गुप्तकाल को संस्कृत भाषा एवं साहित्य का सुवर्ण-युग माना जाता है । क्योंकि समुद्रगुप्त एवं उनके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही संस्कृत को राजभाषा का दरज्जा दिया था । इस काल की सुवर्णमुद्राओं पर समुद्रगुप्त के लिए संस्कृत में ''सर्वराजोच्छेत्ता'' शब्द उत्कीर्ण किया हैं, जो इसकी गवाह दे रहे है । अस्तु । इस तरह , कालिदास के समय को लेकर दो पक्ष उपस्थापित किये गये हैं । यहाँ, समानान्तर चलनेवाले दो पक्ष ही यदि प्रवर्तमान होते तो

विवाद का स्वरूप सर्वसामान्य प्रकार का रहता ॥

परंतु जब ऐसा भी कहा जाता है कि विक्रमादित्य की राजसभा के नव रत्नों में से एक कालिदास थे, मतलब कि उन दोनों की जोड़ी थी, उनके बीच आश्रय-आश्रित सम्बन्ध था, तब यह प्रश्न कालिदास की तिथि- निर्णय तक सीमित न रह कर, विक्रमादित्य की पहचान और उसके स्थिति-काल के निर्णय को भी शोध के दायरे में घीसिट कर ले आता है। जैसे कि (१) उज्जयिनी (मालवा) का विक्रमादित्य, जो गर्दभिल्ल का पुत्र कहा जाता है, जिसने शकों का पराभव किया था, और उसने विक्रमी संवत् (ई.स. पूर्व ५७ में) शूरु करवाया था, वह विक्रम कालिदास का आश्रयदाता था। अथवा, (२) मगध में आकारित हुए गुप्तवंश में जो चंद्रगुप्त-२, जिसने भी शकों को मार कर विक्रमादित्य बिरुद धारण किया था, तथा मालवा में भी उसने अपना राज्यविस्तार किया था और जिसका स्थिति-काल ई.स. ३८० में ४१४ के बीच निर्धारित किया गया है, उसके समय में कालिदास को पैदा हुए माना जाय॥ शायद ही ऐसा कोई इतिहासविद् होगा कि जिसने इस विषय पर अपनी कुछ राय नहीं लिखी होगी। यह विषय अत्यंत रसप्रद होने के साथ साथ अनेक पक्ष-प्रतिपक्ष के प्रमाणों और किंवन्दतीओं से खचाखच भरा हुआ है। अतः शायद ही कोई इतिहासविद् ऐसा हो सकता है जो गुमराह होने से बच पाये। अतः पूर्वोक्त दो पक्षों की जानकारी प्राप्त होने के बाद, संस्कृतज्ञ विद्वान् दिङ्मूढ होकर खड़ा रह जाता है।

किन्तु विरल पुराविद् विद्वान् डॉ. रामचन्द्र तिवारी (भोपाल) ने अपने 'कालिदास की तिथि-संशुद्धि' (ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८९) शीर्षकवाले ध्यानार्ह, बल्कि अनुपेक्ष्य ग्रन्थ में यह सिद्ध किया है कि महाकवि कालिदास के काल-निर्धारण में (क) अग्निमित्रवाद (ई.स. दूसरी सदी), और (ख) संवती-विक्रमवाद (ई. पू. प्रथम सदी) सप्रमाण निरस्त हो जाते हैं। तथा (ग) गुप्तवाद के भी तीन वादों - समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, तथा कुमारगुप्त में से प्रथम दो को अप्रमाणिक सिद्ध किये हैं। उनके अभिमत से महाकवि कालिदास कुमारगुप्त-प्रथम के समकालिक सिद्ध होते हैं। यद्यपि उन्होंने कालिदास को प्राचीनतम काल में रखने के लिए अद्यावधि उपस्थापित किये गये सभी प्रमाणों और विचारधाराओं का पुरातात्त्विक दृष्टि से सर्वांगीण परीक्षण एवं परिहार

प्रस्तुत कर दिया है, तथापि उनके पूर्वोक्त ग्रन्थ में जिस विषय पर गंभीरतया सोचने की बात बनी ही नहीं है, वैसी एक अस्पृष्ट दिशा से यहाँ विचार किया जा रहा है। जैसे कि, अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक कि जिन पाण्डुलिपियों में कुत्रचित् विक्रमादित्य का जो नाम-निर्देश मिलता है, उन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता थी। परंतु इस पर किसे ने प्रस्तूयमान दृष्टि से चिंतन नहीं किया है। अतः प्रस्तुत शोध-आलेख में, ऐसी पाण्डुलिपियों में संचरित हुए विविध प्रक्षेपादि सहित के पाठान्तरो में से, गर्भित रूप से सूचित हो रहे, एक अनूठे प्रमाण की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है ॥

(१)

हाँ, पाण्डुलिपिओं के प्रमाण को पुरस्कृत करते हुए जो एक विचारणा पहले हो चूकी है, उसका प्रथम ऊहापोह कर लेना आवश्यक है : डॉ. राजबली पाण्डेय जी ने कहा है कि मालवगण मुख्य विक्रमादित्य कालिदास के आश्रयदाता हो सकते है या नहीं ? अभिज्ञानशाकुन्तल की कतिपय प्राचीन प्रतियों से नान्दीश्लोक के पश्चात् लिखा मिलता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की अभिरूप भूयिष्ठ परिषद में हुआ था। जैसे कि, ''आर्ये, इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्याभिरूभूयिष्ठा परिषत्।'' (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १९१४ ई.स.) अभी तक विक्रमादित्य एकतान्त्रिक राजा ही समझे जा रहे हैं। किन्तु काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभागाध्यक्ष स्वर्गीय श्री केशवप्रसाद मिश्रजी के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तल की एक हस्तलिखित प्रति ने विक्रमादित्य का गण (गणतन्त्र) से सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। (इस पाण्डुलिपि का प्रतिलेखन-काल अगहन सुदी ५, संवत् १६९९ है)[१] उसके निम्नोक्त दो अवतरण ध्यान देने योग्य है : (अ) (नाद्यन्ते) ''आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभि-रूपभूयिष्ठा परिषत्। अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलेन नवेन नाटकेनोप-स्थात्वमस्माभिः। (आ) एवं भरतवाक्य के उपर दिये हुए एक श्लोक में ''तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु, त्वमपि विततयज्ञो वज्रिण

१. द्रष्टव्यः श्री सीताराम चतुर्वेदी जी के द्वारा सम्पादित एवं अनूदित ''कालिदास-ग्रन्थावली'' (भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, सं. २०१९, के तृतीय संस्करण) के परिशिष्ट भाग में दिया हुआ डॉ. राजबली पाण्डेय का आलेख।

भावयेथा: । गणशतपरिवृत्तैरेवमन्योन्यकृत्यै, नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः ।.'' उपर्युक्त अवतरणों में रेखांकित पदों से यह स्पष्ट जान पडता है कि जिन विक्रमादित्य का यहाँ निर्देश है उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य है, और उपाधि ''साहसाङ्क'' है । भरतवाक्य का 'गण' शब्द राजनीतिक अर्थ में गणराष्ट्र का द्योतक है ।'' इत्यादि ॥ इस तरह डॉ. राजबली पाण्डेय जी ने ई. पू. प्रथम सदी में हुए उज्जयिनी के विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध हो रही है ऐसा केवल एक पाण्डुलिपि के साक्ष्य से घोषित किया है । तथा डॉ. राजबली जीने, जिस पाण्डुलिपि का निर्देश किया है उसमें आये साहसांक शब्द की क्या ऐतहासिक निश्चित पृष्ठभूमि है वह भी जाना नहीं है॥

परंतु, पाण्डुलिपियों के साक्ष्य को लेकर जब कुछ भी बताना है तो पाण्डुलिपियों के व्यापक सर्वेक्षण की पहले अनिवार्य आवश्यकता होती है। केवल एक हस्त-लिखित प्रति के आधार पर जो कहा जायेगा वह कालान्तर में अन्यथा सिद्ध हो सकता है । जैसा कि हमने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की देश-विदेश-व्यापी विभिन्न (७० से अधिक) पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन करके पीछले तीन वर्षो में कुछ गवेषणाएँ उपस्थापित की हैं । जिससे अद्यावधि अनजान रही इस नाटक की पाठयात्रा (Journey of the text) का चित्र सामने आ गया है । अब इस विषय का यानि शाकुन्तल के पाठ की प्रतिलेखन (प्रतिलिपिकरण) की परम्परा का आनुमानिक इतिहास कैसा प्रतीत हो रहा है, उसका सप्रमाण निरूपण निम्नोत्क पेरा में किया जाता है ॥

(२)

अभिज्ञानशाकुन्तल शीर्षक से सुप्रचलित हुआ यह नाटक कुल मिला के पाँच तरह की वाचनाओं में संचरित होकर हम तक आज पहुँचा है । हमारी पाण्डुलिपि-सम्पदा का यदि सम्यक् आलोडन किया जाय तो उसमें भी पाठान्तरों के पीछे प्राचीन ग्रन्थों के पाठसंचरण का इतिहास छीपा हुआ होता है । इन पाण्डुलिपियों का विश्लेषण करने से किसी भी ग्रन्थ का प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ ढूँढा जा सकता है, तथा अन्ततो गत्वा कवि-प्रणीत मूलपाठ का अनुमान भी हम लगा सकते हैं । विगत सो वर्षों के अन्तराल में विद्वानों ने शाकुन्तल नाटक की पाँच वाचनाओं की

जानकारी दी है । जैसे कि, १. शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा काश्मीरी वाचना का पाठ, २. बिहार की मैथिली-लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ मैथिली वाचना का पाठ, ३. बंगाली लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ बंगाली वाचना का पाठ, ४. दक्षिण भारत की ग्रन्थ, तेलुगु, नन्दीनागरी आदि लिपियों में संचरित हुआ दाक्षिणात्य वाचना का पाठ एवं, ५. उत्तर-पश्चिम-मध्य भारत में प्रचलित देवनागरी लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ देवनागरी वाचना का पाठ ॥ यद्यपि इन वाचनाओं के ''समीक्षित पाठ-सम्पादन'' (Critically Edited Text) का कार्य अभी तक सम्यक् तया सम्पन्न नहीं किया गया है । तथापि हमने शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुए काश्मीरी पाठ का सम्पादन तैयार करते हुए, इसका जो अन्य वाचनाओं के साथ व्यापक तुलनात्मक अध्ययन किया है, उससे इतना तो सप्रमाण सिद्ध होता है कि उपलब्ध इन पांचो वाचनाओं में काश्मीरी वाचना ही सब से पुरानी एवं सर्वाधिक श्रद्धेय है । लिपियों के आनुक्रमिक विकास को देखा जाय तो भी ब्राह्मी लिपि से क्रमशः विकसित हुई लिपियों में काश्मीर की शारदा लिपि ही, मैथिली या बंगाली की अपेक्षा से, प्राचीनतम सिद्ध होती है । एवमेव, अलंकारशास्त्र के प्राचीनतम ग्रन्थों में उद्धृत हुए, शाकुन्तल के अवतरणों को देखा जाय तो भी वे काश्मीर की पाठपरम्परा में से ही लिये गये हैं – ऐसा असंदिग्ध रूप से देखा जा रहा है ।[२] तथा, इस नाटक के बहुविध पाठभेदों में से जो पाठान्तर काश्मीरी वाचना में सुरक्षित रहे हैं, वही पाठान्तर कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना से युक्त भी है

२. काश्मीरी पाठ में, ''तृतीयांक में आरंभ में ''ततः प्रविशति कामयानो राजा दुष्यन्तः ।'' मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में ''ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा'' ऐसा पाठान्तर है । दाक्षिणात्य तथा देवनागरी वाचनाओं में ''ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा'' ऐसा तीसरा पाठभेद उपलब्ध होता है । किन्तु ७-८ वीं शती के वामन ने ''कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत् ।'' (का.सू.वृ. ५-२-८२) ऐसा लिख कर कामयान शब्द का समर्थन किया है, जो इस नाटक की केवल काश्मीरी पाण्डुलिपियों में मिलता है । तथा स्वयं कालिदास ने ही इसी शब्द का प्रयोग रघुवंश (१९-५०) में भी किया है । इस दोनों प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि इस नाटक की शारदालिपि में संचरित हुई पाठपम्परा ही प्राचीनतम एवं श्रद्धेय हो सकती है ॥

ऐसा भी सिद्ध होता है ।[3] मतलब कि उच्चतर समीक्षा से भी काश्मीरी वाचना के शारदा-पाठ को ही अधिक श्रद्धेय एवं प्राचीनतम होने का यश मिल रहा है ॥

काश्मीरी वाचना के पाठ का प्राचीनतमत्व सिद्ध होने के बाद, द्वितीय क्रमांक पर मैथिली वाचना का पाठ आता है और बंगाली वाचना का पाठ तृतीय क्रमांक पर गठित किया गया है । इन तीनों पाठपरम्पराओं में यह भी देखा जाता है कि नाटक का मूल (कविप्रणीत) पाठ क्रमशः बृहत् से बृहत्तर, एवं बृहत्तर से बृहत्तम बनता गया है । (नाटक के पाठ की ऐसी इयत्ता भी, जो उक्त रीति से वृद्धिंगत होती रही है, उससे भी निश्चित होता है कि उपलब्ध पञ्चविध पाठों में से काश्मीरी से संचरित हुआ बृहत् पाठ प्राचीनतम है, मैथिली में संचरित हुआ बृहत्तर पाठ प्राचीनतर है, और बंगाली का बृहत्तम पाठ केवल प्राचीन है ।) तदनन्तर, चतुर्थ क्रमांक पर दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों या सूत्रधारों ने (रंगमंच पर अल्प-समयावधि में इस नाटक की प्रस्तुति करने के लिए) उस बृहत्तम बंगाली पाठ में भारी कटौती करके, तृतीयांक में से दो दृश्यो[4] को निकाल कर, एक लघु आकार का पाठ सम्पादित किया है । यह संक्षिप्त किये गये पाठ में कुछ पाठान्तर काश्मीरी वाचना में से भी लिए गये हैं, तो कुछ पाठान्तर मैथिली एवं कुछ बंगाली से भी लिये गये हैं । तत्पश्चात् पञ्चम क्रमांक पर, सब से अन्त में, देवनागरी वाचना का पाठ सुग्रथित किया

३. उदाहरण के रूप में काश्मीरी वाचना के पाठ में, दुष्यन्त की उक्ति है कि ''लब्धं मया नेत्रनिर्वापणम्'' । दूसरी ओर अन्यान्य सभी वाचनाओं में ''लब्धं मया नेत्रनिर्वाणम्'' ऐसा पाठभेद मिलता है । तो इन दोनों में से कौन से पाठ को कृतिनिष्ठ आंतरिक प्रमाण से समर्थन मिलता है ? वह यदि सोचा जाय तो काश्मीरी पाठ ही मौलिक सिद्ध होता है । क्योंकि इसी अंक के आरंभ में, ''कस्येदम् उशीरानुलेपनं नीयते'' इस प्रश्न के उत्तर में प्रियंवदा की उक्ति है कि ''तस्याः दाहे निर्वापणाय'' । एवमेव, आगे चल कर देखते हैं तो एक श्लोक में शब्द है कि ''स्मर एव तापहेतु-निर्वापयिता स एव मे जातः ।'' इत्यादि ॥ यानि मूलतः शारदापाठ के ''निर्वापण'' शब्द के स्थान में ''निर्वाण'' शब्द का प्रचलन तो प्रतिलिप-कर्ताओं के अनवधान से कालान्तर में हुआ है ॥

४. जैसे कि १. दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाता है, और २. दुष्यन्त पुष्परज से कलुषित हुए शकुन्तला के नेत्र का प्रमार्जन अपने वदन-मारुत से कर देता है ।

गया है, जिसमें भी पुरोगामी काश्मीरी आदि चारों वाचनाओं में से विविध पाठान्तरों को चुने गये हैं । तथा उसको दाक्षिणात्य की अपेक्षा में अधिक संक्षिप्ततर[5] बनाई गई है । इन पाँचों वाचनाओं का ग्रथन काल (या रंगावृत्ति में परिवर्तित होने का काल) दूसरी-तीसरी शती से लेकर १४वीं शती तक फैला हुआ प्रतीत हो रहा है ॥ (इस सन्दर्भ में, 'नाट्यम्' में प्रकाशित मेरा शोध-आलेख ''अभिज्ञानशाकुन्तल के पाठविचलन की आनुक्रमिकता'' द्रष्टव्य है[6] ।)

(३)

इस नाटक की उपलब्ध हो रही पाँच वाचनाओं में उपर्युक्त पौर्वापर्य निर्धारित हो रहा है, इतना बताने के बाद हमें यह भी जानना अतीव आवश्यक है कि इन पाँचों वाचनाओं को परस्पर से पृथक करनेवाले भेदक-बिन्दुएँ कौन कौन दिखाई दे रहे है ? तो, काश्मीरी वाचना के पाठ में नाटक का शीर्षक ''अभिज्ञानशकुन्तला'' दिया गया है, मैथिली वाचना में वही शीर्षक ''अभिज्ञानशकुन्तलम्'' किया गया है, जो बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने यथावत् रखा है । दाक्षिणात्य वाचना और देवनागरी वाचना की पाण्डुलिपियों में वह शीर्षक ''अभिज्ञानशाकुन्तलम्'' बनाया गया है । इसके उपरान्त भी, प्रत्येक वाचना की पाण्डुलिपियों में कुछ महत्त्वपूर्ण पाठभेद मिलते हैं, जो हर वाचना की अलग पहचान सिद्ध करने में भेदक स्थान बन गये हैं । तद्यथा-

(१) काश्मीरी वाचना में, (क) नायक का नाम दुष्यन्त है, (ख) नान्दी पद्य में ''या स्रष्टुः सृष्टिराद्या पिबति विधिहूतं०'' ऐसा पाठभेद एवं पदक्रम है, (ग) नायक दुष्यन्त की पूर्वपरिणीता रानी का नाम कुलप्रभा है, (घ) सप्तमांक के प्रवेशक में दो नाकलासिकाओं का नृत्य-दृश्य है, (ङ) प्रियंवदा-अनसूया के लिए चित्राविशाखे का उपमान देनेवाली उक्तियाँ है, (च) गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो हि मुनिकन्यकाः ० जैसा श्लोक नहीं है । एवं (छ) शकुन्तला-विदाय के प्रसंग में ''यथा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि । आहार्ययोगेन वियुज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी ॥'' ऐसा औपनिषदिक

५. द्रष्टव्य - ''अभिज्ञानशाकुन्तल के देवनागरी पाठ में संक्षेपीकरण के पदचिह्न'' । नाट्यम् । अंक-७१-७४, सं. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, २०१२, पृ. २७ से ५७.

६. नाट्यम् । अंक- ७६, सं. डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, २०१४, पृ. २६ से ५४.

दर्शन से भरा एक श्लोक कण्व के मुख में है ॥

(२) मैथिली वाचना में (क) नायक का नाम दुष्मन्त मिलता है। (ख) नान्दीपद्य में ''या स्रष्टुः सृष्टिराद्या वहति ०।'' इस नवीन पाठभेद के साथ, काश्मीरी जैसा ''या स्रष्टः स्त्रुष्टिराद्या०'' पदक्रम यथावत् मिलता है। (ग) प्रस्तावना में सूत्रधार के ''आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषद् ॥'' वाक्य में नामशः कहा जाता है कि किसकी सभा में यह नाटक अभिनीत किया जा रहा है। (घ) द्वितीय अंक का नाम ''तपोवनानुगामन'' रखा गया है, (ड) प्रियंवदा-अनसूया के लिए चित्राविशाखे का उपमान नहीं है। (च) चतुर्थाङ्क के आरंभ में प्रभात-वर्णन के लिए जिन चार श्लोकों का पाठ है उनमें ''कर्कन्धूनाम् तुहिनमुपरि०, पादन्यांस क्षितिधरगुरो०, तात्येकतोस्तशिखम् ० तथा अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे०। इस तरह का क्रम मिलता है, जो काश्मीरी वाचना जैसा ही है। इन बिन्दुओं के साथ में दो बातें और ध्यानाकर्षक है :- (छ) मैथिली वाचना में ही सब से पहली बार गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो हि मुनिकन्यका : ०वाला श्लोक प्रक्षिप्त किया गया है। इसके साथ साथ, कुल मिला के ११ नवीन पद्यों का (सर्वाधिक संख्या में) प्रक्षेप भी मैथिली वाचना में हुआ है। तथा (ज) राजा की दासी (मेधाविनी) के हाथ में से रानी वसुमती-वर्तिका-करण्डक छीन लेती है। मतलब कि, इस तरह राजा की पूर्वपरिणीता रानी को ईर्ष्याकषायिता एवं बहुमानगर्विता दिखाने का काम प्रथम बार मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने ही किया है ॥

(३) बंगाली वाचना की पाण्डुलिपियों में (क) साहसाङ्कस्य विक्रमादित्यस्य... का निर्देश नहीं मिलता है। (ख) इसमें नायक का नाम दुःषन्त दिया गया है, (ग) नान्दी पद्य में, ''या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति०'' जैसा नया पदक्रम आ गया। (घ) यहाँ द्वितीय अंक का नाम 'आख्यानगुप्ति'' रखा गया है, (ङ) इसमें शकुन्तला का ''नलिनीपत्रान्तरितं चक्रवाकमपश्यन्ती चक्रवाकी आरटति०'' वाक्य तथा ''एषा प्रियेण विना रात्रिं गमयति०'' वाली आर्या को हटाई गई है।, (च) चतुर्थांक के आरंभ में प्रभात का वर्णन करनेवाले चार श्लोकों में ''यात्येक्तोऽस्तशिखरं०, तथा अन्तर्हिते शशिनि०'' श्लोकों को प्रथम-द्वितीय क्रमांक पर रखे गये हैं। (छ) प्रियंवदा-अनसूया के लिए

चित्राविशाखे का उपमान नहीं है। (ज) राजा की एक ही दासी के लिए मेघाविनी जैसा पुराना एवं 'चतुरिका' जैसा नया नाम -दोनों नाम प्रवर्तमान है ॥

(४) लघुपाठवाली जो दो वाचनाएँ हैं उनमें से दाक्षिणात्य वाचना के संक्षिप्त पाठ में (क) नान्दी पद्य से ''यामाहुः सर्वभूतप्रकृतिरित०'' ऐसा पाठभेद है, (ख) कुल पद्यसंख्या १९३ है।, (ग) षष्ठांक में उद्यानपालिका ''चूतं हर्षितपिककं०'' नयी आर्या का गान करती है, (घ) धीवर कहता है ''भट्टा, तुम्ह केलए मे जीविदे'' ।, (ङ) विदूषक ईर्ष्याकषायिता रानी के लिए ''अन्तःपुरकलहाद्'' शब्द का प्रयोग करता है ॥

(५) देवनागरी वाचना के संक्षिप्ततर पाठ में, (क) नान्दी पद्य में ''यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरित०'' ऐसा पाठभेद है, (ख) कुल श्लोकसंख्या १९० है, (ग) उद्यानपालिका ''आताम्रहरितपाण्डुरं०'' जैसा आर्या का गान करती है, जो अन्यत्र सर्वत्र मिलती है, (घ) धीवर ''भट्टा, अह कीलिशे मे आजीवे'' (अथ कीदृशो मे आजीवः) ऐसा टोना मारता है।, (ङ) विदूषक रानी के लिए ''अन्तःपुरकालकूटाद्'' शब्द का प्रयोग करता है ॥

देश-विदेश से प्राप्त की गई, एवं अनेक लिपियों में लिखी गई (७० से अधिक) पाण्डुलिपियों का हमने अवलोकन किया है, तथा उन सब में उपलब्ध हो रहे विभिन्न पाठान्तरों के जटाजूट का गहन तुलनात्मक अध्यनन किया है। इन पाँचों वाचनाओं का पार्थक्य किन किन पाठान्तरों में प्रकट हो रहा है उसका निष्कर्ष निकाला है, जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण पाठान्तरों को यहाँ नमूने के तौर पर (पाँचों वाचनाओं के भेदक-बिन्दुओं के रूप में) प्रस्तुत किये हैं ॥ इस के उपरांत अब इतना निश्चित रूप से कहा जाता है कि सूत्रधार के मुख में जो ''आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्या-भिरूभूयिष्ठा परिषत् ।'' यह वाक्य है, जिसमें विक्रमादित्य का स्पष्ट नामोल्लेख हुआ है, वह मैथिली वाचना की पाण्डुलिपियों में ही इदं प्रथमतया दृश्यमान होता है। तथा ऐसा भी दिखता है कि कालान्तर में, कुत्रचित् बंगाली एवं दाक्षिणात्य तथा देवनागरी लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में भी, (अलबत्ता ''साहसाङ्कस्य'' शब्द को हटाकर, या कदाचित् सुरक्षित रखते हुए,) उस तरह के नामोल्लेख का अनुसरण भी किया गया है ॥

(४)

अब प्रश्न होगा कि मैथिली वाचना की कौन कौन पाण्डुलिपियाँ हैं कि जिन मैं "आर्ये, रसभाव-विशेष-दीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्या-भिरूपभूयिष्ठा परिषत् ।" इन शब्दों का संनिवेश हुआ है ? हमने किये ७० पाण्डुलिपियों के अध्ययन में निम्नोक्त पाण्डुलिपियों में ही उपर्युक्त शब्द आये हुए है, तथा उनमें से प्रथम तीन पाण्डुलिपियों में शुद्ध मैथिली वाचना का पाठ दिया हुआ है : (१) मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से (१९५४ में) निकला संस्करण, (२) नेशनल आर्काइव्स ओफ नेपाल, काठमण्डु की ताडपत्रवाली पाण्डुलिपि, क्रमांक ९-४२१ ।, (३) श्री धर्मानन्द कौशाम्बी की पाण्डुलिपि, जो आज कालेलकर के दिल्ही-स्थित संग्रह में संगृहीत है, उसका क्रमांक : १००६ है, (४) एशियाटीक सोसायटी, कोलकाता में संगृहीत एक पाण्डुलिपि, क्रमांकः जी-३४० है । (इसके, अंत भाग में "दिनमणिदासेन कारानगरे गंगातीरे लिखितं" वर्ष-१६६९ लिखा है) तथा (५) होगटन कोलेज, (Houghton College) हार्वर्ड युनिवर्सिटी, अमरिका, इन्डिक मेन्युस्क्रिप्ट क्रमांक : १०८६ है ॥ (६) इनके अलावा, मद्रास प्रदेश की ग्रन्थादि लिपियों में लिखी ताडपत्रीय पाण्डुलिपियों में भी "रसभाव-विशेष-दीक्षागुरोर्विक्रमादित्यस्य ।" (C), (Cy), note (N), (P N (tn marg) R), (Pa F) तथा "रसभावविशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसाङ्कस्या०" (P DIN (marg) R)) ऐसे द्विविध निर्देश मिलते हैं ।[७] ॥

यहाँ आये हुए "विक्रमादित्य साहसाङ्क" का नाम-निर्देश महत्त्वपूर्ण है । क्योंकि इन शब्दों से किस विक्रमादित्य की ओर अंगुलिनिर्देश किया गया है ? वह विचारणीय है । क्योंकि इतिहास के पृष्ठों पर प्रमुख रूप से दो विक्रमादित्य सामने आ रहे हैं । अतः जनश्रुतियों में सुप्रचलित उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य जिसको संवत-प्रवर्तक माना जाता है, अर्थात् जो ई. पूर्व. ५७ में हुए थे - उसका यहाँ उल्लेख है ? अथवा, क्या मगध का गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त-२, जिसने भी विक्रमादित्य उपाधि धारण की थी, और जिसका शासनकाल ३८० इ.स. से ४१४ ई.स. माना गया है, उसका इन मैथिली पाठ को संजोये रखनेवाली पाण्डुलिपियों में उल्लेख हो रहा है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर यही है कि उक्त पाण्डुलिपियों में जिस "साहसाङ्क विक्रमादित्य" का

निर्देश किया जा रहा है, वह गुप्तवंश के चौथी शताब्दी में हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है । उनके पिता समुद्रगुप्त ने 'पराक्रमाङ्क' की उपाधि धारण की थी, अतः कालान्तर में लोगों ने उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'साहसाङ्क' कहा है । लेकिन बिरुदों के तिलक जब चढाये जाते हैं, तब उसके पीछे क्या कोई वास्तविक इतिहास छीपा हुआ है ? यह भी गवेषणीय है । इस सन्दर्भ में, संस्कृत साहित्य से ही जो जानकारीयाँ मिल रही है वह निम्नोक्त है :-

(१) बाणभट्ट (ई.स. ६४८) ने हर्षचरित (उच्छवास-६) नामक आख्यायिका में लिखा है कि भूतकाल में प्रमाद-दोष के कारण किन किन राजाओं की मौत हुई है : "अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्च चन्द्रगुप्तः शकपतिम् अशातयत् ।"[८] और इस पर टीका लिखते हुए शंकर ने लिखा है कि, 'शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तस्य भ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः, चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः" ॥

अर्थात् (समुद्रगुप्त का ज्येष्ठपुत्र रामगुप्त शकों के साथ लडते हुए उनसे पराजित हुआ, परन्तु राजसत्ता के लालचु उस रामगुप्त ने राज्य वापस लौटाने के लिए अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकपति को दे देने का सौदा किया । इस प्रस्ताव से नाराज हुए उसके अनुज) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कामिनी का (ध्रुवदेवी का) वेश धारण करके, उस परस्त्री-कामुक शकपति को उसकी ही शिबिर में जा कर मार डाला था । इस प्रसंग के बाद जनसामान्य में वह 'साहसाङ्क' नाम से भी विदित हुआ । डॉ. रामचन्द्र तिवारी (भोपाल) कहते है कि यह साहसाङ्क शब्द का सर्वप्रथण उल्लेख १०वीं शती में हुआ है ।[९] लेकिन इस घटना का निर्देश चन्द्रगुप्त-२ के (३८० में ४१४ ई.स.) समय के बाद बाणभट्ट ने (६४८ ई.स. में) किया है, वह ध्यातव्य है । इसी तरह से १२वीं शती के रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने नाट्यदर्पण में विशाखदेव (विशाखदत्त-?) के

---

७. Complete collection of the various readings of the Madras mss., Editor :- T.Foulkes, 1904.

८. हर्षचरितम् । सं. पी. वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनमुद्रण १९८६, पृ. १०५-१०६

९. डॉ. रामचंद्र तिवारी जी ने अपने ग्रंथ में हर्षचरित के उपरी निर्दिष्ट संदर्भ का उल्लेख नहीं किया है । द्रष्टव्य कालिदास की तिथि-संशुद्धि । (पृ. २७२)

देवीचन्द्रगुप्त नाटक में से सात उदाहरण दिये है, उनमें भी इसी घटना की प्रतिध्वनि सुनाई देती है । उदाहरणतया (क) यथा देवीचन्द्रगुप्ते – ''राजा (चन्द्रगुप्तमाह) – त्वददु:खस्यापनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा । ध्रुवदेवी – (सूत्रधारीम् आह) – हञ्जे, इयं सा ईदृशी अज्जउत्तस्स करुणापराहीणदा । सूत्रधारी – देवि, पडंति चंद्रमंडलाउ वि चुडुलीउ किं एतु करिम्हे । (देवि, पतन्ति चन्द्रमण्डलादपि उल्का: । किमत्र कुर्म: । – इति संस्कृतम्) राजा – त्वय्युपारोपतिप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह । परित्यक्ता मया देवी जनोऽ यं जन एव मे ॥ ध्रुवदेवी– अहं पि जीविंद परिच्चयंती पढमयरं य्येव तुं परिचइस्सं । – अत्र स्त्रीवेषनिहनुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनै: स्त्रीप्रत्ययात् ध्रुवदेव्या गुरुमन्यन्ताप–रूपस्य व्यसनस्य सम्प्राप्ति: ॥[१०] (ख) यथा देवीचन्द्रगुप्ते – ''चन्द्रगुप्त: – (ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह) इयमपि देवी तिष्ठति । यैषा, रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशां, तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला । पत्यु: क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंस: सतो, लज्जा–कोप–विषाद–भीत्यरतिभि: क्षेत्रीकृता ताम्यति ॥[११] इस तरह संस्कृत साहित्य में पौन:पुन्येन उल्लिखित हुए इस घटना–चक्र की स्वीकृति हमारे लिए अपरिहार्य है । तथा चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त को यदि पराक्रमांक कहा गया हो तो, पूर्वोक्त घटनाचक्र के बाद प्रजामानस ने चन्द्रगुप्त द्वितीय को ''साहसाङ्क'' का बिरुद दिया हो तो वह स्वाभाविक प्रतीत होता है । जिसने कालान्तर में मालवा–उज्जयिनी–में भी जाकर शकों को परास्त करके अपने को विक्रमादित्य घोषित किया हो, तो उसकी मगधस्थित राजसभा में जब कालिदास का यह नाटक, कुछ नवीन प्रक्षेप एवं परिवर्तनादि के साथ प्रस्तुत किया गया हो तो, उस मौके पर सूत्रधार के मुख में ''आर्ये, रसभावविशेषदीक्षा–गुरो:–विक्रमादित्यस्याभिरूपभूयिष्ठा परिषत्'' ऐसी बिरूदावली सहित के शब्दों का विनिवेश होना नामुमकिन नहीं है ॥

कहने का तात्पर्य यही है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के (चौथी शताब्दी के) समय में कालिदास नहीं हुए थे, बल्कि उस समय तो कालिदास के इस नाटक के पाठ में परिवर्तन–परिवर्धनादि करके मगध की रंगभूमि पर उसका मंचन हुआ होगा । इस नवीन मैथिली संस्करण के मंचन के मौके पर ''विक्रमादित्य

१०. नाट्यदर्पणम् (१–६५ सूत्रोपरि वृत्ति:) पृ. १२८–१२९
११. नाट्यदर्पणम् (१–८२ सूत्रोपरि वृत्ति:) पृ. १५१

एवं साहसाङ्क' ऐसे दो बिरूदों वाले चन्द्रगुप्त–२ के लिए ''रसभाव–विशेष–दीक्षा–गुरो:'' जैसे विशेषण का उपयोग करना भी बिल्कुल समुचित लगता है। क्योंकि उन्होंने जब शकपति की हत्या करने के लिए स्त्रीवेश में ध्रुवदेवी बन कर शत्रु–शिबिर में जाना था तो उसके लिए आहार्य और आङ्गिक, तथा वाचिक अभिनय की विशेष तालीम ली होगी । एवमेव, जैसा टीकाकार शंकर ने लिखा है वैसे वह चन्द्रगुप्त अपने साथ कुछ सैनिकों को भी स्त्रीवेश पहनाकर उन लोगों से परिवृत्त हो कर निकला था । तो उन सैनिकों को भी विशेष आहार्य–आङ्गिकादि अभिनयन की तालीम उसीने स्वयं दी होगी । यह बात स्वाभाविकतया अनुमानगम्य है । अत: मैथिली पाण्डुलिपियों में जो ''रसभावविशेषदीक्षागुरो:'' विशेषण रखा गया है वह चन्द्रगुप्त–२ के लिए यथार्थ सिद्ध होता है ॥ अब यह स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय पाण्डुलिपियों में ''विक्रमादित्य'' का जो नामनिर्देश मिलता है वह तो मगध के चन्द्रगुप्त–२ की राजसभा में जब अभिज्ञानशकुन्तल का नवीन–मैथिली–संस्करण मंचन के लिए तैयार किया गया होगा उस बात का इङ्गित दे रहा है । नहीं की कालिदास उस चौथी शताब्दी में, चन्द्रगुप्त–२ के समय में पैदा हुए थे । यदि कोई भी पुराविद इन (मैथिली) पाण्डुलिपियों से मिल रहे–नामसंकेत के आधार पर कालिदास को गुप्तकाल में सिद्ध करने का सोचता है, तो वह इस नाटक के मंचन का भी कोई इतिहास रहा है, इस बात से नितान्त अनभिज्ञ ही है ऐसा हमें कहना पडेगा ॥

(५)

उपर्युक्त चर्चा से ज्ञात होगा कि मैथिली वाचना की पाठपरंपरा में ''आर्ये, रसभावविशेषदीक्षागुरो: श्रीविक्रमादित्यस्याभिरूप–भूयिष्ठा परिषत्'' ऐसा वाक्य इदं प्रथमतया प्रयुक्त हुआ है, और विक्रमादित्य की उपाधि (बिरुद) को धारण करनेवाले (तथा लोगों के द्वारा जिसको साहसाङ्क के रूप में पहचाना गया था, उस) चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में (मगध में) उस मैथिल पाठ का प्रथम मंचन हुआ होगा । इतना स्पष्ट होने के बाद, जैसा कि हमने उपरि भाग में कहा है, ई.स. पूर्व जिसके नाम से विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ है, वह जनश्रुतियों में सुविख्यात विक्रमादित्य (व्यक्तिवाचक नामवाले) राजा के साथ कालिदास का नाम कैसे जुड़ गया होगा ? वह भी विचारणीय है । तो सम्भवत: ऐसा लगता है कि मैथिली संस्करण का जब आविर्भाव चन्द्रगुप्त

द्वितीय के समय में (चौथी सदी में) हुआ और उन मैथिल पाण्डुलिपियों में विक्रमादित्य साहसाङ्क का नाम संनिविष्ट किया जाने के बाद, कालान्तर में कुछ अज्ञात प्रतिलिपि-कर्ताओं ने बंगाली एवं देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली पाण्डुलिपियों में से साहसाङ्क शब्द को हटा दिया होगा, तथा केवल विक्रमादित्य उपाधि को सुरक्षित रखा होगा। जिसके कारण, ई.स. पूर्व हुए, उज्जयिनी की भूमि पर शासन करनेवाले, विक्रमी संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य के साथ कालिदास को जोड देना आसान हो गया। अन्यथा, जैसा कि डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है वैसे, किसी भी तरह से विक्रमादित्य और कालिदास की जोड़ी सिद्ध होती ही नहीं है[१२]। यहाँ, पुनरुक्ति के दोष को उठाते हुए भी यह स्पष्ट करना चाहुँगा कि डॉ. रामचन्द्र तिवारी जी ने इन दोनों कि जोड़ी कथमपि सिद्ध नहीं होती है ऐसा सिद्ध करके, कालिदास को गुप्तकालीन सिद्ध करने को लक्ष्य बनाया है[१३]। किन्तु उनके ग्रन्थ का प्रतिपादन पढते हुए यह जिज्ञासा तो बनी ही रहती है कि तो फिर जनश्रुति में विक्रमादित्य और कालिदास की जोडी बनी कैसे, प्रचलित बनी कैसे ? इस जिज्ञासा की अपेक्षित संतुष्टि डॉ. तिवारी जी के ग्रंथ से प्राप्त नहीं होती है। लेकिन प्रस्तुत शोध-आलेख में जैसा बताया गया है वैसा सोचने पर, यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि ई.स. पूर्व वाले उज्जयिनी के विक्रमादित्य के साथ कालिदास की जोडी बनाना कैसे आसान हो जाता है। यद्यपि यह एक सम्भावना के रूप में कहा गया है, फिर भी इस सम्भावना में प्रमाण एवं तर्क अनुस्यूत है, इन दोनों को केवल कल्पना नहीं कहेंगे। तथा राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा (अ.१०) में कहा है कि चन्द्रगुप्त(२) की राजसभा में कविपरीक्षा/ काव्यपरीक्षा का आयोजन होता था। अतः अभिज्ञानशाकुन्तल का मैथिली संस्करण चन्द्रगुप्त-२ के सामाने अभिनीत हुआ होगा ऐसा हम सोच सकते हैं। अस्तु ॥

---

१२. द्रष्टव्यः कालिदास की तिथि-संशुद्धि। डॉ. रामचन्द्र तिव्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,१९८९

१३. अतः यदि प्राचीन और अधिकांश अनुश्रुतियों को मानें तो कालिदास और विक्रम की जोडी ही नहीं थी। अतः विक्रम के सम्बन्ध से कालिदास की तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती, यदि भोजराज आदि की अनुश्रुतियों को महत्त्व दे तो भी कालिदास गुप्तकालीन ही सिद्ध होते है। द्रष्टव्य पृ . ९९

(६)

एक पूरक कथनीय बिन्दु यह भी है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में अंतिम श्लोक में चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमनास्य। ऐसी एक पंक्ति आती है। प्रश्न होता है कि यह चीनांशुक शब्द यहाँ कैसे आया ? तो सब से पहले यह जान लेना उचित है कि अभिज्ञाशकुन्तला नाटक की प्राचीनतम वाचना के रूप में काश्मीरी वाचना ही सिद्ध होती है। उसमें तो चिह्नाशुकमिव ऐसा शब्द आया है। कालान्तर में जब मैथिली वाचना का तथाकथित परिष्कृत पाठ तैयार किया गया और विक्रमादित्य साहसाङ्क नाम से विदित बने चन्द्रगुप्त-२ की राजसभा में उसका मंचन हुआ था, उस मैथिल पाठ में ही इदं प्रथमतया चिह्नांशुक को चीनांशुक में परिवर्तित किया गया है। अब इतिहास इस बात का प्रमाण देता है कि चन्द्रगुप्त-२ के समय में ही फाहियान जैसा पहला चीनी यात्री भारत में आया था। तो उसके समय में आने लगे चीन के वस्त्रों का निर्देश भी मैथिली पाठ में प्रविष्ट करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। इस नाटक का एक छोटा सा पाठान्तर भी कब कहाँ दाखिल हुआ है ? वह यदि सोचा जाय तो भी इस नाटक की पाठयात्रा पर निश्चित प्रकाश पड़ सकता है, उसका यह प्रमाण है।

(७)

उपसंहार : कालिदास का काल-निर्धारण करने के लिए सब से पहले तो उनकी कृतिओं का पाठोद्धार होना चाहिए। आज हमारे सामने छपी हुई किताबों में कालिदास के काव्यों का जो पाठ प्रचलित हुआ है उसकी हमने अनजान में ही सर्वांश में मौलिकता मान ली है। बहुशः विद्वज्जगत् इस व्यामोह में फसा हुआ दिख रहा है। प्रकृत में, अभिज्ञानशारकुन्तल का जो पाठ विविध लिपियों में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित पडा है, उनके पाठभेदों का सर्वाङ्गीण एवं गहन अध्ययन अपेक्षित है। दो हजार वर्षो पहले लिखे गये जिस नाटक का पाठ पीढी दर पीढी संचरित होकर, जो हम तक पहुँचा है उसमें स्वाभाविक ही है कि बहुविध प्रदूषण फैला होगा। जिसको बिना पहचाने कोई भी व्यक्ति अमुक एक-दो पाण्डुलिपि को लेकर, कालिदास और विक्रमादित्य की समकालिकता का विवाद नहीं सुलझा सकता है ॥ प्रस्तुत आलेख में, इस नाटक की पाठयात्रा का जो क्रम दिखाया गया है उसके

अनुसन्धान में कहा जा सकता है कि मैथिली वाचना की पाण्डुलिपियों में ही इदं प्रथमतया साहसांक विक्रमादित्य का नाम निर्दिष्ट हुआ है। यह विक्रमादित्य शब्द चन्द्रगुप्त द्वितीय की उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ था। तथा हर्षचरित से प्राप्त हो रहे पूर्वोक्त संदर्भ में देखा जाय तो यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उसको क्यूं ''साहसाङ्क'' और 'रसभावविशेषदीक्षागुरु' भी कहा गया था॥ तथा कालान्तर में जब पाण्डुलिपियों के प्रतिलिपिकर्ताओं ने उस एक साहसाङ्क शब्द को जाने-अनजाने निकाल दिया तो, जिसके फल-स्वरूप कालिदास जनश्रुतिओं में चल रहे (विक्रमी संवत्-प्रवर्तक) उज्जयिनी के विक्रमादित्य के साथ भी जुड गये। इस तरह आकारित हुई है विवाद की पङ्किलभूमि। जिस के कारण ही बडे बडे पुरावेत्ता लोग और जनश्रुतिओ में या परम्परा में अंधश्रद्धा रखनेवाले कालिदासानुरागी लोग आमने सामने खड़े हो गये हैं। लेकिन अब उपर्युक्त विमर्श को जानकार यह विवाद शान्त हो जाना चाहिए। अब यह निश्चित हो गया है कि कालिदास ईसा पूर्व हुए थे और उनके अभिज्ञानशकुन्तल के पाठ का रंगमंचीय नवसंस्करण गुप्तकाल में, चन्द्रगुप्त-२ के समय में, किसी मिथीलावासी पाठशोधकों के किया था॥

सन्दर्भ - ग्रन्थ सूचि

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। सं. एम. आर. काळे प्रका. मोतीलाल बनारसी दा. दिल्ली, १० संस्करण, १९६९, (देवनागरी पाठ)
२. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। (मैथिल-पाठानुगम), सं. रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा १९५४, (शंकर-नरहरि की टीका के साथ)
३. कालिदासः अपनी बात। पं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी. २००४
४. कालिदास ग्रन्थावली, सं. रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी. १९८६, द्वितीय संस्करण
५. कालिदास ग्रन्थावली, सं. सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ, सं. २०१९, तृतीय संस्करण
६. महाकवि कालिदास, (प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय खंड), डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९९८.
७. कालिदास की तिथि-संशुद्धि, डॉ. रामचंद्र तिवारी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८९
८. नाट्यम् (अंक - ७१-७४) सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, (रंगमंच एवं सौंदर्यशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका), सागर विश्वविद्यालय, सागर, २०११-१२

९. नाट्यम् (अंक-७६), सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, (रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका), सागर विश्वविद्यालय, सागर, २०१४
१०. नाट्यम् (अंक-७७), सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, (रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका), सागर विश्वविद्यालय, सागर, २०१५ (प्रकाश्यमान अंक)
११. नाट्यदर्पणम्। रामचन्द्र-गुणचन्द्र-विरचितम्। सं. आचार्य विश्वेशेवर। दिल्ही विश्वविद्यालय, दिल्ही, १९६१
१२. विश्वकवि कालिदास, पं. सूर्यनारायण व्यास, हर्षिता प्रकाशन, दिल्ली, २००४
१३. हर्षचरितम्। सं. पी. वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रण १९८६
१४. हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, द्वितीय संस्करण, १९६४
१५. Complete Collection of the various readings of the Madras Manuscripts, Ed. Foulkes. T., Madras, 1904

—x—

विशेष ज्ञातव्यः- श्री बहादूर चंद छाबरा ने Śakuntala in Śuṅga Sculpture (pub. in Roopa-Lekha, Delhi, Vol. 38, 1969) में एक शुंगकालिका शिल्प की चर्चा की है। जिसमें कहा है कि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के ''अंके निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ०।'' (३-१८) श्लोकोक्त दृश्य का शिल्पांकन उसमें किया गया है। इस पुरातात्त्विक प्रमाण से अब यह निश्चित हो जाता है कि कालिदास ईसा पूर्व की शताब्दि में ही हुए थे॥ (इस शोधलेख को प्राप्त करवाने का दुष्कर कार्य डॉ. हेमन्त दवे, इतिहास-विभाग, सरदार पटेल युनि., वल्लभ विद्यानगर ने किया है। मैं उनका आभारी हूँ॥)

उपक्रम–19

संस्कृत भाषा–साहित्य में अनुसन्धान की समस्यायें, सम्भावनायें और दिशायें

संस्कृत भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में अनुसन्धान को लेकर क्या समस्यायें है, सम्भावनाओं की दृष्टि से आशा और निराशाओं का सम्मिलित चित्र कैसा उभर कर सामने आ रहा है, तथा किस परिप्रेक्ष्य में इनको देखना आवश्यक या अनिवार्य है – यह आज विचारणीय विषय है ॥

संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य न केवल अजर एवं अमर है। वह क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति – शब्दों से जैसा कहा गया है वैसा नित्य नूतन भी है। संस्कृत भाषा में लिखे गये ग्रन्थों में यह शाश्वत सामर्थ्य है कि वह प्रत्येक पाठक को, हाँ प्रत्येक पाठक को – वह चाहे अस्मद् देशीय हो, या विदेशीय हो, सबको एक नया अर्थ देने से कदापि विचलित नहीं हुये हैं। इस सन्दर्भ में यह प्रशिष्ट–साहित्य न केवल कालजयी है, सार्वभौम भी है। अतः संस्कृत साहित्य और उनकी विभिन्न शास्त्र–संपदा अनन्त संभावनाओं से भरी पडी है। सो साल पहेले युरोपिय विद्वान् ओल्डनबर्ग ने कहा है कि Sanskrit is very furtail field for higher reserach. अब वर्तमान भारत में, अनुसन्धान के क्षेत्र में देखाय जाय तो कुछ मूलभूत समस्याओं से आक्रान्त स्थिति हमें निराश करने को उद्यत हुई है। और साथ में विज्ञान और टेकनोलोजी के आविष्कारों से जब पूरा विश्व चिडियों का एक छोटा सा घोंसला बना रहा है तब अनेक नवीन आशाएँ भी उमड़ रही है। संस्कृत विद्या से सम्बद्ध अनुसन्धान–कार्य, जो आशा

और निराशाओं के बीच दोलायमान है उसकी मूलगामी समस्याओं को यदि ठीक तरह से समज लिया जाय, तो बहुविध अनुसन्धानों से विपुल विशुद्ध ज्ञान संपादित किया जा सकता है।

वर्तमान में, साहित्य–क्षेत्र के अनुसन्धानों में प्रायः पुनरुक्ति या पिष्ट–पेशण हो रहा है ऐसा माहोल दिख रहा है। दूसरी ओर, संस्कृत के बहुत कम छात्रों में शास्त्रीय विषयों पर कार्य करने की क्षमता दिखाई देती है। क्योंकि आधुनिक शिक्षाप्रणालि की जो नींव अंग्रेजों ने डाली है उसमें अनुवाद के माध्यम से संस्कृत सिखाई जा रही है। पाणिनि का व्याकरण, जो ''इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपान–पर्वणाम्'' माना गया था उसका प्रचलन आम तौर पर बंध सा हो गया है। परंतु इस समस्या की आलोचना यहाँ अप्रस्तुत है। तथापि इतना तो कहना आवश्यक ही है कि वर्तमान में शिक्षाप्रणालि की जो भी परिस्थिति हो, व्यक्तिगत पुरुषार्थ का मार्ग तो सदैव खुला ही रहता है। अब संस्कृत के किसी भी शोधछात्र के लिए अनुसन्धान कार्य के लिए जो कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुयें है उन पर ''इति दिङ्–न्यायेन'' इस वक्तव्य को केन्द्रित करना चाहुँगा ॥

आदर्श अनुसन्धाता के पास संस्कृत भाषा का व्याकरणमूलक ठोस ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। तत्पश्चात् ही वह अपनी रूचि एवं सामर्थ्य के अनुसार साहित्यिक कृतिओं या शास्त्रग्रन्थों का अभ्यास करके कोई भी अनुसन्धान कर सकता है। संस्कृत भाषा के सुदृढ ज्ञान के अभाव में अनुसन्धाता के हाथ से जो कार्य संपन्न होगा उसकी स्थिति ''विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरः ॥'' जैसी दयनीय एवं हास्यास्पद होगी। किन्तु छात्र के पास यदि इस भाषा का व्याकरणनिष्ठ ज्ञान होगा और थोड़ी सी **कल्पनाशक्ति** होगी तो सही अनुसन्धान का लक्ष्य साकार हो सकता है। क्योंकि संस्कृत ग्रन्थो की विविध व्याख्यायें एवं टीका–टिप्पणादि का विपुल भण्डार आज भी अछुत जैसी उपेक्षित अवस्था में कैद है। अनुसन्धान के लिए उसका आलोडन करना बहुत उपकारक सिद्ध होगा। लेकिन वर्तमान समय में हम उन टीका–साहित्य से विमुख है और शास्त्र–ग्रन्थों का पाङ्क्त अध्ययन करने की हमें फुरसत नहीं है। संस्कृत अनुसन्धान क्षेत्र की यह दूसरी समस्या है। इसके अलावा एक तीसरी समस्या यह भी है कि, हम संस्कृत मेन्युस्क्रीप्ट लाइब्रेरी, सरस्वतीभवन

यानि संस्कृत ग्रन्थभंडार, (पोथीखाना) अथवा जिसको ओरिएन्टल इन्स्टीस्टयूट कहते है, उससे बहुशः अनभिज्ञ है। यदि सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हो तो भी, ऐसे ग्रन्थभंडारों में संगृहीत की गई पाण्डुलिपियाँ हमारे केवल कौतुक और अहोभाव का विषय है। लेकिन उसके साथ हमारी कुछ कर्तव्यतायें भी जुडी है, तथा वही हमारे नवीन ज्ञानोदय की सच्ची दिशा है - यह हम नहीं जानते है। परिणामतः आज चर्वित-चर्वण का आनंद लेना ही हमारे बस की बात बन गई है। संक्षेप में कहे तो १. व्याकरणनिष्ठ संस्कृत भाषा के ज्ञान का अभाव, २. चर्वितचर्वण और ३. पाण्डुलिपियों से अनभिमुख विद्वत्ता - ये तीन मुख्य रूप से संस्कृत अनुसन्धान-क्षेत्र की समस्यायें है ॥

साहित्य के क्षेत्र में जो अनुसन्धान कार्य चल रहा है उसमें प्रायः पुनरुक्ति-प्रपञ्च ही दिखता है। कम्प्युटर और संस्कृत का सम्बन्ध परस्परोकारक है ऐसी बात करनेवाले बहुत मिल जाते हैं। किन्तु शिक्षाक्षेत्र में कार्यरत हम सब लोग अभी तक इन्टरनेट से पूरे जुड़े नहीं है। हम सब के पास शायद अपना इमेल आई-डी भी नहीं है। पूरे भारत में केवल संस्कृत भाषा-विषयक विश्लेषणात्मक अनुसन्धान करने के लिए दिल्ली की जवाहरलाल नहेरु युनिवर्सिटी के प्रॉफे. गिरिशनाथ झा, हैदराबाद युनिवर्सिटी के डॉ. अम्बा कुलकर्णी, आई. आई.टी. मुम्बई के डॉ. मल्हार कुलकर्णी - ये तीन संस्कृतज्ञ ही उद्यत हुए विद्वान् दिख रहे हैं। जब की वेदाङ्गो में चर्चित और प्रातिशाख्यों में बारिकी से निरूपित भाषाविषयक सामग्री का यथार्थ रहस्य प्राप्त करने के लिए आज का कम्प्युटर विज्ञान निश्चित रूप से सहायक एवं उपकारक सिद्ध हो सकता है ॥

अरे, अनुसन्धान के लिए प्राथमिक उपादान सामग्री (जिसको डेटा-बेझ कहते है, उसको) तैयार करने के लिए बहुत कम अध्यापक लोग एम. एस. ऑफिस में इन-बिल्ट दिया हुआ एक्सेल एवं एक्सेस प्रोग्राम भी चलाना जानते है ॥ आधुनिक उपकरणों का विनियोग नहीं करना या वेब-साईट्स पर उपलब्ध जानकारिओं को ठुकराना वह आज के शिक्षित समाज में अपराध माना जाना चाहिये। इस अपराध से बच कर हमें नवशिक्षण प्रणालि हांसिल करना अति-आवश्यक है ॥

वेब-साईट पर ३६५ दिन और २४ घण्टों पर्यन्त निरंतर रूप से कार्यरत ऐसा "भारतीय-विद्वत् परिषत्" (bvparishat@googlegroups.com)

नामक जो मंच है, उसके सदस्य होने से भी शोधकार्य में जो अनायास लाभ होता है - वह कल्पनातीत है। जैसे कि, (१) अनेक संस्कृत ग्रन्थो की स्केन, डीजीटल (पीडीएफ), फाईल कोपी (२) अब तक हुए शोधकार्यों की (पीएच.डी. थीसिसों की) विस्तृत सूचि, (३) राष्ट्रिय परिसंवादो, कार्यशिबिरो की जानकारी, (४) शंका-समाधान के लिए राग-द्वेष से मुक्त केवल वस्तुनिष्ठ विश्वव्यापी चर्चा-विचारणा, तथा सूचनाओं का आदान-प्रदान, (५) देश-विदेश के सभी पाण्डुलिपि संग्रहालयो से प्रसिद्ध हुए डिस्क्रिप्टीव केटलोग की निःशूल्क डिजिटल कोपी इत्यादि इत्यादि आपके सामने एक कल्पवृक्ष या कर्णपिशाची के रूप में उपलब्ध हैं॥ अतः अनुसन्धान करनेवालों को आधे-अधुरे या निःसहाय होने का दैन्यभाव निकालने के लिए उसकी जरूरत है। निराशिर्निममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥

संस्कृत अनुसन्धान के क्षेत्र में जो व्यापक समस्यायें है और बहुविध सम्भावना का जो आशा-निराशा से भरा चित्र है उसका इतना विहंगावलोकन पर्याप्त है। किन्तु मुख्य रूप से किस परिप्रेक्ष्य को लेकर संस्कृत में अनुसन्धान होना **इदं प्रथमतया** अपेक्षित है वही मुख्य रूप से प्रतिपाद्य है ॥

गुजरात राज्य में हो रहे संस्कृतविद्या के परिशीलन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि पुण्यपतन में महाभारत की समीक्षित आवृत्ति तैयार करने का भगीरथकार्य ई.स. १९३३ में हुआ था। और तत्पश्चात् तुरंत इस महाराजा सयाजी राव युनिवर्सिटी ऑफ बडौदा के ओरिएन्टल इन्स्टिटय़ूट के द्वारा वाल्मीकीय रामायण की समीक्षित आवृत्ति बनाने का कार्यारम्भ किया गया था। जो आज श्रद्धेय आवृत्ति के रूप में विश्वमान्य आवृत्ति बन पाई है। यह भी कहेना आवश्यक है कि इस रामायण से भी पहले ई.सन. १९२९ में इसी विश्वविद्यालय से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की समीक्षित आवृत्ति का कार्य भी संपन्न किया गया था। तथा ई. सन १९१२ में अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के प्रथम अधिवेशन में, गुजरात के प्रथम सोनेटकार श्री बलवंतराय ठाकोर ने अभिज्ञानशाकुन्तल के पाठ की दुर्दशा को देख कर उसके समुद्धार की हिमायत की थी ॥

प्राचीन एवं मध्यकालीन भाषाओं के अनुसन्धान-क्षेत्र में सब से पहले समीक्षित आवृत्तिओं का मूल्य ही परखने की आवश्यकता है। शोधकर्ता जब

अनुसन्धान करने के लिए जिन ग्रन्थों का विनियोग करता है, उनका संस्करण श्रद्धेय है या नहीं ? वह अनुपेक्ष्य एवं विचारणीय विषय है । इस संसार में प्रिन्टिंग टेकनोलोजी दो सो साल से अधिक पुरानी नहीं है । मतलब कि मुद्रणकला के अभाव में, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में उपनिबद्ध सभी कृतिओं का पाठ केवल मानवकृत प्रतिलिपिकरण के सहारे ही हम तक पहुँचा है । भूतकाल में एक पाण्डुलिपि को आदर्श बनाके दूसरी पाण्डुलिपि, तथा दूसरी पाण्डुलिपि से तीसरी पाण्डुलिपि बनाई जाती थी । इस तरह प्रतिलिपकरण के सिलसिले में लिपिकारों के अज्ञान एवं अनवधानादि दोषों से कृति का मूल पाठ विचलित होता रहा है । कदाचित् पण्डितंमन्यमान लिपिकार अपनी रुचि या अरुचि के अनुसार कृति के मूल पाठ में तोड़जोड़ भी करता है । प्रक्षेप, संक्षेप एवं परिवर्तन की लीला निरंतर चलती रहती है । अतः प्राचीन एवं मध्यकालीन भाषाओं के क्षेत्र में अनुसन्धान करनेवालों को ऐसे ही ग्रन्थों का विनियोग करना चाहिए कि जिसका पाठ अनेक पाण्डुलिपिओं के परीक्षण के बाद, अमुक पाठान्तर अनुलेखनीय एवं आंतरिक सम्भावनायुक्त है या नहीं ? वह सोचकर तर्कपुरस्सर की उच्चत्तर समीक्षा से निर्धारित किया गया हो । भाषा विषयक प्रत्येक अनुसन्धान में केवल **समीक्षित आवृत्ति** का अधिकृत-पाठ ही श्रद्धेय मानना समुचित होता है ।

अतः जिस लौकिक संस्कृत भाषा-साहित्य का आरंभ दो हजार वर्ष पुराना है, उसका पाठ ही पहले तो अनुसन्धान का विषय है । यदि किसी भी कृति का पाठ समीक्षित नहीं है तो जो भी शोधकर्ता अनालोचित पाठ से निष्कर्ष निकालेगा वह कालान्तर में - भविष्य में - अन्यथा सिद्ध होने की पूरी सम्भावना है । कहने का मतलब यही है कि किसी भी कृति की साहित्यिक आलोचना करने से पहले उसकी पाठालोचना होनी नितान्त अनिवार्य है । इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत दूर जाने कि जरूरत नहीं है । उदाहरण के लिए श्रीमद् भगवद् गीता में से कौन सा तत्त्वदर्शन प्राप्त हो रहा है ? उसकी गवेषणा करने से पहले, यह निश्चित करना आवश्यक है कि आज उपलब्ध हो रहा ७०० श्लोकों का पाठ क्या सर्वथा मौलिक है ? श्रीकृष्ण के श्रीमुख से उच्चरित उपदेश क्या इन्हीं शब्दो में और इन्ही स्वरूप में था ? क्योंकि रणसंग्राम के मैदान में इतना लम्बा और पद्यमय संवाद सम्भव ही नहीं है ।

''श्रीभगवान् उवाच'' की शब्दावलि के साथ प्रस्तुत हो रहा उपदेश तो किसी दूसरे ही व्यास नामधारक व्यक्तिओं ने लिखा है । व्यासजी ने गणेश जी से लिखवाते समय कहा था कि मैं जो कहेता हूँ उसको सोच समझ कर ही लिखना, और बिना समझे कुछ नहीं लिखना । इस मिथक को यदि ठीक तरह से समझा जाय तो ग्रन्थकार और लेखक के बीच ही मौलिक (यानि श्रीकृष्ण द्वारा उच्चरित) पाठ में कुछ मार्मिक बदलाव होने के बीज सुनिहित है वह स्पष्ट हो जाता है । तथा व्यास ने गणेश जी के द्वारा जो गीता लिखवाई थी, वह कालान्तर में व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने सूत-पुराणियों को कही थी, और सूत-पुराणियओं ने जो पाठ धारण किया था वह कथनोपकथन के माध्यम से हम तक पहुँचा है । तथा च, तीन हाथवाले गजानन गणेश से महाभारत लिखवाने का मलतब भी सोचना आवश्यक है । अर्थात् यह मिथक कह रहा है कि महाभारत अनेक-कर्तृक रचना है । दूसरे शब्दों में कहे तो भगवद्-गीता का प्रणयन अनेक कालखण्ड में अनेक व्यक्तिओं के द्वारा किया गया है । ऐसा जब समझ में आता है तब गीता में आये हुए बौद्ध तत्त्वज्ञान के विचारों का क्यों प्रवेश हुआ है ? उसका उत्तर मिल जाता है । अब, ऐसी स्थिति में भगवद्-गीता के तत्त्वदर्शन की गवेषणा का स्वरूप अपने आप में बदल ही जायेगा ॥ सारांश में कहे तो, बिना पाठालोचन किये किसी भी ग्रन्थ की किसी भी तरह कि तात्त्विक या साहित्यिक समीक्षा अधूरी और क्षतिग्रस्त ही सिद्ध होगी ॥

दूसरे उदाहरण के रूप में, पूणें के सम्मानीय प्रॉफे. डॉ. गोविन्द केशव भट के ''विदूषक'' नामक एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ को लेते है । डॉ. भट ने अपने इस ग्रन्थ में संस्कृत नाट्यसाहित्य के सभी विदूषकों की सूक्ष्मेक्षिका से व्यापक आलोचना की है । लेकिन जब संस्कृत के इन नाटकों की पाठालोचना करके किसी नाटक का पाठोद्धार किया जाता है, तब डॉ. भट के निष्कर्षों में सुधार करने की बहुत आवश्यकता है, ऐसा प्रतीत होने लगता है । अनेक शताब्दिओं में विभिन्न सूत्रधारों ने विदूषक की उक्तिओं में परिवर्तन और परिवर्धन करके प्रेक्षकों को हसाने की चेष्टा की है । मूल नाट्यकार के पाठ से हट कर हम जब सूत्रधारों के दिए हुए रंगावृत्ति के पाठ को आधार बनाकर कालिदास के हास्यरसादि का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं तो इससे मूल नाट्यकार का तो सही मूल्यांकन होता ही नहीं है ॥

पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ नाट्यकृतियों का पाठ कदापि सर्वथा मौलिक होता ही नहीं है , क्योंकि नटमण्डलियों के द्वारा वह अपने मूल रूप से बहुशः विचलित हुआ होता है - इस वास्तविक हकीकत को यदि ध्यान लिया जाय तो संस्कृतविद्या से सम्बद्ध अनुसन्धान का प्रथम चरण निश्चित हो जाता है। और दुर्भाग्य से संस्कृत ग्रन्थो का पाठोद्धार दो-चार प्रतिशत से आगे बढा ही नहीं है ॥ महाभारत, रामायण, पंचतंत्र, नाट्यशास्त्रादि जैसे कुछ इनेगीने पाँच-पचास ग्रन्थों की ही समीक्षित आवृत्ति अभी तक सामने आई है । पाठालोचन का यह महनीय कार्य २०वीं शती के आरंभ में शूरु हुआ था । लेकिन २१वी शती के आरंभ तक उसमें बहुत कुछ गणनापात्र प्रगति नहीं हो पाई है । और इसके दौरान भारत सरकार ने जो ''नेशनल मिशन फोर मेन्युस्क्रिप्ट'' (राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, नई दिल्ही) की स्थापना की है उसके कारण देश में आज उपलब्ध हो रही अन्यान्य पाण्डुलिपिओं की अद्यतन जानकारियाँ हमारे सामने आ रही हैं। जैसे कि, जिस महाभारत की १९३३ में ३०० पाण्डुलिपियों के आधार पर समीक्षित आवृत्ति तैयार की गई थी, उसी महाभारत की आज ९००० पाण्डुलिपियों का ब्यौरा वेब-साईट पर सुलभ है। परिणाम यह हुआ है कि जब बहुत सारे ग्रन्थो की समीक्षित आवृत्ति तैयार करने का विशाल कार्य अवशिष्ट ही है तब, नवीन जानकारीओं के आधार पर, हमें महाभारत के प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की गवेषणा के लिए पुनः एकबार कार्यरत होने की भी नौबत बज गई है। सारांश में कहे तो, पाठालोचना के परिप्रेक्ष्य में संस्कृतविद्या के अनुसन्धान का प्रथम चरण निश्चित होने के साथ साथ, टेकनोलोजी के युग में प्रवेश होते ही हमारी अनुसन्धान प्रविधि में भी तत्काल परिवर्तन लाने की आवश्यकता उपस्थित हुई है। पाठालोचना के लिए जो संतुलन-पत्रिकायें बनाने का प्रघात चल रहा है, वह अब कागज जैसे फलक को छोड कर, एक्सेल की शीट पर करना हमें सिखना होगा । जिसका फायदा ऐसे होगा कि जब भी नवीन पाण्डुलिपियाँ मिले तब तब हम हमारा डाटा अधिक समृद्ध, विशुद्ध एवं अद्यतन (अपडेट) कर सकेंगे। इस दृष्टि से अनुसन्धान के प्रथम क्षेत्र के रूप में पाठालोचना का स्थान आज नहीं बदला है, लेकिन उस पाठालोचना की मेथोडोलोजी बदलने की तुरंत आवश्यकता खड़ी हो गई है ॥

तथा पाठालोचना के प्रचलित सिद्धान्तों की भी पुनः समीक्षा अपेक्षित है। पाठालोचना करनेवाले अनेक विद्वान् ऐसे मिलते है कि जो (क) उत्तम पाण्डुलिपि में संचरित हुए पाठ का समादर करना चाहिए ऐसा मानते हैं। (ख) कुछ अन्य विद्वान् ऐसे हैं कि समय की दृष्टि से जो प्राचीनतम पाण्डुलिपि उपलब्ध है, उसके पाठ का ग्रहण करने का कह रहे हैं। अथवा (ग) बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों में जो पाठ प्रसारित हुआ हो उसी पाठ को ही श्रद्धेय मानना चाहिए ऐसा कह रहे हैं। (घ) काशी के सुप्रसिद्ध विद्वन्मूर्धन्य प्रॉ. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदीजी कहते हैं कि वे इकलेक्टीक प्रिन्सीपल का आश्रयण करना समुचित समझते है । जिसमें गुणोपसंहार न्याय से, संदोहन पद्धति या 'मधुकर-वृत्ति' का अनुगमन करते हुए पाण्डुलिपिओं में मिल रहे अनेकविध पाठान्तरों में से जो श्रेष्ठ पाठ हो, उसी का चयन किया जाता है । लेकिन पाठनिर्धारण के इन चारों मार्गों में कुछ क्षतियाँ अन्तर्निहित है ही। इसी लिए उपलब्ध अधिकाधिक पाण्डुलिपिओं का तौलनिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करके, वंशवृक्ष पद्धति का आश्रयण करते हुए पाण्डुलिपियों का आनुवंशिक सम्बन्ध ढूँढ के मूलादर्श प्रति के पाठ को ढूँढना चाहिए, एवं उसकी अधिकृत पाठ के रूप में प्रतिष्ठा करनी चाहिए। यही मार्ग निर्विवाद निष्कर्ष पर हमें पहुँचा सकता है।

डॉ. एस. एम. कत्रे के द्वारा जिसका वर्णन किया गया है वह चतुर्विध सोपानवाली वंशवृक्ष पद्धति का अनुसरण करते समय भी, उसमें भी सुधार की आवश्यकता है । जैसे कि, पाठों के जिन प्रकार प्रॉ. कत्रे जीने बताये हैं, वह तो पाठ के साक्षियों के प्रकार है । अतः पाठों के पंचविध प्रकारों की उपस्थापना नये तरीके से मैंने की है। तद्यथा (१) दृष्ट साहित्य का पाठ, (२) श्रुत साहित्य का पाठ (३) उत्कीर्ण साहित्य का पाठ, (४) प्रोक्त साहित्य का पाठ तथा (५) कृत साहित्य का पाठ । यहाँ संचरित पाठ का प्रकार बदल जाने पर पाठालोचना की प्रविधि भी बदलनी होगी । उपर वर्णित वंशवृक्ष पद्धति तो बहुशः प्रोक्त प्रकार के ग्रन्थों के लिए ही उपयुक्त है, उसका सार्वत्रिक अनुसरण नहीं किया जा सकता है ॥ इस चर्चा का उपसंहार करते हुए इतना जरूर कहना होगा कि पाठ्यग्रन्थ के प्रकारभेद के साथ समस्याभेद होता है, और समस्याभेद होने पर उपायभेद भी करना होगा ॥ संस्कृतविद्या का अनुसन्धानक्षेत्र यह नवीन सहस्राब्दि में दिन-प्रतिदिन विस्तृत होता जा रहा है। लेकिन उसकी नींव में पाठालोचना का मार्ग ही इदं प्रथमतया प्रशस्त करना चाहिए । इति शम् ॥

उपक्रम-20

शोध-प्रविधि तथा पाठालोचन

पाठालोचन में सामग्री-संकलन, सहायक-सामग्री, और संकलित सामग्री की समीक्षा ॥

संस्कृत, पालि एवं प्राकृत ग्रन्थो की पाठालोचना :

कविओं के द्वारा काव्य या नाट्य का सर्जन होने के बाद, मनीषी विवेचक उसकी आलोचना करते हैं । लेकिन ऐसे विवेचनों में प्रायः कुछ संकीर्णता भी दिखाई देती है। अतः तात्त्विक दृष्टि से सोचा जाय तो आलोचना दो तरह की होती है **:** १. साहित्यिक आलोचन (Literary Criticism) एवं २. पाठालोचना (Textual Criticism).

साहित्यिक आलोचना में काव्य के विष्यवस्तु, छन्द, अलंकार, व्यंग्यार्थरूप रसादि की चर्चा की जाती है । परंतु पाठालोचना में, विशेषरूप से जो मध्यकालीन एवं प्राचीन साहित्य है उसकी पाठालोचना में कवि, नाट्यकार का शास्त्रकार / टीकाकारादि की कृति का जो 'पाठ' (text) होता उसकी प्राचीनता तथा मौलिकता के बारे में साशंक बनके विचारणा की जाती है । क्योंकि हस्तलिखित प्रतियाँ, जिसको 'पाण्डुलिपियाँ' कही जाती है, उसमें प्राप्त होनेवाला कृति का लिखित पाठ सर्वथा श्रद्धेय नहीं होता है। अतः संस्कृत, प्राकृत एवं पालि भाषा में उपनिबद्ध ग्रन्थों के (पाण्डुलिपि में मिलनेवाले) लिखितपाठ के लिए ऐसा प्रश्न उठाया जाता है कि – ''क्या इस पाण्डुलिपि में जो पाठ लिखा हुआ मिलता है, वही पाठ यथातथ स्वरूप में मूल कविने

या शास्त्रकारने लिखा था ?'' इस शंका के मूल में ऐसी सम्भावना रही होती है कि – जब मूल ग्रंथकार का स्वहस्त लेख (Autograph) तो मिलता नहीं है, तथा आज जो पाण्डुलिपि हमारे सामने है वह तो प्रतिलिपि की प्रतिलिपि की... प्रतिलिपि है । अतः मूलग्रन्थकार और हमारे बीच में जो अनेक अज्ञात प्रतिलिपि बनानेवाले ज्ञानी-अज्ञानी लिपिकारों की शृंखला है, उन लोगोंने कदाचित् जानबुझकर, या प्रमादवशात् कृति के मूल पाठ में कुछ परिवर्तन, प्रक्षेप या अशुद्धियाँ की होगी तो, हमें कैसे मालुम होगा कि इस पाण्डुलिपि में जो पढा जाता है, वही मूल कवि या शास्त्रकार ने लिखा था ? क्योंकि हम जानते हैं कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जो-जो साहित्यिक रचनाएँ अस्तित्व में आयी थी, वे मौखिक परंपरा से अथवा मानवकृत प्रतिलिपिकरण की परंपरा से (हस्तलिखित प्रतों के माध्यम से) हम तक पहुँची हैं । इस तरह से प्रतिलिपियों में आया हुआ साहित्य प्रायः 'अनियंत्रित प्रतिलिपिकरण द्वारा पेढी दर पेढी वैसे ही उतर आता है । परिणाम स्वरूप मूल कवि के दिवंगत होने के पश्चात् लहियाओं के हाथों से कृति के जो पाठ प्रतिलिपियों में संचरित होता है, उसका पाठ अपने मूल स्वरूप में से विचलित हुआ ही होता है । – यह सर्वस्वीकार्य बनी हुई हकीकत है । इस कारण से, विवेचकों को किसी भी कृति की साहित्यिक दृष्टि से आलोचना करने से पहले, उस कृति के मूल पाठ की सच्चाई के बारे में पाठालोचना (Textual Criticism) करना अनिवार्य है ऐसा प्रतीत होता है ।

हस्तलिखित प्रतों में प्राप्त होनेवाला लिखित पाठ सर्वथा श्रद्धेय नहीं होता है। इस कारण से कोई भी कृति का जो लिखित पाठ प्राप्त होता है, उस विषय में ऐसा प्रश्न ऊठाना जरूरी बनता है कि – इस हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होनेवाला लिखित पाठ क्या मूल कवि ने ही लिखा था, या उसमें अन्य लहियाओं की अशुद्धियाँ भी संमिश्रित हो गई है ? प्रायः ऐसा देखा गया है कि – लिपिकारों ने कवियों एवं शास्त्रकारों के मूलपाठ में परिवर्तन या परिवर्धन करके उसको मूलस्वरूप से विचलित कर दिया होता है। इस कारण से पाण्डुलिपियों में पढे जाने वाले पाठ में कुत्रचित् पूर्वापर विसंगति होती है और बहुविधता होती है। अतः परंपरागत पाठ की मौलिकता का प्रश्न सब से पहले उठाना चाहिए ॥ (समस्या की पहेचान ही अनुसन्धान का उद्गमबिंदु है) ।

पाठ, पाठालोचना :

पाठालोचना की चर्चा करने से पहले पाठ (Text) अर्थात् क्या ? यह जानना जरूरी है : इस विषय में एन्सायक्लोपीडिया ओफ ब्रिटानीका (भाग-२२) में कहा गया है कि –

Text may be either autographs or they may be transmitted texts, these again, being immediate copies of autographs or copies of copies to any degree.

अर्थात् किसी कवि या शास्त्रकार के स्वहस्त से लिखे हुए जो लेख हो उसे ''पाठ'' कहते हैं । तदुपरांत ऐसे लेख प्रतिलिपि की प्रतिलिपि के रूप में संचरित होकर (पीढी दर पीढी) चला आया हो तो उसे भी पाठ कहते है । इस प्रकार किसी भी पाण्डुलिपि में मिलने वाला पाठ प्रथमबार का प्रतिलिपिकरण भी हो सकता है अथवा अनेक प्रतिलिपिकरण के पश्चात् का भी पाठ हो सकता है । भारतीय सन्दर्भ में हमें यह कहना चाहिए कि केवल लिखित पाठ को ही 'पाठ' न कहे, कंठस्थ किये हुए किसी साहित्य को भी, जो कि मौखिक परंपरा द्वारा एक पीढी से दूसरी पीढी के पास पहुँचा हुआ हो तो ऐसे (श्रुत-परंपरा से संचरित हुए) साहित्य को भी 'पाठ' कहेंगे अथवा कहना चाहिए । (उदाहरण स्वरूप वेदमन्त्र तथा भगवान् बुद्ध एवं महावीर की वाणी इत्यादि)

'पाठ' (Text) के रूप में जिन ग्रन्थों की यहाँ चर्चा करना अभिप्रेत है उसमें (१) धार्मिक साहित्य, (२) मानवीय संवेदनाओं को प्रतिबिम्बित करनेवाले काव्य-नाटकादि रूप साहित्यिक रचनाएँ, (३) ज्ञान-विज्ञान की शास्त्रीय चर्चा करनेवाले ग्रन्थ, (४) दानपत्र, (५) ऐतिहासिक मूल्य रखनेवाले सामाजिक एवं राजकीय दस्तावेज और (६) पर्वत या शिलाओं या स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेखों का समावेश होता है ।

पाठसमीक्षा अर्थात् पाठालोचना के विषय में इन्टरनेट पर wikipedia में निम्नानुसार ज्ञान दिया हुआ है :-

Textual Criticism or lower Criticism is a branch of philology or bibliography that is concerned with the identification and removal of earrors from texts and Manuscripts.

अर्थात् पाठालोचन (कि जिसे लोअर क्रीटीसीझम भी कहते है ।) उसे भाषाशास्त्र की एक शाखा मानी जाती है । इस पाठालोचना के द्वारा संचरित श्रुत-पाठ या लिखित (हस्तलिखित) प्रतों के पाठ अथवा उत्कीर्ण लेख में रही अशुद्धिओं एवं त्रुटितांश को पहचान कर उसे दूर की जाती है ।

हस्तलिखित प्रतों की लिखित परंपरा में संचरित हुए किसी भी कृति के दस्तावेजी पाठ का 'मूलस्वरूप' निश्चित करना – ये पाठालोचना करनेवाले विद्वान् व्यक्ति का लक्ष्य होता है । भूतकाल में लिखित, परंतु आज जो कालग्रस्त हो गये है ऐसे मौलिक पाठ के प्रथम प्रतिलिपि में अर्थात् मूलादर्शप्रति के (मूलग्रन्थ से तैयार की गई प्रथम प्रतिलिप – Archetype) के पाठ की खोज करना – यह पाठालोचना का लक्ष्य है । दूसरे शब्दों में कहे तो आज के समय में उपलब्ध होनेवाली प्रतों में पढे जाने वाले पाठ के आधार पर अव्यक्त पुराने समय के अर्थात् मूल ग्रन्थकार के हो सके उतने नजदीक के समय के 'प्राचीनतर पाठ को खोजने का उपक्रम पाठालोचक (पाठसम्पादक) को स्वीकारना है । पाठालोचन की इस प्रक्रिया द्वारा प्राचीनपाठ में से प्राचीनतर-पाठ और प्राचीनतर पाठ में से प्राचीनतम पाठ को अलग करने का प्रयास करना चाहिए। यदि किसी ग्रंथकार का स्वहस्तलेख सदा के लिए कालग्रस्त हो गया होता है, और हमारे पास तो अनेक प्रतिलिपिओं की प्रतिलिपियाँ होते-होते अन्तिम सो दो सो वर्ष पहले लिखित कुछ हस्तप्रत (पाण्डुलिपियाँ ही) उपलब्ध होती है । तब उन उपलब्ध प्रतों के प्राचीनपाठ के आधार पर भूतकाल में पीछे चार कदम चलकर मूल ग्रन्थकार को अभीष्ट हो ऐसा प्राचीनतम पाठ का अनुमान करने के कार्य को 'पाठालोचना' कहते हैं ।

इस प्रकार पाठालोचन अर्थात् पाठ-समीक्षा का जो लक्ष्य है उसको हम इस प्रकार से कह सकते है – हस्तलिखिति प्रतों में संचरित हुए अशुद्ध और प्रक्षिप्तांश से भरे हुए पाठ में से जो मौलिक हो या अधिक श्रद्धेय तथा प्राचीनतर या प्राचीनतम हो ऐसे पाठों की गवेषणा करके, उसे शुद्ध कर के पुनः प्रतिष्ठित करना वो पाठालोचना का लक्ष्य हैं । यहाँ 'मौलिकपाठ' शब्द से मूल ग्रन्थकार को अभीष्ट हो ऐसे पाठ का अनुसन्धान करना अभिप्रेत है।

समीक्षित पाठ-सम्पादन की व्याख्या :

समीक्षित पाठसम्पादन तैयार करने की प्रक्रिया में सम्पादक को क्या

क्या कार्य करना है - यह सोचा जाय तो उसे सबसे पहले एक ही कृति की उपलब्ध होनेवाली अनेक पाण्डुलिपियों को इकठ्ठा करके ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से अभ्यास करना चाहिये । तत्पश्चात् उसमें से प्राचीनतर या प्राचीनतम दिखनेवाले जो पाठ होते हैं उसे अलग कर उसमें प्रविष्ट हुई अशुद्धिओं को दूर करना चाहिये । कृति के कोई एक ही शब्द के स्थान पर यदि अपपाठ या पाठभेद (पाठान्तर) प्राप्त होते हो तो उसमें ''अनुलखेनीय संभावना' वाला पाठ कौन सा ? और ''आन्तरिक'' संभावनावाला पाठान्तर कौन सा है ? उसका विवेकपूर्ण विचार कर, मौलिक या अधिक श्रद्धेय हो ऐसे किसी एक पाठ का स्वीकार करना होता है । तथा परंपरित पाठों में जहाँ-जहाँ ''प्रक्षेप' (पिछे से होनेवाली बढोतरी) भी पहेचान कर, उसे उठा कर परिशिष्टों में रख देना चाहिये । अर्थात् आधुनिक पाठ-सम्पादक की जो जिम्मेदारी है वह इस तरह की है :

(१) अनेक पाठान्तरों में से कोई एक मौलिक या अधिक श्रद्धेय प्रतीत होनेवाले पाठान्तर का स्वीकार करना, (२) त्रुटितांश का पुनर्गठन करना, तथा (३) अशुद्ध पाठ का परिमार्जन करना, एवं (४) कालान्तर में प्रविष्ट हुए प्रक्षेपों को दूर करना, यह 'समीक्षित पाठसम्पादन' की मुख्य कर्तव्यता है । पाठसम्पादक का जो एक कर्तव्य बताया गया है कि हस्तप्रतो में जो पाठ्यांश अवाच्य हो या खण्डित (त्रुटित) हो उन स्थानों पर खण्डित या अवाच्य अंश का 'पुनर्गठन' भी करना चाहिये - इस के लिये सम्पादक के पास बहुश्रुतता की अपेक्षा है । जब कोई कृति की एक ही हस्तलिखित प्रति मिलती हो तो वहाँ अशुद्धियों की जगह पर व्याकरण-संमत और प्रकरणसंगति अनुसार शुद्धपाठ सूचित करना चाहिये ।

जब पाठसम्पादक उपर्युक्त मुख्य चार कार्य कर ले उसके पश्चात् उसके समीक्षित पाठ का प्रकाशन करते समय समीक्षणीय-सामग्री तैयार कर के वाचक को सुलभ कर देना होता है । उसमें मुख्यत :

(१) पाठसम्पादक द्वारा एकत्र की गई हस्तलिखितप्रतों का विस्तृत विवरण प्रस्तावना में देना चाहिये, (२) जिस पाठ को श्रद्धेय मान कर, मूलपाठ के रूप में पुनःप्रतिष्ठित किया जाता है, तब उसीके नीचे जिन पाठान्तरों को अस्वीकार्य मानें गये हैं, उन सभी का पाद-टिप्पणी में स्पष्ट उल्लेख भी करना

होता है । तथा (३) कृति का पूरा पाठ समाप्त होने के बाद, उसके पीछे अलग-अलग परिशिष्टों में - (क) अस्वीकार्य घोषित किये गये कृति का प्रक्षिप्त अंश और (ख) अलग-अलग प्रकार की शब्दसूचियों को तैयार करके उसमें जोडना होता है । पाण्डुलिपियों की सहायता से इस प्रकार से तैयार की गई किसी भी कृति की आवृत्ति को ''समीक्षित पाठ सम्पादन'' (Critical Text-Editing) कहते हैं ॥

सामग्री - संकलन :

संस्कृत ग्रन्थों की पाठालोचन में सबसे पहले सामग्री का संकलन करना जरूरी है । हमारे देश में जैसे प्रिन्टेड पुस्तकों के विविध ग्रन्थालय होते हैं वैसे हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के भी अलग से ग्रन्थागार / ग्रन्थभण्डार होते हैं । जिसको अंग्रेजी में Manuscript Library कहते हैं । ऐसे ग्रन्थभण्डार देश-विदेश के विभिन्न स्थानों में - पूणें, चेन्नाई, मैसुर, जोधपुर, बीकानेर, होंशियारपुर, दरभंगा, पाटन, वडोदरा, मुंबई, कोलकाता, लंडन, जर्मनी के बॉन, अमरिका, में हार्वर्ड इत्यादि शहरों में - आये हुए हैं । वहाँ से नीकले हुए सूचिपत्रों को (Descriptive Catalogues of Sanskrit Manuscripts) देख कर कहाँ कौन से ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सुरक्षित है, उसकी जानकारी प्राप्त करके पत्राचार से उस ग्रन्थ की फोटोकॉपी या माईक्रोफिल्म या स्केन कॉपी मंगवानी होती है । कदाचित् ऐसी सामग्री पुराने मठ-मन्दिरों, राजघरानों में, आश्रमों में या निजी संग्रहालयों में एवं web-sites पर भी उपलब्ध हो सकती हैं ।

सहायक सामग्री :

पाठालोचन के लिए केवल पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि (फोटोकोपीयाँ) ही एकत्र करना पर्याप्त नहीं है । क्योंकि आज उपलब्ध होनेवाली पाण्डुलिपियाँ सो-दोसो साल से अधिक पुरानी नहीं होती हैं । अतः हमें प्राचीन से प्राचीनतर पाठ ढूँढने के लिए कोशिश अवश्य करनी चाहिये । और यह सम्भव है । क्योंकि हमारे सभी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ / कृतियाँ ऐसी है कि उन ग्रन्थों के उपर किसी ने किसी प्राचीन काल के टीकाकार ने या भाष्यकार ने टीका लिखी होती है । उसी तरह से, उन सभी ग्रन्थों में विचार-मौक्तिक को उदाहरण के रूप में किसी दूसरे ग्रन्थकार ने भी अपने ग्रन्थ में दिये होते हैं । तो पाठालोचक के लिये ऐसी आनुषंगिक सामग्री को भी एकत्र करना आवश्यक होता है ।

इसी आनुषंगिक सामग्री को ही ''सहायक-सामग्री'' कहते है । मूलग्रन्थ की पाण्डुलिपियों के साथ साथ यदि हमारे पास ऐसी टीका या उद्धरणादि के रूप में किसी दूसरे प्राचीन काल के ग्रन्थकार ने दी हुई सहायक सामग्री भी है तो वह पाण्डुलिपियों की अपेक्षा से अधिक प्राचीनतर एवं श्रद्धेय मानी जाती है ।

सहायक सामग्री के रूप में १. टीकायें, २. भाष्य, ३. वार्तिक, ४. सुभाषित-संग्रहो, ५. अनुकरण के रूप में लिखे गये प्रतिकाव्य, ६. बडे ग्रन्थो का संक्षेप ७. काव्य का नाट्य में रूपान्तर, ८. या काव्य के चम्पू में रूपान्तरण ९. पंचतन्त्र जैसे कथा-संग्रहों के प्राचीन काल में हुए अनेक भाषान्तर तथा १०. महाकाव्य-नाटकादि के श्लोकों का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो में अमुक अमुक अलंकार के उदाहरण के रूप में जो उद्धरण मिलते हैं वह सभी का समावेश होता है । ऐसी सहायक-सामग्री में जो आंशिक रूप से उद्धरण मिलते है उसकी सहायता से भी प्राचीन से प्राचीनतर काल में (मूल) पाठ क्या रहा होगा उसकी जानकारी मिलती है और पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ की प्रामाणिकता निश्चित की जाती है ॥

संकलित सामग्री की समीक्षा (अर्थात् पाठालोचना)

जिस कृति की आप पाठालोचना करना चाहते हो उसकी अधिक से अधिक पाण्डुलिपियाँ एकत्र करने में ध्यानार्ह बात यह है कि १. जो समय की दृष्टि से पुरानी हो, एवं २. देश के प्राय: सभी प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करनेवाली तथा ३. विभिन्न लिपियाँ में लिखी गई हो ऐसी पाण्डुलिपियों को हमें प्राप्त करनी चाहिये । उसके बाद, इन उपलब्ध की गई पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ की मौलिकता निश्चित करने के लिये जो पाठालोचना की जाती है उसकी प्रविधि निम्नोक्त है :

पाठालोचना के चार सोपान है :

१. अनुसन्धान (Hueristics), २. संशोधन (Recensio), ३. संस्करण (Emendation), एवं ४. उच्चत्तर समीक्षा (Higher Criticism) ॥ अनुसन्धान नामक प्रथम सोपान में अभीष्ट कृति की यथा सम्भव विविध पाण्डुलिपियाँ एकत्र करनी होती हैं । तथा उसीके साथ में उसी कृति की जो भी सहायक-

सामग्री मिल सकती हो उसे भी एकत्र कर लेनी चाहिए । अब संकलित-सामग्री का अर्थात् पाण्डुलिपियों का विश्लेषण करना है । इसके लिये एक बडे कागज पर सन्तुलन-पत्रिका (Collation-Sheet) बनानी है । संतुलन-पत्रिकाओं में दोनों साईड पर एक एक मार्जिन (हाँसिया) रखा जाता है और बीच में छोटे छोटे समचोरस कोष्टकों में एक-एक वर्ण लिखे जाते हैं । यानि कृति की पूरी पंक्ति को एक एक अक्षर में विभक्त करके, उस संतुलन-पत्रिका पर लिखे जाते है। सब से पहले प्रथम पंक्ति में अभीष्ट कृति का बहुप्रचलित हो ऐसा पाठ (उदाहरण के रूप में गीता प्रेस, गोरखपुर से नीकली आवृत्ति में जो पाठ छपा हो उसे) लिखा जाता है । इस तरह तुलना के लिये **एक पाठ को आधार रूप में** पहले स्थापित करके, उसके नीचे नीचे की पंक्ति में अलग अलग पाण्डुलिपियों में पढे जानेवाले पाठान्तरों को एवं अशुद्ध पाठों को लिख देना है । ऐसा करने से एक ही पन्ने पर उपलब्ध की गई सभी पाण्डुलिपियों में संचरित हुए जो जो समान या विषम पाठ / पाठान्तर होंगे उसका ब्यौरा पाठसंपादक के सामने आ जायेंगे । इस तरह उपलब्ध की गई सभी पाण्डुलिपियाँ के विविध पाठों का चित्र युगपत् हमारे सामने आ जाता है । आधुनिक कम्प्युटर के युग में MS office के Excel-sheet का उपयोग करना अतीव उपकारक सिद्ध होगा । अब ऐसी पाण्डुलिपियों के विविध पाठों के साम्य-वैषम्य का अभ्यास शूरु किया जाता है । ऐसे साम्य-वैषम्य के आधार पर पाण्डुलिपियों के अन्तर्निहित आनुवंशिक सम्बन्धों का चित्र हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है । अब पाण्डुलिपियों के ऐसे पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर पाण्डुलिपियों का ''वंशवृक्ष'' निश्चित किया जाता है । और कृति का पाठ कितने प्रवाहों में (कितने प्रकार की शाखाओं में अर्थात् वाचनाओं में) प्रवाहित हुआ है यह हम जान सकते हैं ।

अब पाठालोचना के ''संशोधन'' नामक द्वितीय सोपान का कार्य शूरु होता है । उसमें अभीष्ट कृति की पाण्डुलिपियों के वंशवृक्ष (=शाखाभेद) के आधार पर, उसी कृति का पाठ जितने प्रवाहों में प्रवहमान दिखाई दे रहा हो उतनी उस कृति की वाचनायें (=शाखाएँ) है - ऐसा निर्णय किया जाता है। उदाहरण के रूप में हमारे महाभारत ग्रंथ की दो वाचनायें है - १. उत्तर-भारतीय एवं २. दक्षिण-भारतीय - इन दोनों वाचनाओं में से उत्तर भारतीय वाचना

में महाभारत का लघुपाठ प्रवहमान है, जब कि दक्षिणभारतीय वाचना में महाभारत का अनेक प्रक्षेपोंवाला बृहत्पाठ प्रवहमान है ऐसा डॉ. वी. एस. सुकथंकरजी ने कहा है । इस वाचना-निर्धारण के बाद, उनमें से कौन सी वाचना अधिक श्रद्धेय है - उसका निर्णय करके, उसी वाचना के पाठ को ''समीक्षित पाठ'' के रूप में स्वीकारने का निश्चित किया जाता है ।

परंतु इससे पहले यहाँ दोनों वाचनाओं की उपवाचनाओं का तुलनात्मक अभ्यास करके, अर्थात् वंशज पाण्डुलिपियों के साम्य-वैषम्य को देख कर उनकी पूर्वज पाण्डुलिपियों के पाठ का अनुमान भी लगाया जाता है । जिसके फल स्वरूप हम मूल ग्रन्थ की जो अतीत में प्रथम प्रतिलिपि बनी होगी - उसके प्राचीनतम पाठ का भी निर्णय कर सकते है । ऐसी प्रथम प्रतिलिपि को ही, अन्य लिपिकारों ने अपनी समक्ष रखके, (उसे आदर्श बना के) कालान्तर में अन्य प्रतिलिपियाँ बनाई होती है । उस प्रथम अनुमानित प्रतिलिपि को हम मूलादर्श प्रति (Archetype) कहते हैं । इस तरह से इस द्वितीय संशोधन नामक द्वितीय सोपान में वाचना-निर्धारण के साथ साथ ''मूलादर्श प्रति'' के पाठ का भी अनुमान लगाया जाता है ॥

पाठालोचना के तृतीय सोपान को ''संस्करण'' कहा गया है । यहाँ पर जिस वाचना के पाठ को अधिक श्रद्धेय मानी गई हो उसके पाठ का शुद्धीकरण करने के बाद, उसे मूल (या श्रद्धेय) पाठ के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है । तथा दूसरी वाचना के जो जो पाठान्तर अस्वीकार्य लगे हो उसको पादटिप्पणी में रखे जाते है । यहाँ टीकाकारों के द्वारा जिस पाठ का समादर किया गया हो उसका भी विनियोग किया जाता है, या वह दूसरी परंपरा का यदि समर्थक होता है तो उसे भी पादटिप्पणी में निर्दिष्ट किया जाता है ।

कदाचित् कोई ग्रन्थ की एक ही पाण्डुलिपि मिलती हो तो उसके पाठ-सम्पादन में संतुलन-पत्रिका बनाने का सवाल ही नहीं उठता है, और वंशवृक्ष सोचने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है । तथा वहाँ कृति के किसी एक शब्द के स्थान पर पाठभेद या पाठान्तर मिलने का अवकाश ही नहीं होता है । वहाँ तो केवल अशुद्ध पाठ को पहेचान कर, उस अशुद्ध पाठ की बगल में ही, विविध कोष्ठको के अंदर, शुद्ध / व्याकरण - सम्मत / छन्दो-बंधारण के अनुकूल जो पाठ हो सकता है उसे सूचित करना होता है । इसी को

पाठसुधार एवं संस्करण का कार्य कहा जाता है ।

इस तरह से अनेक पाण्डुलिपियों को देख कर, अधिक प्राचीनतर एवं श्रद्धेय वाचना का निर्धारण करके जो पाठ का सम्पादन किया जाता है उसे ''समीक्षित पाठ सम्पादन'' कहते हैं । ऐसे समीक्षित पाठ-सम्पादन में अनेकानेक पाण्डुलिपियों में मिलनेवाले बहुविध पाठान्तरों को भी पादटिप्पणी में रखे जाते है । ताकि कोई भी पाठक अपनी दृष्टि से भी, पाठ-सम्पादक के द्वारा अस्वीकार्य माने गये पाठान्तरों में से अपनी मति के अनुसार दूसरे कोई पाठ की भी यथार्थता सोच सकता है ॥ - यहाँ निम्नस्तरी पाठालोचना का कार्य पूरा होता है ।

पाठालोचना के चतुर्थ सोपान को ''उच्चतर समीक्षा'' कहते है । यहाँ पर मूल ग्रन्थ के आधारभूत स्रोतों का विश्लेषण करना होता है । या रामायण-महाभारत, या पुराणादि जैसे अनेक-कर्तृक ग्रन्थो के विविध अंशो के विभिन्न रचनाकाल को पहेचानने की कोशिश की जाती है । उदाहरण के रूप में -

आज के समय में प्राप्त होनेवाली श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में ७०० (सात सौ) श्लोक है, परंतु उपलब्ध अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर समीक्षित पाठसम्पादन तैयार हो जाने के बाद, उसके मूल पाठ के बारे में प्रश्न उठाया जा सकता है कि श्रीकृष्ण का मूलभूत वक्तव्य क्या रहा होगा । क्योंकि किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति को ऐसा प्रश्न होता है कि - क्या कुरुक्षेत्र के मैदान में कृष्ण-अर्जुन के बीच के संवाद छन्दोबद्ध श्लोक में हुए होगे; या तो ये संवाद गद्य वाक्यों में हुए होंगे ? और युद्ध करने के लिए तैयार दोनों सेनाओं के बीच में ७०० श्लोकों को बोलने का इतना लम्बा समय प्राप्त हुआ होगा ? तो ये सत्य है कि इन प्रश्नों के विचार के पश्चात् तुरंत ही सीधा अनुमान ऐसा करना पड़ता है कि आज के समय में प्राप्त होनेवाली भगवद्‌गीता के ७०० श्लोको के मूल ''पाठ'' में युद्ध भूमि पर जैसा और जितना कहा गया होगा उतना वैसे का वैसे - यथावत् स्वरूप में हम तक नहीं पहुँचा है । तो फिर 'मूल गीता' के उपदेश कैसे और कितने होंगे ? - यह उच्चतर समीक्षा का कार्यक्षेत्र बनता है । भगवद्‌गीता में उपनिषदों के कितने विचार कब प्रविष्ट हुये, या तो बौद्धों के कितने विचारों से गीता प्रभावित हुई है - इत्यादि प्रश्नों का उत्तर ढूँढना चाहिये । जिस से विविध भूगोल और विविध कालखण्ड में

भगवद्गीता का कलेवर कैसे क्रमशः वृद्धिंगत होता गया है - वह हम जान सकते है । यह उच्चत्तर समीक्षा का कार्यक्षेत्र है ॥

इस सन्दर्भ में ओल्डनबर्ग का एक वाक्य अत्र स्मरणीय है। Sanskrit is a very fertile field for higher Research अर्थात् संस्कृतविद्या में संशोधन के अनन्त अवकाश है। इस विद्या के विषय में किये हुए यत्न कदापि निष्फल नहीं होतें ॥

—x—